॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥

॥ भगवन् श्री निम्बार्काचार्याय नमः ॥

श्री निम्बार्क ज्ञान कोश

(श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्त , उपासना , साहित्य, इतिहास,समाज को देन एवं साधकों की जिज्ञासा समाधान कोश)

संस्थापना–श्री निम्बार्क जयन्ति वि.स. 2073 तदनुसार 14 नवम्बर 2016

संचालक मण्डल - श्री जयकिशोर शरण जी

श्री हरिदास जी (9997374430)

डा.राधाकान्त वत्स(9268889017)

❀ श्रीनिकुञ्जविहारिणे नमः ❀

❀ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य महामुनीन्द्राय नमः ❀

निखिलशास्त्रपारावारीणेन--

श्री१०८पुरुषोत्तमाचार्येण प्रणीतः

वेदान्त-रत्नमञ्जूषाख्यो ग्रन्थः

श्री पं० अमोलकरामशास्त्रिसम्पादित

कुञ्चिकाख्यटीकासमलंकृतः

भाषानुवादसहितश्च

स च

व्यावर नगर वास्तव्य जोशीत्युपाह्वविद्यानिधि—

भूतपूर्व प्रोफेसर श्रीरामप्रतापशास्त्रिविद्याभूषण

महोदयैः श्रीवृन्दावनस्थाग्रवालमुद्रणालये मुद्रापयित्वा प्रकाशितः

प्रथमावृत्तिः ५०..

विक्रम सं० १९९८

रसिक-शिरोमणि श्री१०८श्रीस्वामी हरिदासाचार्य

सं० ४६१

मूल्यं भगवद्भक्तिः

॥ श्रीसर्वेश्वरो विजयतेतराम् ॥

प्राक्कथन
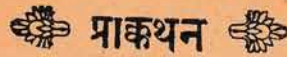
मञ्जुलवञ्जुलपुञ्जे , कुञ्जे घनाङ्ग – संलीना ।
तिरयतु सततं बाधां तडिदम्बरशोभिता राधा ॥

श्रीपुरुषोत्तमाचार्य प्रणीत वेदान्त रत्न-मञ्जूषा अपने ढङ्का अनुपम ग्रन्थ है। इसके भिन्न-भिन्न चार कोष्ठों में उपास्य, उपासक, उपासना और प्रेमलक्षणा (भक्ति) विरोधीस्वरूप नामक पांचअर्थोंका विशद निरूपण कियागया है। वेदान्त जैसेदुरूह तत्त्वों का सरल एवं संक्षिप्त रूप से जैसा इसमें निरूपण किया गया है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। इसी कारण यह ग्रन्थ वाराणसेय राजकीय संस्कृत परीक्षा के निम्बार्क-वेदान्त की शास्त्री परीक्षा में पाठय रूपसे निर्द्धारित किया गया है। इसपर किसी प्राचीन टीका के उपलब्ध न होने के कारण पाठकों को, प्रायः उनस्थलों पर जहाँ कि साम्प्रदायिक रहस्य एवं सिद्धान्त का विवेचन किया गया है, बड़ी असुविधा होती थी। अतः निम्बार्क दर्शनके प्रकाण्डविद्वान् वाग्देवतावतार उपनिषद्भाष्यकार गुरुवर श्री १०८ अमोलकराम जी शास्त्री तर्कतीर्थ, वेदान्त रत्न ने इस ग्रन्थरत्न पर "कुञ्चिका" नाम की एक विस्तृत टीका लिखकर इसको सर्व साधारणोपयोगी बनाने का श्लाघ्य यत्न किया। श्री शास्त्री जी ने निम्बार्क सम्प्रदाय की सेवा में जो अमर कृतियाँ प्रस्तुत की हैं, उनमें "अभ्यासगिरि-वज्र" "वेदान्त कौस्तुभप्रभा" "वेदान्त तत्त्वबोध" "एकादशोपनिषद्" "वेदान्त रत्नमाला" "वेदान्त रत्न मजूंषा" आदि ग्रन्थों पर विद्वत्तापरिपूर्ण विस्तृत टीकाऐं तथा "आत्म-परमात्म-तत्त्वादर्श" नामक स्वतन्त्र रूपसे वेदान्त विषयक तत्त्वों का विशदगवेषणात्मक ग्रन्थ निम्बार्क सम्प्रदाय के लिये आपकी अनुपम देन हैं। इन के अतिरिक्त श्रीस्वामी हरिदासजी के अष्टादश पदोंकी टीका एवं आचार्य स्तवमाला आदि ग्रन्थभी आपके प्रणीतहैं। श्रीशास्त्रीजीकाध्यान प्रस्तुतग्रन्थपरअपने अन्यान्यग्रन्थोंको पूर्ण करनेपर हुआ और उन्होंने उपनिषदों के साथ 'मंजूषापर भी 'कुञ्चिका' लिखनी प्रारम्भ की। ग्रन्थ की उपादेयता को लक्ष्य करते हुए कतिपय महात्माओं के आग्रह पर मञ्जूषा के विषय को सर्व साधारणोंपयोगी बनाने के लिये श्री शास्त्री जी ने इसकी एक हिन्दी टीका लिखना निश्चित किया उसका कुछ भाग पं० राधिकादासजीने शेष (प्र० कोष्ठ) का शास्त्री जी ने प्रणयन किया। तथा अवशिष्टांशका भार श्रीयुत विद्याभूषण

सांख्यतीर्थ श्री व्रजवल्लभ शरण जी वेदान्ताचार्य को सौंपा और उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ भाषा टीका का प्रणयन किया। परम खेद का विषय है कि श्री शास्त्री जी मञ्जूषापर अपनी कुञ्जिका को अपूर्ण ही छोड़कर (चतुर्थ कोष्ठ के प्रारम्भतक ही टीका लिखकर) श्री प्रियाप्रीतम जू के नित्य निकुञ्ज लीला धाम में प्रवेश कर गये। श्री शास्त्री जी का दृश्य जगत् से सम्बन्धविच्छेद होंने पर निम्बार्क सम्प्रदाय की जो क्षति हुई उसकी पूर्ति होंना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का भार श्री शास्त्रीजी के समक्ष में ही पं० श्री बिहारी दास जी त्यागी ने लेलिया था और प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया था। श्री शास्त्री जी के बीच में ही तिरोहित हो जानेके उपरान्त इसके सम्पादन का भार श्रीत्यागी जी ने मुझे सौंपा तथा अवशिष्टांश पर "कुञ्जिका" को पूर्ण करने के लिये प्रोत्साहित किया। उनके आग्रह से विवश होकर मैंने आगे को टीका लिखनी प्रारम्भ की। अभी मेरी बनाई टीका के ५-६ पृष्ठ मुद्रित हुए होंगे कि मैं अस्वस्थ हो गया और उस अवस्था में मुझें टीका का कार्य स्थगित करना पड़ा। मञ्जूषा श्री विद्याभूषण जी की देख रेख में बिना कुञ्जिका के ही छपती रही और अब वह श्री बिहारी दास त्यागी जी के पुरुषार्थ के फलस्वरूप मुद्रित होकर आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत है।

श्री त्यागी जी वर्त्तमान काल में जिन उदात्त भावनाओं से निम्बार्क सम्प्रदाय की सेवा कर रहे हैं वह सर्वथा प्रशंसनीय ही नहीं अपितु अनुकरणीय हैं। आपका जीवन एक आदर्श जीवन हैं। निरन्तर श्रीमत् भगवत् भागवत सेवा में रहते हुए आप वास्तव में अपने 'त्यागी" नाम को चरितार्थ कर रहे हैं। आपने सम्प्रदाय की समुन्नति एवं प्रचार के लिये श्री वृन्दावन, गोवर्द्धन, वरसाने आदि विविध स्थलों में अनेक स्थान बनाये हैं। उन स्थानों में अनेक उच्चकोटिके महात्मा श्री प्रिया प्रीतम जू का ध्यान करते हुए अपने जीवन को सफलकर रहे हैं। श्री वृन्दावनधाम में श्रीनिम्बार्क महाविद्यालय तथा अ० भा० नि० महासभा के कार्यालय के लिये आवश्यकता समझ कर महासभा के प्र० मन्त्री ब्र० नन्दकुमार शरण जी को मैनेजिङ्ग प्रस्टी के साथ साम्प्रदायिक ६ महानुभावों का ट्रस्ट बनाकर महासभा के लिये श्रीराधा व्रजचन्द्र बिहारी जी का मन्दिर प्रदान कर दिया—जिसकी व्यवस्था ब्रह्मचारी जी के उद्योग से सुव्यस्थित रूप से संचालित हो रही है। आपकी यह उदारता महासभा के इतिहास में सर्वदा स्वर्णाक्षरों में अङ्कित रहेगी।

भगवान् श्री सर्वेश्वर जी से प्रार्थना है कि वे आपको अधिकाधिक उन्नति एवं गौरव प्रदान करें तथा आपकी इस यशोविभूति को सर्वदा 'मञ्जूषा' में अक्षुण्ण बनाये रक्खें। एवं विज्ञपाठकों के अन्तः करण को समुल्लसित करती हुई यह मञ्जूषा उनके हृदयप्रांगण में प्रेमलक्षणाभक्ति का संचार करे यही मेरी एक मात्र कामना है।

श्रीनिम्बार्क महाविद्यालय वृन्दावन,
विजया दशमी सं० २००४।

चरणदत्त मिश्र, शास्त्री,
(व्याकरणाचार्य), काव्यतीर्थ।

× श्रीसर्वेश्वरो जयति ×

॥ श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः ॥

❋ भूमिका ❋

श्रीसर्वेश्वर प्रभु की पूर्ण कृपा के विना प्राणियों को उनकी अलौकिक महिमा एवं स्वरूप, गुण, शक्ति आदि का ज्ञान होना अशक्य है और ज्ञान हुए विना सांसारिक दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता, अतः मुमुक्षु जनों के कल्याणार्थ स्वयं प्रभु ही अंश आवेश आदि द्वारा आचार्य रूप से अवतीर्ण होकर अपने अनन्य भक्तों को ज्ञान प्रदानकर स्व साक्षात् कार द्वारा संसार सिन्धु से पार करते हैं, ऐसे आचार्य "आचार्यं मां विजानीयात्" भाग० ।" इत्यादि भगवद्वचनों के अनुसार भगवत्स्वरूप ही होते हैं। उन भगवदवतार आचार्यों में श्रीनिम्बार्क भगवान् एक परम प्राचीन एवं विश्ववंद्य आचार्य माने जाते हैं।

"संभवामि युगे युगे" इस भगवत् प्रतिज्ञा के अनुसार जैसे प्रतियुग में भगवान् का मर्यादा रक्षक अवतार होता है वैसेही उन्हीं प्रभु का सत्पथ प्रदर्शक आचार्य रूप अवतार भी प्रत्येक युग में होता है।

यद्यपि कृत त्रेता, द्वापर आदि प्रत्येक युग में श्रीनिम्बार्क आचार्य के प्रादुर्भाव होने के कई एक वैदिक एवं पौराणिक प्रमाण मिल रहे हैं। तथापि कई एक आधुनिक इतिहास लेखकों ने साम्प्रदायिक रहस्य से अनभिज्ञ होने के कारण आपके प्रादुर्भाव का समय-अनिश्चित और किसी ने ११ वीं शताब्दी किसी ने १२ वीं एवं किसी-किसी ने तो ई० १५ वीं १६ वींशताब्दी तक भी श्रीनिम्बार्क का प्रादुर्भाव समय लिखडाला है, इन लेखकों की कल्पनाओं के आलोचक विद्वानों का मन्तव्य प्राचीनता की ओर जा रहा है कि आचार्य श्रीनिम्बार्क श्रीशंकराचार्य से प्राचीन है।

यद्यपि श्री शंकराचार्य का समय ई० ८ वीं शताब्दी निश्चितसा हो चुका है, तथापि कुछ अन्वेषी लेखक विक्रम सम्वत् से भी ३००-४०० वर्ष पूर्व श्रीशंकराचार्य का समय सिद्ध कर रहे हैं।*

---

*गीता प्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित ११ वां वर्ष के ८ वां अंक पृ० ११८८ कल्याण (मासिक पत्र) वि० सं० १९९३ में पं० इन्द्र नारायण द्विवेदी का लेख देखना चाहिये।

अस्तु, हमें तो यहाँ इतना ही लिखना है कि श्रीनिम्बार्काचार्य का समय साम्प्रदायिक इतिहास के अनुसार द्वापर का अन्त अ कलि युग का आरम्भ काल है. इस विषय की विस्तृत आलोचना पाठक जन हमारी लिखी हुई ' समय समीक्षा"में पढ़ें !

ग्रन्थकार परिचय

उन्हीं श्रीनिम्बार्काचार्य की परम्परा में चतुर्थ आचार्य वेदान्त-रत्नमंजूषाकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्य हैं, आपकी जीवनी एवं समय के सम्बन्ध में किसी भी ऐतिहासिक विद्वान ने लेखनी नहीं बढ़ाई है—केवल साम्प्रदायिक विद्वानों ने ही जो कुछ लिखा है, वही उपलब्ध हो रहा है ।

यह सभी विद्वान् स्वीकार कर रहे हैं कि भारत का प्राचीन इतिहास विशद रूप से शृंखला बद्ध नहीं मिलता -जो कि दृष्ट प्रमाणों के साथ मेल रख सकें. एतदर्थ प्रामाणिक सामग्री की विशेष आवश्यकता है। प्राचीन इतिहासोपयोगी-प्रामाणिक सामग्री चार विभागों में विभक्त की जाती है, १ प्राचीन परम्पारा। २ मेगस्थनीज फाहियान आदि विदेशी यात्रियों द्वारा उनकी भाषा में लिखे हुए प्रवास वर्णन। ३ प्राचीन शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के आदि। ४ इतिहास के ढंग पर लिखे हुए राजतरंगणी आदिक संस्कृत ग्रन्थ। इन सामग्रियों में से किसी एक भी सामग्री की सहायता से लिखा हुआ इतिहास प्रमाणिक माना जा सकता है—जैसे कि ऐतिहासिक विद्वानों द्वारा भारत सम्राट मौर्यवंश चन्द्र गुप्त का इतिहास पुराण—मुद्राराक्षस, एवं मेगस्थनीज के लेखों से स्थिर किया गया है। और चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक वर्द्धन का इतिहास शिला लेखों द्वारा निश्चित किया गया है, प्राचीन परम्परा और राज तरंगिणी आदि ग्रन्थों से भी एसे अनेकों संदिग्ध बिषयों का निर्णय हुआ है ।

पुराण अदि संस्कृत भाषा के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ भी प्राचीन इतिहास के लिये विशेष साधन हैं किन्तु जब तक शिलालेख नहीं मिले थे तब तक आधुनिक इतिहास लेखक विद्वान पुराणों पर विश्वास कम करते थे, जब पुराणोंमें वर्णन किये हुए अशोक वर्द्धन कालीन इति वृत्त का शिला लेखों से मिलान हो गया या तब सभी विद्वानों को पुराणोक्त इतिवृत्त पर पूर्ण विश्वास जमगया, फिर तो उन्हीं पुराणों के आधार पर शैशुनाग, मौर्य्य, शुंग, काण्व, आन्ध्र, एवं गुप्त वंशों का इतिहास सुलभाता से लिखा गया।

श्रद्धालु साम्प्रदायिक विद्वान् परम्परा, पुराण, और साम्प्रदायिक ग्रन्थों तथा

ऐतिह्य पर ही आरूढ़ रहे' श्रीनिम्बार्काचार्य तथा उनके परवर्ति आचार्यों के सम्बन्ध वाले शिला लेख तथा ताम्र पत्रों की किसी ने खोज नहीं की, यदि खोज की जाती तो अवश्य मिलते।

इस लिये यहाँ हम परम्परा एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थों द्वारा जो श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी का जीवन वृत्त मिल रहा है, उसी को प्रथम उद्धृत कर देना उचित समझते हैं। श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा संस्कृत हिन्दी आदि भाषाओं के अनेकों ग्रन्थों में मिलती है—जो कि श्रीदेवाचार्य जी तक एक रूप से मिलती है और उनके पश्चात् कई एक शाखाओं में जा रही है, उन परम्पराओं के आजकल मुख्य और विशेष रूप से दो प्रभेद हो रहे हैं, एक आचार्य पीठ की परम्परा और दूसरी अन्यान्य महान्त मठाधीशों तथा-गोस्वामी वर्ग की परम्परा उक्त दोनों ही प्रकार की परम्पराओं के सम्बन्ध में कित ने ही स्तोत्र बने हुए हैं जिनका कि श्रद्धालु भक्त नियम पूर्वक पाठ करते हैं। उन स्तोत्रों में से किसी किसी स्तोत्र में तो आचार्यों के सांकेतिक नामोंका निर्देश मिलता है और किसी किसी में स्पष्ट नामों का उल्लेख मिलता है, एवं किसी किसी में आचार्यों के गद्दी विराज ने के मास और तिथियों का भी निर्देश मिलता है, उन्हीं के अनुसार वर्तमान में साम्प्रदायिक सज्जन अपने पूर्वाचार्यों के जन्मोत्सव मना रहे हैं।

एसे ग्रन्थों में "आचार्य चरित्र*" नामक ग्रन्थ विशेष प्रामाणिक माना जाता है, यह ग्रन्थ विक्रम की १७ वीं शताब्दी में जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ परशुरामपुरी (सलेमाबाद) पीठासीन श्रीनारायणदेवाचार्य जी द्वारा संकलित हुआ है।

भाषा ग्रन्थों में १ निजमत सिद्धान्त (आचार्यखण्ड) जोकि वृन्दावनस्थ प्रसिद्ध रसिकशेखर स्वामी श्रीहरिदासजी महाराज की परम्परान्तर्गत महान्त श्रीकिशोर दास जी ने वि० सं० १८५० के लगभग रचा है। यह ग्रन्थ ऐंग्लो ओरियेण्टल प्रेस से वि० सं० १९६८ में मुद्रित भी हो चुका है।

दूसरा ग्रन्थ कृष्णगढ़ नरेश श्रीसांवत सिंह जी (नागरीदास जी) की बहिन श्री सुन्दर कुमरी कृत "मित्र शिक्षा" है जो कि अभी तक अमुद्रित ही है, यह ग्रन्थ

* यह एक पूर्ण प्रति वृन्दावन में वि० सं० १९१२ की लिखी हुई—कामदार पं० रामलाल जैनारायण द्वारा हमें सलेमाबाद में मिली है।

वि० सं० १८६२ में रचा गया था। उक्त दोनों ग्रन्थ बड़े विस्तृत हैं, इनके कुछ पूर्व-कालीन जगद्गुरु श्री गोविन्ददेवाचार्य तथा श्री गोविन्दशरण देवाचार्य जो आदि के रचे हुए कई परम्परा सूचक भाषापद और स्तोत्र भी मिल रहे हैं। उपरोक्त ग्रन्थों में से प्रत्येक आचार्य के द्योतक सन् सम्बत केवल निजमत सिद्धान्त में ही मिलते हैं, अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलते, परन्तु श्री निम्बार्काचार्य का समय सभी प्रबन्धों में एक ही समान द्वापरान्त काल का लिखा हुआ मिलता है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त व्रज विदेही चतुस्सम्प्रदायी श्री महान्त गोलोक वासी श्री सन्तदास जी महाराज (काठिया बाबा) एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थों के प्रकाशन द्वारा उद्धार करने वाले प० श्रीकिशोरदास जी महाराज वन्शीवट तथा हिन्दी के अनेक ग्रन्थ लेखक गोस्वामी श्री किशोरीलाल जी और हिन्दी भाषा को विशेषज्ञ-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि महानुभावों ने भी निम्बार्काचार्य का वही द्वापरान्त समय माना है।

संस्कृत ग्रन्थों में अभी तक हमें—भारत विख्यात नैय्यायिक विद्या वागीश तर्क तीर्थ गुरुवर पं० श्री अमोलकराम जी महाराज (वृन्दावन) रचित "आचार्यस्तव माला" में ही प्रत्येक आचार्य के सन् सम्बतों का विवरण मिलता है जोकि निजमत सिद्धान्त के अनुसार गवेषणायुक्त लिखा हुआ है। निजमत सिद्धान्त भाषाग्रन्थ और आचार्य स्तव माला संस्कृत ग्रन्थ के—

वेद वस्वष्टसम्मानादब्दाद्रेजे वने मुदा।
विश्वाचार्यो महानब्दान् वेदरसाङ्कसम्मितान्॥
चैत्रशुक्ले षष्ठ्यां, विवर्णाकारं नमामि वेदविदम्।
अवतीर्णं पुरुषोत्तम-मति सरसं सर्वजनसुखदम्॥
निरुक्तहायनाद्रेजे आचार्यपुरुषोत्तमः।
युगरसनभश्चद्रैर्मिताः समाः क्षितौ गुरुः।

(आचार्य स्तवमाला श्लोक १०३ से १०५)

अर्थात् श्री श्री निवासाचार्य जी के पश्चात् श्री विश्वाचार्यजी ने युधिष्ठिर सम्बत् ८८४ से लगा कर ९६४ तक श्रीवन में निवा किया था ; फिर युधिष्ठिर सम्बत ९६४ चैत्र शुक्ला ६ को श्रीपुरुषोत्तमाचार्य उनके सिंहासन पर विराजे और सम्बत् १०६४

में लीला संवरण की। इसी प्रकार के अनुसार श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी का उत्सव चैत्र शुक्ला ६ को प्रतिवर्ष भारत वर्ष में सम्प्रदायिक भक्त मनाते चले आ रहे हैं, जैसे तिथि और मासको सभी प्रमाणिक मान रहे हैं वेसे ही सम्बतों कोभी प्रमाणिक मानना चाहिये।

श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी का जन्म कुल, आदि का परिचय भी. अभी तक उसी निजमत सिद्धान्त आचार्य खण्ड पृष्ट २७ से ३६ तक में मिलता है, अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, उसीका संक्षिप्त आशय हम यहाँ उद्धृत कर देते हैं—

ग्रन्थकार कुल परिचय—

श्रीनारदजी के शिष्य श्रीवेदव्यास जो की परम्परा वाले वैशम्पायन ऋषि ने एक समय अपनी नैष्ठिक गद्दी के आचार्य श्री श्रीविश्वाचार्य जी के पास आकर उनके उत्तराधिकारी को देखने की अभिलाषा प्रकट की, तब श्रीविश्वाचार्य जी ने उन्हें शान्त्वना देकर कहा कि—हे वैशम्पायन! तुम चिन्ता मत करो, आप सभी ऋषिश्वरों की इस पूज्य गादी के उत्तराधिकारी, अभी भगवान के एक विशिष्ट अंश प्रकट होने वाले हैं, आप जाइये—कान्यकुब्ज देश में एक निर्वाण भट्ट बड़े अच्छे विद्वान हैं, उनकी धर्म पत्नी आनन्दिनी के गर्भ से एक पुत्र उत्पन्न होगा, किन्तु माता का स्तन पान नहीं करेगा, फिर जब एक मास के पश्चात हम से वैष्णवी दीक्षा प्राप्त कर लेगा तब स्तन पानादि करेगा, उसे हम अपने समान बना कर इस शरीर से अन्तर्धान होंगे।

श्री आचार्य के कथनानुसार वैशम्पायन ऋषि निर्वाण भट्ट के घर गये और तत्कलोत्पन्न शिशु की आचार्योक्त गति देख कर विस्मित हुए, फिर निर्वाण भट्ट जी ने सपरिवार अपने नवजात शिशु को लेजाकर श्रीविश्वाचार्य पाद के चरणों में डालदिया। आचार्य पाद के कर स्पर्शमात्र से वह वालक सचेत हो गया, तब उसी अवस्था में उन्हें पञ्चसंस्कार कर वैष्णवी दीक्षा दी, तदनन्तर वालक ने अवस्थानुसार स्तन पानादि किये, फिर कालान्तर में वही श्री पुरुषत्तमाचार्य के नाम से प्रख्यात आचार्य हुए, और युधिष्ठिर सम्बत् १०६४ तक इस धरा धाम को अलङ्कृत करते हुए वेदान्त रत्न मंजूषा अदि अनुपम ग्रन्थों का सम्पादन कर मुमुक्षुजनों का परम हित किया।

उपरोक्त उद्धरण साम्प्रदायिक ऐतिह्य मूलक है—आलोचना मूलक नहीं, कारण हमने संस्कृत साहित्य एवं संस्कृत के उद्भट विद्वानों के इतिहास विषयक सैकड़ों

ग्रन्थ देखे परन्तु किसी भी ग्रन्थ में श्री पुरुषोत्तमाचार्य के समय का आलोचना पूर्ण उल्लेख नहीं मिला , यद्यपि मई सन् १६०७ ई० में चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से छपी हुई मूल वेदान्तरत्न मंजषा की भूमिका में हमारे साम्प्रदायिक मान्य वर पं० श्री किशोरदास जी महाराज वंशीवट ने किसी अंग्रेजी विद्वान् द्वारा गुजराती भाषा में लिखे हुए कवि चरित के आधार पर एवं मंजषा में माया वाद का खण्डन मिलने के कारण श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी का समय गौडपादाचार्य के समकालीन एवं श्री देवाचार्य जी का समय किसी आनुमानिक लेख के आधार से वि० सं० १११२ मान कर उन से ४० पीढ़ियों के पूर्व कालीन श्रीपुरुषोत्तमाचार्य का समय विक्रम की ५ वीं शताब्दी अनुमानत माना है तथापि वह उनकी निजी आलोचना एवं सम्मति प्रतीत नहीं होती केवल सम्भावना के रूप में लिखा गया हैं क्योंकि श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी के जन्म देश कुल आदि के विषय में उनने स्वयं अपनी अपरिचितता प्रकट की है ।

जर्मनी विद्वान डाक्टर औफ्रेख्ट ने भी स्वरचित "कैटलॉगस् कैटलॉगरम" विशाल ग्रन्थ में श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी का नाम मात्र ही लिखा है समय आदि के सम्बन्धमें कुछभी नहीं लिखा । जबतक समालोचक विद्वानों का कोई परिश्रमपूर्ण महत्वशालो लेख उपलब्ध नहीं होता एवं शिला लेख ताम्रपत्रादिक प्रबल प्रमाणों की उपलब्धि नहीं होती तब तक परम्परा और साम्प्रदायिक ऐतिह्य मूलक उपरोक्त मत विचलित नहीं हो सकता , क्यों कि आधुनिक पाश्चात्य भाषा के शिक्षित पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने जो कुछ आलोचनायें की हैं वे अधिकतर भ्रमपूर्ण हैं , कारण जैसी चित्त में तरंग उठी 'वैसी ही उनने आलोचना करडाली विशेष कुछ भी विचार नहीं किया । उदाहरणार्थ हम यहाँ डा० भाण्डार कर – राजेन्द्रलाल मित्रा—व टांड साहब आदि बहुत से विद्वानों का उल्लेख न कर के केवल १ रमा वोस का ही दृष्टान्त यहाँ उद्धृत करते हैं जिनने कि ई० सन १६४२ में श्री निम्बार्क भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद कर के कलकत्ता रायल ऐशियाटिक सोसाइटी से अच्छा सन्मान प्राप्त किया है। रमादेवी जी ने श्री निम्बार्काचार्य का समय १ 'सविशेष निर्विशेष स्तवराज" और २ 'वेदान्त कारिकावली एवं ३ मध्वमुख मर्दन , इन तीन ग्रन्थों के भ्रम पूर्ण मन्तव्य से ही अर्वाचीन सिद्ध किया है ।* उक्त ग्रन्थों में प्रथम और तृतीय ग्रन्थ श्री निम्बार्क कृत

*रायल ऐशियाटिक सोसायटी कलकत्ते से सन् १६४७ में प्रकाशित एवंरमावोष लिखित निम्बार्क भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद तृतीय भाग पृष्ठ १४ से Date of nimbarka शीर्षक निबन्ध देखना चाहिये ।

माने हैं और द्वितीय ग्रन्थ श्री निवासाचार्य कृत माना है , परन्तु यह उनका पूर्णभ्रम है, प्रथम और तृतीय ग्रन्थ श्री आद्याचार्य निम्बार्क विरचित नहीं हैं और द्वितीय ग्रन्थ श्री निवासाचार्य रचित भी नहीं ।

जर्मन विद्वान् डाक्टर औफ रेख्टनेअपने कैटलोंगस'कैटलोंगरम्'प्रथम भाग पृष्ट ४२८ में श्रीनिम्बरा दित्यके नामका उल्लेखकर जो उनको बनारस की किसी लायब्रेरी की सूची मिली है । उसीके अनुसार निम्बादित्य नाम के नीचे तत्सम्प्रदायी ८ ग्रन्थों के नाम लिख दिये हैं । (१) कृष्णस्तवरास, (२) गुरुपरम्परा, (३) दशश्लोकी और सिद्धान्तरत्न , (४) मध्वमुख मर्दन , (५) वेदान्त तत्वबोध , (६) वेदान्त परिजात सौरभ , (७ वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप , (८) स्वधर्माध्वबोध । इन ग्रन्थों में नं० ३ और नं० ६ वाले ग्रन्थ निर्विवाद श्री निम्बार्क रचित हैं, किन्तु इन दोनों के संग होने के कारण अन्य सभी ग्रन्थों को भी देवी जी श्री निम्बार्क रचित ही मान बैठी यद्यपि 'मध्वमुख मर्दन' ग्रन्थ के आगे सन्देह वाची चिह्न भी है और रमा देवी जी को भी कुछ सन्देह हुआ है कि यह निम्बार्क रचित है , या नहीं ? इनके अतिरिक्त अन्य ५ पाँच ग्रन्थों पर तो देवी जी ने कुछ विचार ही नहीं किया कि ये—'वेदान्त तत्व बोध' आदि किसके रचे हुए ? और 'वेदान्त सिद्धान्त प्रदीप' निम्बार्क सम्प्रदाय का ग्रन्थ है या नहीं है ? रमा देवीजी ने विशेष परिश्रम पूर्वक यद्यपि श्री निम्बार्क भाष्य का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कर. एक विशेष प्रशंशनीय कार्य किया है तथापि केवल डा० भाण्डार कर और डा० राजेन्द्रलाल मित्रा के आनुमानिक कल्पित लेखों के अनुसार ही श्री निम्बार्काचार्य का समय लिख देने का बड़ी भारी भूल की है, क्यों कि इस भूल ने उनके इस श्रम पर एवं फिसालफो डाक्टरी पर ऐसा पानी फेरा है कि उसका अब उनसे परिमार्जन ही होना अशक्य ही है यदि समय की भांति कदाचित् सिद्धान्त प्रकट करने में भी ऐसी भूल करदी होगी तब तो उनका समस्त परिश्रम ही लाभ के बदले क्षति कर कहा जायेगा ।

मंजूषा का रचना काल—

अस्तु—अब हम यहाँ प्रसंगवश दूसरे विद्वानों की भी कुछ कल्पनायें उद्धृत कर देना उचित समझते हैं । कई एक समीक्षकों का कहना है कि—भाषा और शैली को देखने से वेदान्त रत्न मंजूषा ग्रन्थ वास्तव में बहुत प्राचीन ज्ञात होता है . इसमें

तार्किक और मीमांसकों की संक्षिप्त आलोचना अवश्य की गई, परन्तु वात्स्यायन—उदयनाचार्य शवर स्वामी आदि किसी का नामोल्लेख नहीं मिलता, इसी प्रकार अद्वैत वाद का भी खण्डन अवश्य मिलता है परन्तु गौड पादाचार्य शंकराचार्य आदि किसीव्यक्तिविशेषका नामोल्लेख नहीं दीखता एवंनकहींइनकेग्रन्थोंनाम तथाकोई पंक्तियाँ ही मिलती हैं जैसे कि १२ वीं शताब्दी वाले कौस्तुभ प्रभा आदि ग्रन्थों में मिल रही हैं।

सम्भव है कि विक्रम की ९ वीं या दशवीं शताब्दी में मंजूषा अध्ययन करने वाले सज्जनों ने तत्कालीन विशेष प्रचार वाले इन निर्गुण, विवर्त, प्रतिबिम्ब–अवच्छेद आदि वादों का खण्डन अध्यापकों के मुख से सुन सुनकर–पुरानी मंजूषा की पुस्तकों में अथवा स्वलिखित पुस्तकों में टिप्पणी के बतौर कुछ नोट कर लिये हों और कालान्तर में; प्राचीन पुस्तकों के नष्ट हो जाने पर वेही पुस्तकें रह गईं हो और प्रति–लिपि करने वालों ने उन्हीं त्रुटि संकेत वाले स्थलों में उन टिप्पणी रूप सन्दर्भों को भी मिलाकर लिख लिया हो, बीच–बीच में श्री निम्बार्क सम्प्रदाय का कई बार प्रचार शैथिल्य एवं ग्रन्थों और विद्वानों की भी न्यूनाधिकता होती रही हैं, अतः पुस्तकों का कलेवर बदलना कोई आश्चर्य नहीं। आजकल नव्यन्याय के दीधिति जागदीशी आदि कई एक टीका ग्रन्थोंमें भी ऐसी पश्चात् मिली हुई कितनी हीपंक्तियाँ मिलती हैं जिनका कि मुद्रित पुस्तकों में (   ) कोष्टकों में पाठ देकर पृथकी करण किया जा रहा है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि—मंजूषा के द्वितीय तृतीय और चतुर्थ कोष्ठकों में लगभग ७०–७२ ग्रन्थों का नामोल्लेख है जिनमें से कि उद्धरण लिये गये हैं, किन्तु श्री मद्भागवत का कहीं भी नामोल्लेख नहीं मिलता और न कहीं भागवत् का कोई श्लोक ही मिलता।* श्रीमद्भागवत ग्रन्थों को आज सभी सनातन धर्मानुयायी सज्जन साक्षात श्री कृष्ण स्वरूप मानते हैं, ऐसी स्थिति में पुरुषोत्तमाचार्य जी ने अपने उपास्य स्वरूप श्री भागवत का उद्धरण क्यों नहीं दिया यह प्रत्येक विचार शील पुरुष प्रश्न उठा सकता है, इस प्रश्न का यही उत्तर ठीक हो सकता है कि मंजूषा के सम्पादन समय में श्रीमद्भागवत का ग्रन्थ रूप में संकलत नहीं हुआ था। यह तो श्री मद्भागवत से ही सिद्ध होता है कि व्यास जी ने १७ महापुराण, भारत और गीता आदि के

*यद्यपि 'चरिष्याभिमृगैः सह' इत्यादि ययाति के उक्ति वाले कुछ श्लोक मंजूषा के चतुर्थ कोष्ठक में मिलते हैं, जो श्री मद्भागवत से उद्धत किये हुए से प्रतीत होते हैं तथापि भागवत का नामोल्लेख न मिलने से वे भारतादि अन्य ग्रन्थोंके उद्धरण कहे जासकते हैं।

पश्चात् ही शान्ति प्राप्ति के लिये श्रीमद्भागवत का प्रणनयन किया था। अतएव यह कहना अनुचित नहीं कि मंजूषा की रचना श्रीमद्भागवत के ग्रन्थ रूप होने से पहिले की है।

क्योंकि भागवत में वर्णित भूगोल और मंजूषा के वर्णित भूगोल का मिलान करते हैं तो नरकों की गणना में कुछ अन्तर मिलता है, जैसे मजूषा में केवल रौरवादि २१ नरकों की गणना दी है और भागवत में तामिस्र आदि नरकों की गणना कर २१ नरकों की गणना को केचित् शब्द से अन्य का मत बतलाया है और फिर मुख्य २८ नरकों की गणना मानी हैं।

श्रीमद्भागवत का रचनाकाल ग्रन्थरूप से सम्पादन) आधुनिक विद्वान भी महाभारत से पीछे का ही मानते हैं। महाभारत का रचनाकाल शंकर बालकृष्ण दीक्षित के मत से ईसा पूर्व १५०० वर्ष और चिन्तामणि राव वैद्य के मत से ईसा पूर्व ३०००वर्ष का है, और लोकमान्य तिलक का मन्तव्य है कि वर्त्तमान उपलब्ध महाभारत को ईसा पूर्व ५०० वर्षों से प्राचीन नहीं मानना चाहिये।

इस प्रकार आधुनिक विद्वानों के दिमाग के अनुसार यदि भागवत का ग्रन्थ रूप सम्पादन ईसा पूर्व ५०० भी मान लिया जाय तब भी मंजूषा का रचनाकाल आज से २४०० वर्ष प्राचीन सिद्ध होता है। सन १८६२ में बम्बई निर्णय सागर प्रेस से मुद्रित 'प्राचीन लेख माला' के श्रीकेशवाचार्य विषयक छटे लेख आदि सामग्रियों के मिलने से यह विश्वास हो रहा है कि नैपाल, तिब्बत, मद्रास आदि विशाल संग्रहालयों तथा मोहेंजोदड़ा आदि के मुद्रा लेखों (जो अभी तक नहीं पढ़े जा रहे हैं उन) से श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में कुछ न कुछ प्रामाणिक सामग्री अवश्य मिलेगी क्योंकि अभी तक साम्प्रदायिक विद्वानों ने शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्रा, प्राचीन प्रतिमा और ताड़पत्रों पर लिखे हुये ग्रन्थों से प्राप्त होने वाली ऐतिहासिक सामग्री के संग्रह का प्रयत्न नहीं किया। यदि किसी विद्वान् ने कुछ-खोज करने की चेष्टा की भी तो वह आर्थिक कष्टादि के कारण आगे नहीं बढ़ सका, कारण, साम्प्रदायिक धनी मानी महान्त मठाधीशों ने अन्वेषकों को आवश्यक सहयोग नहीं दिया। आजकल के महान्त मठाधीश भी ऐसे सम्प्रदाय हितैषी कार्यों में सहयोग नहीं देना चाहते।
जो कुछ साम्प्रदायिक साहित्य प्रकाशित हुआ है एवं सुरक्षित रहाहै वहभी कुछ थोड़े महान्तों

के अतिरिक्त सब त्यागी विरक्त निरवलम्बी महात्मा विद्वानों तथा साधारण गृहस्थ भक्तों के परिश्रम का ही फल है। इसी से वर्तमान समय में भी जो अन्वेषण चल रहा है यह भी निरवलम्बता के कारण शिथिल प्रगति से ही चल रहा है।

यद्यपि वेदान्तरत्नमंजूषा के समय सम्बन्धी जो उपरोक्त मन्तव्य प्रकट किये गए हैं, इनके विषय में जब तक हमारा अन्वेषण कार्य पूर्ण न हो और कोई अकाट्य प्रमाण नहीं मिल जाय तब तक हम अपना निश्चित मत प्रकट नहीं कर सकते तथापि साम्प्रदायिक ऐतिह्य को भी अनंगीकार नहीं कर सकते। अतएव जब तक कोई समर्थ हेतु नहीं उपलब्ध होता तब तक उपरोक्त समय पर ही आरूढ़ रहना उचित है।

श्रीनिकुञ्ज, रेतिया बाजार,
श्रीवृन्दावन धाम।

विद्याभूषण श्रीव्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य
सांख्यतीर्थ

अथ श्रीवेदान्तरत्नमञ्जूषायां प्रमाणार्थसमुद्धृत-ग्रन्थ-ग्रन्थकाराणाञ्च नामानि।

ग्रन्थाः—	ग्रन्थकाराः :
१ वेदान्त पारिजात सौरभ (ब्रह्मसूत्र-वृत्तिः)	श्रीसुदर्शनावतार भगवान् श्रीनियमानन्दाचार्यः।
२ वेदान्त कौस्तुभ भाष्य (ब्र० सू० भाष्य)	श्रीशंखावतार श्री श्री निवासाचार्यः।
३ पञ्चधाटी स्तोत्रम	श्राविश्वाचार्यः।
४ तार्किक पक्षः।	

—::—

५ परिछिन्नवाद्यानां मायावादपक्षः। ६ गायत्र्यादिविविधश्रुतयः। ७ ब्रह्मसूत्राणि। ८ गीता। ९ वेद भाष्य (पाणिनी शिक्षा से)। १० कठ। ११ मुण्डक। १२ छान्दोग्य। १३ श्वेताश्वतर। १४ सुवाल आदि उपनिषत्। १५ ईशोपनिषत्। १६ मैत्रायोपनिषत्। १७ गोपालोपनिषत्। १८ लौकिकोपनिषत्। १९ विष्णुपुराण। २० कृष्णोपनिषत्। २१ महाभारत। २२ नृसिंहपुराण। २३ वाराहपुराण २४ नारायणोपनिषत्। २५ कूर्मपुराण। २६ ब्रह्मपुराण। २७ शिवपुराण। २८ लिंगपुराण। २९ मत्स्यपुराण। ३० पद्मपुराण। ३१ शतपथ ब्राह्मण। ३२ मनुस्मृति। ३३ ऐतरेयोपनिषत्। ३४ केनोपनिषत्। ३५ तैत्तिरायोपनिषत्। ३६ यजुर्वेद (पु० सूक्त। ३७ लक्ष्मी सूक्त। ३८ श्री सूक्त। ३९ लक्ष्मी स्त्रोत्र। ४० नारद पञ्चरात्र। ४१ ऋक्परिशिष्ट। ४२ हरिवंशपुराण। ४३ विष्णु सहस्रनाम। ४४ पाणिन्यादिस्मृतिः। ४५ वाल्मीकि रामायण। ४६ सदाचार प्रकाश (भगवच्चरणाचार्यः)। ४७ प्रपत्ति चिन्तामणि (आद्याचार्यः)। ४८ सनत्सुजात। ४९ उत्तर वाल्मीकीयः। ५० जयदाख्यान संहिता। ५१ शांडिल्यस्मृति। ५२ हयशीर्षीयनारायणव्यूहस्तव। ५३ प्रजापतिस्मृतिः। ५४ बह्वृचां समाम्नायः। ५५ कात्यायन संहिता। ५६ विष्णु रहस्य। ५७ पितृ गीत। ५८ गर्भोपनिषत्। ५९ सात्वततन्त्र। ६० वैष्णवधर्मः। ६१ पुण्डरीकाख्यान। ६२ औणादिकगण — पठितमनप्रत्ययतो "ब्रह्म शब्दव्युत्पत्तिः।

इत्यादि।

* श्रीमन्निकुञ्जविहारिणे नमः *

अथ प्रकाशकस्य गुरु-परम्परास्तोत्रम्

नतोऽस्मि हंसं परमादिदेवं जगन्निवासं जगदेकबन्धुम् ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिः स्तुतं तं स्मृतार्तिनिघ्नं शरणं प्रपद्ये ॥ १ ॥

आत्मारामान्विहितमतयो निर्विकल्पे समाधौ, ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्वनिष्ठाः । संवीक्ष्यन्ते क्रमपितपसा ज्योतिषां ये पुरस्तात् , वन्देतानप्रतिहत गतीन् श्रीकुमारादि सिद्धान् ॥ २ ॥ वन्देतं जगदेकबन्धुमखिलं संसारपाशच्छिदं, भक्तानां हृदिचिन्तितं सुखकरं वन्द्यं प्रपञ्चे प्रियम् । प्रह्लादस्य गुरुं महागुणनिधिं श्रीनारदं भक्तिदम् । दासा यस्य हि वैष्णवाः सुनिपुणाः श्रीकृष्ण भावे रताः ॥ ३ ॥ उद्दामदानवमदानवदानदुष्यद्भूभारहारणविहारकृतावतारः, निष्पक्षभक्तपरिरक्षणदक्षदीक्षश्चक्रायुधोऽवतु चिरं मथुराधिपोऽस्मान् ॥ ४ ॥ श्रीनिम्बार्कसुवंशमौक्तिकमणिर्यः सूरिरत्नाग्रणीः , प्रोद्यत्स्वप्रभया सुदुर्मततमः पुञ्जप्रणाशप्रणी । सत्सूत्रप्रवणः सतां हृदि मुदं तन्वन्नदर्यश्रिया आचार्यः करुणानिधिर्विजयतां श्री श्रीनिवासः प्रभुः ॥ ५ ॥ तच्छिष्यप्रवरं वन्दे विश्वाचार्यं सुबोधदम् । चतुर्थ्यां फाल्गुने शुक्लेऽवतीर्णं हरिचिन्तकम् ॥ ६ ॥ विवर्णकारं निजदेशिकानां श्रीदेशिक वेदविदां वरिष्ठम् । तं वाङ्मनोऽचिन्त्यमनन्तशक्तिं ज्ञानैकवेद्यं पुरुषं भजामि ॥ ॥ विलासार्यो महातेजा विषये निस्पृहोबुधः । सर्वभूतहितो दान्तः कृष्णलीला परायणः ॥ ८ ॥ भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां , निधिमुनिहरिचन्द्रैः सम्मिताब्दे सुरेजे । विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां , भवतु शरणमेकः श्रीस्वरूपोनराणाम् ॥ ९ ॥ विद्वद्भिः समुपाश्रितो मुनिगणव्रातैरवोचत्सदा, तत्त्वं यः परमं रहस्यसकलं जिज्ञासुभिः श्रीहरेः । वेदान्तार्थविवेचको गुणनिधिर्भक्तिप्रदो माधवस्तं, वन्दे मनसागिरा-तिसरसः स प्रादुरासीत्क्षितौ ॥ १० ॥ श्रावणे धवले पक्षे तृतीयायां बभूव यः । बलेन व्यतनोद्भद्रं तं वन्दे बलभद्रकम् ॥ ११ ॥ भाद्रशुक्लस्यद्वादश्या माविरासीन्महाकविः । श्रीपद्माचार्य आर्यस्तं वन्दे पद्मापते गुणैः ॥ १२ ॥

निधिवसुगुणपृथ्वीसम्मिताब्दं दिदीपे जयतु सगुणरत्नस्याकरोधर्ममूर्तिः। जगदहितनिवृत्तो बद्धदीक्षो दयालुः, परमसरसश्यामाचार्यवर्यःसुदक्षः ॥१३॥

श्रीराधिकाधीशपदानुगानां स्वान्ते कृपाभक्तिसुदीप्तिदक्षः। राकापतिर्लौकविलक्षणोऽसौ गोपाल आर्यस्तमहं भजेयम् ॥१४॥ रसतममतिज्ञेयो भावपूर्णो विरेजे भगवति कृतिचेता यः कृपाचार्यवर्यः। सरसिजदृशि देवे भावुको भक्तिरूपा, भवतु भवतु तस्मिन्सन्मतिर्मेदयालौ ॥ १५ ॥ आचार्यो जगतामभीष्टफलदः स्त्रोपासकानां सतां, प्रेमार्द्रः सुमनो मनो मधुरयन् पीयूष वर्षःकृती। अब्दं बाणधराङ्कचन्द्रगणितं देवार्यपादः कविः। वेदान्तार्थनिरूपकोऽतिशुशुभे कारुण्यवारांनिधिः ॥ १६ ॥ श्रीमद्धंसकुलाब्जभास्करनिभो गाम्भीर्यधैर्याकरः, श्रीगोविन्दपदारविन्दमधुपोनानागुणालङ्कृतः। त्रय्यन्तार्थ-निरूपकः सुमनसां देवार्यपादाश्रयः, श्रेयः संपदमातनोतु भवतां श्रीसुन्दरो देशिकः ॥ १७ ॥ श्रीमत् पद्माभिधं भट्टं पद्मनाभगुणान्वितम् दयार्णवमहं वन्दे ज्ञानवैराग्यदं गुरुम् । पद्माभिपद्मादभवच्चतुर्मुखः, शास्त्रार्थरूपः परमार्थ गोचरः। तस्मादमुं भव्यजनाभिवंद्यं श्रीपद्मनाभेतिवदन्ति भट्टम् ॥ १८ । त्रिविक्रमैर्ज्ञानविरागयोगैराक्रम्यलोकान् सह लोकपानाम् । मोक्षाख्यमैन्द्रं-प्रददौ स्वकेभ्यः उपेन्द्रभट्टं प्रणतोऽस्मि देवम् ॥ १९ ॥ रामचन्द्राभिध भट्टं रामचन्द्रगुणं गुरुम् । समाश्रये सदा बुद्धौ दयापीयूषतोयदम् । बद्ध्वा सेतुं भक्तियोगं च विष्णोः रुद्धं जीवं राक्षसैः क्लेशजालैः । कर्माख्यं वै रावणं बोधबाणैर्हत्वाभक्तं मोचयामास देवः ॥ २० । यो वाम-यत्यखिलकर्म विषं च वैद्यः संसारसर्पप्रभवं स्वपदप्रपन्नैः । वैराग्यज्ञान मनुना निजशिक्षितेन तं वामनं गुरुमहं प्रणतोऽस्मि भट्टम् ॥ २१ ॥ यो वै मृत्युमुखात् प्रमादवपुषो ह्यात्मप्रपन्नान्प्रभुश्चानीय स्वदयावशेन हरये दास्यान् कृपासिञ्चनात। तं श्रीकृष्णसमं च कर्म विभवैः कृष्णाख्यभट्टं गुरुम् वन्देऽहं मनसागिरा च वपुषा कारुण्यसिन्धुं हरिम् ॥ २२ ॥ विद्यापरांश्रेय उपायभूता, मुमुक्षुभिः सेव्यतया प्रसिद्धा। पद्माभिधायस्यकरे श्रिता वै, पद्मा-करं भट्टमहं भजामि ॥ २३ ॥ श्रुत्वात्मतत्वं ह्यनुभूय नित्यं, संश्रावयामास निजप्रपन्नान्। विमोचयामास तमोर्गलाद्यस्तमाश्रये श्रीश्रवणेशभट्टं ॥ २४ ॥

भटत्यसौ भूरिमहानुभावः श्रुत्यन्ततत्त्वं विशदं निजेभ्यः। भजाम्यनन्तस्य पदस्य दाता यो भूरिभट्टं गुरुमीश्वरं तम् ॥ २५ ॥ श्रीमाधवं भटति सर्वं जगन्निदानं वेदान्तवेद्यचरणं शरणम् निजेभ्यः। यस्तं गुरुं परमतत्वप्रदं महान्तं श्रीमाधवं हि सततं प्रणतोऽस्मि भट्टम् ॥ २६ ॥ श्यामं हिरण्यपरिधिं सततं भटन्तं, गोविन्दमादिपुरुषं श्रुतिसारगम्यं श्यामं हि भट्टमनिशं गुरुमीशमी, डे मोक्षप्रदं स्वदयया चरणानुगानाम् ॥ २७ ॥ गोप्ताश्रुतीनां परतत्त्ववक्ता त्राताश्रितानां च भवार्णवाद्यः। गोपाल भट्टं तमहं प्रपद्ये विज्ञानवैराग्यदयादिपूर्णम् ॥ २८ ॥ कर्मादिरूपोवलवान् प्रलम्बः पदाश्रितनां निहतश्चयेन तं देवमीडे वलभद्रभट्टं क्षमादयाज्ञानविरागयुक्तम् ॥ २९ ॥ गोपीनाथं भटतिसततं शास्त्रमानेन यो वै श्रीगोविन्दं परम पुरुषं दर्शयामास शिष्यान्। गोपीनाथं परम सुखदं भट्टमीडे गुरुं तं प्रेमानन्दं मृदुलहृदयं ब्रह्मविज्ञानमूर्तिम् ॥३०॥ श्रीकेशवं यतिपतिंद्रुहिणादिवंद्यं कृष्णं भटन्तमनिशं श्रुतिसारगम्यम्। भक्तस्यतापशमनायविवद्धकक्षं भट्टं च तं केशवमहं शरणं व्रजामि ॥ ३१ ॥ गङ्गास्पदं चरणपङ्कजमीश्वरस्य वज्राङ्कुशध्वज सरोरुहलाञ्छनाढ्यम्। यो लाति स्वाश्रितजनाय कृपाभियोगं तं गांगलं च प्रणतोऽस्मि गुरुं हि भट्टम् ॥ ३२ ॥ साक्रान्ता मथुरापुरी च यवनैर्बद्धं प्रचण्डं पुन—यन्त्रं नाशकरं गुरुः परिवृढो ह्यागत्य पुर्यां कृती। ध्वस्तो दण्डविपक्षामण्डलवुधः श्रीकेशवार्यो सुहृद्, दुर्दान्तान् यवनान् जिगाय जगतां यन्त्रस्य विध्वंसकः ॥ ३३ ॥ ब्रजेशप्रेमाख्यश्रियाभिषिक्तं भट्टं तमीशं पुरुषं वरेण्यम्। श्रीभट्टदेवं परमं भजेऽहं विज्ञानवैराग्यदयासुधाब्धिम् ॥ ३४ ॥ श्रीराधापदपद्मगन्धनिरतो गाम्भीर्यधैर्याकरः सद्वृन्दावनकेलि कौतुकमना निस्सीमभावोदयः। दम्पत्योः प्रियकेलिवर्णनरतः श्रीभट्टदेवः सुधीः रेजे नीलसरोजसुन्दररुचेः पीयूषपाथोनिधिः ॥ ३५ ॥ यो वेत्तारं नवजलधरसमः प्रेमपीयूषवर्षी, राधाविष्ण्वोः पदनलिनमधुप्रापकः स्वाश्रितानाम्। आविर्भूतः स्फुरतु सुमनसि नो भक्तभूपादयालुर्वन्देऽहं तं भुवि गुणिमलयन् श्रीहरिव्यासमार्यम् ॥ ३६ ॥ मुनिश्रेणीरत्नं ह्यमितमहिमानं सुनिपुणम्, विमृग्याङ्घ्रिद्वन्द्वं विबुधजनपूज्यं भवभिदम्। मुकुन्दश्रीरा-

धापदनलिनशोभासु निरत स्वभूराम वन्दे परमरमणीय गुरुवरम् ॥ ३७ ॥ यो वै जहार निजपादसरोजभाजां कर्णं वचोभिरमृतैः परदेवतत्वं विद्योतयञ्जयति कर्णदरश्च देवस्तं श्रीगुरुं मुनिवरं शरणं व्रजामि ॥ ३८ ॥ गोपीकरवकाननप्रियकलानाथाङ्घ्रिपाथोरुह ध्यानं स्तच्चरणारविन्दनिरतो नाना गुणालङ्कृतः । लोकतमश्चकार परमानन्दो गुरुर्भावुकः, श्रीवृन्दावन कुञ्जमञ्जुभवने देदीप्यमानः सदा ॥ ३९ ॥ परानन्दे मग्नो भुवि करुणयाविष्कृततनुः, व्रजेस्थित्वा यो वै युगलगुणगाने कृतरुचिः । कृपां कुर्यात्सोऽस्मा स्विहचतुरचिन्तामणिविधुः, सदाऽऽस्तां चित्तेत्वच्चरणमरुणं भूरिकरुणम् ॥ ४० ॥ सदाऽहो सानन्दं सदयहृदयं स्वाश्रितनुतं, कृपा पारावारं सततमपिभातं जनहृदि । तदीयं द्वन्द्वे किं परमरमणीयं सुचरणं, नतोऽस्म्याधिग्रामोपशमनकृतं मोहनमहम् ॥ ४१ ॥ प्राच्यां चन्द्र समं प्रभुं स्वघृणिभिर्भान्तं तमोध्वंसकं, श्रीमद्धंसकुलाब्जभास्करनिभं गांभीर्यधैर्याकरम्, श्रीगोविन्दपदारविन्दमधुपं, नानागुणालङ्कृतम्, वन्दे श्रीहरिदेव मञ्जनयनं श्रेयोर्थिभावप्रदम् ॥ ४२ ॥ आसीच्छास्त्रविशारदोगुणनयः स्वैकाश्रितानां प्रभुः, प्रेयांञ्छ्रीश्रुतरामको नववनश्यामाभिरामाकृतिः । श्रीमद्धंसकुलाब्जभास्करनिभं नीलाब्जरोर्जिषं, भक्तानां सुखवृद्धये धृततनुं तं भावये सद्गुरुम् ॥ ४३ ॥ जनान् सर्वान् दृष्ट्वाभवजलनिधौदुस्तरतरे, निमग्नानुद्धर्तुं समुदितमतिं जातकरुणम् । सतां प्रेमस्थानं गतदुरितमानं गुणनिधिम्, हरेर्भक्तं वन्दे परमवृषभानुं गुरुवरम् ॥ ४४ ॥ मनं पिरामदेवो थः, गुरुभक्तिपरायणः । भक्तिशास्त्रस्य तत्वज्ञस्तमस्मिशरणम् गतः ॥ ४५ ॥ निखिलभुवनवन्द्यः प्रेमदाता दयालुः, स्वपदनलिनयुग्म प्रापकः स्वाश्रितानाम् । निखिल निगमज्ञाता श्रीगुरुह्ंसदासः, स्फुरतुसममन्दिरे पूजितो यस्तदीयैः ॥ ४६ ॥

सिद्धाश्रमे कर्दमाख्या वाडी येन स्थिरीकृता । वटोदराभूपपूज्यं हरिदासं नमामितम् ॥ ४७ ॥ मोहितं मधुरालापैर्भक्तानां येनमानसम् । तं वै मोहनदासाख्यं वन्देहं योगिनं गुरुम् ॥ ४८ ॥ नेत्रानन्दकरी मूर्तिः यस्याऽस्ति योगिनो गुरोः । वन्दे तं नयनादासं मनसा कर्मणा गिरा ॥ ४९ ॥ दयालु-

रिन्दतिस्त्वस्मिन् , सततं हरिचिन्तकान् । इन्द्रदासाभिधं वन्दे गुरुदेवं तपोनिधिम् ॥ ५० ॥ घोघावन्दर संस्थाने श्रीनृसिंहो विराजितः । येन तं धर्मदासाख्यं गुरुं वन्दे निरन्तरम् ॥ ५१ ॥ भद्रं वितीर्य सर्वेषु जन्तुषु नियतः-शुचिः । रराजवलयुक्तस्मै वलभद्र गुरवे नमः । ५२ । अविद्यागिरि मुत्पाट्य सत्पथं येन दर्शितम् । श्रीगिरिधारिदासं तं साक्षाद्गुरुं नमाम्यहम् ॥ ५३ ॥ श्रीमद्विहारिदासस्यग्रन्थप्रकाशकारिणः । वन्दितानामनिर्देषादेषागुरुपरम्परा ॥५४

श्रीनिम्वार्कपदेनिष्ठा सर्वेषां मानसे भवेत् ।
तेन सन्तुष्यतां सद्यः श्रीव्रजवल्लभः प्रभुः ॥ ५५ ॥

पीतः श्रीव्रजचन्द्रपादप्रभुणा यात्राग्नि दावानलः ।
तत्कुण्डात्पुरतः किमारविपिने संस्थाप्य तन्मन्दिरम् ॥
विद्याभ्यासिकृते समर्प्य विचितं ग्रन्थप्रकाशे धनम् ।
दत्तं त्यागिविहारिदासविदुषा तस्यैव तत्तोषणे ॥ ५६ ॥

इति वेदान्तरत्न मंजूषा प्रकाशकस्य त्यागी पं० विहारीदासस्य गुरुपरम्परा सम्पर्णा ।

श्रीवदान्तरत्नमञ्जूषा द्वितीयखण्डस्य विषयसूचिः—

इति विषयसूचिः

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

द्वितीयः कोष्ठः ।

श्री १०८ महर्षि सनकसम्प्रदाय प्रवर्तकाद्याचार्यभगवत्सुदर्शनचक्रावतारमहामुनीन्द्र श्रीनिम्बार्कपादपद्माश्रिताश्रितभगवत्पुरुषोत्तमाचार्य्यप्रणीता ।

उक्तसिद्धान्ते विधिमाह —

उपासनीयं नितरां जनैः सदा ।
प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः ॥
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तम् ।
श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे ॥६॥

उपासनीयमिति ॥ मुमुक्षुभिर्जनैरुक्तलक्षणं परं ब्रह्म सदोपासनीयम् । विध्यर्थकतव्यप्रत्ययस्थानेऽनीयर प्रत्ययः । "सोऽन्वेष्टव्यः", सविजिज्ञासितव्यः, श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः, आत्मानमेव लोकमुपासीत, तस्मात् कृष्ण एव परोदेवस्तंध्यायेत् तं रसयेत तं यजेत् तं भजेदित्यादिविधिश्रवणात् । सदेति कालव्यवच्छेदं निराकरोति "आलोड्य सर्व शास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा । स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधि निषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः" इत्यादि स्मरणात् । दिवसे दिवसे सकृत्सकृत कृतस्याऽवच्छेदकः कालः सदा शब्दवाच्यस्तद्वारणायाह—

कुञ्चिका

उक्त सिद्धान्त इति । अनन्ताचिन्त्य स्वाभाविक कल्याण गुण सागर अखिला-विद्यादिदोषगन्धस्पर्शानर्हः जगज्जन्मादि हेतुः सर्वशास्त्रवेद्यः मुक्तोपसृप्यः रुक्मिणी-सत्यभामाव्रजस्त्रीविशिष्टः श्रीभगवान् पुरुषोत्तमो वासुदेव इति सिद्धान्त इत्यर्थः ।

उक्तलक्षणमिति जगज्जन्मादिकारणमित्यर्थः। उक्तार्थे मानमाह सोऽन्वेष्टव्य इति। विधि वाक्यं निर्दिशति। श्रोतव्य इति। अत्र दर्शनमुद्दिश्य निदिध्यासनं विधीयते। अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदितिन्यायात्। निदिध्यासनस्यैव मोक्षान्तरङ्गोपायत्वात्। अत्र। श्रोतव्य इत्यनुवादः। अध्ययनविधिना साङ्गस्य स्वाध्यायस्य ग्रहणेऽधीतवेदस्य पुंसः प्रयोजनवदर्थदर्शनात्तन्निर्णयाय स्वरसत एव श्रवणे प्रवर्त्तमानतया तस्य प्राप्तत्वात्। मन्तव्य इत्यनुवादः। श्रवणप्रतिष्ठार्थत्वेन मननस्यापि प्राप्तत्वादित्यर्थः भूमेति। भूमा-शब्दोब्रह्मपर्यायः।

गोपालतापिन्युपनिषद्वचसाप्युक्तार्थं प्रमाणयति। तस्मादिति। कृष्णः=सर्वा-कर्षकः परः=सर्वोत्कृष्टः। स एव यजनीयो ध्येयो रसनीयो भजनीयश्चेत्यर्थः। मूलोपात्त-सदेतिपदं व्याचष्टे। सदेति। उक्तार्थंस्मृतिप्रमाणेनापि द्रढयति। आलोडयेति। श्रीनारद-पाञ्चरात्रवचनमुदाहरति। स्मर्तव्य इति। "अहरहः सन्ध्यामुपासीत"। ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादिरूपा विधिनिषेधाः। एतयोः=स्मर्तव्यविस्मर्तव्यरूपयोर्विधिनिषेधयोरेव किङ्कराः=अधीनाः। चिच्छब्दः जात्वर्थद्योतकः! नितरामितिपदस्य प्रयोजनं निर्वक्तुमाह। दिवस इति।

भाषानुवाद

प्रथम कोष्ठ में शास्त्र सम्प्रदाय प्रमाण के द्वारा तत् त्वं पदार्थ का निरूपण किया अवद्वितीय कोष्ठ में सम्प्रदाय की परम्परा पूर्वक वाक्यार्थ निरूपण करते हैं। पूर्व उपदर्शित उपासना को विधि वाक्य के द्वारा प्रमाणित करते हैं, उपासनीय मिति पूर्व प्रदर्शित श्रीपुरुषोत्तम का स्वरूपादि तत्व निर्णय पूर्वक परब्रह्म श्रीकृष्ण की उपासना मुमुक्षु जनों को करनी चाहिये क्योंकि "श्रोतव्यो मन्तव्य" यह श्रुति उपासना को प्रति पादन करती है। इस श्लोक में उपासनीयं इस पद में विध्यर्थक तव्य प्रत्यय के स्थान में अनीयर प्रत्यय है। श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् का अन्वेषण करना चाहिये उन्हीं की जिज्ञासा भी कर्तव्य है और शास्त्र के द्वारा भगवान् का स्मरण युक्तियों से मनन करना चाहिये। श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् का अनवरत स्मरण ध्यान रूप निदिध्यासन भी मुमुक्षु जनों को कर्तव्य है। परमात्मा की उपासना "आत्मानं लोकमुपासीत" इस श्रुति से सिद्ध हैं। गोपालतापनी के वचन द्वारा भी उक्तार्थ को प्रमाणिक करते हैं। कृष्ण एवेति। सर्वोत्कृष्ट परम देवता श्रीकृष्णचन्द्र का ध्यान और रसास्वादन यजन भजन करना आवश्यक हैं। यहाँ पर सदा पद से काल के अविच्छेद का निराकरण किया। अर्थात् श्रीकृष्ण की उपासना प्रति दिन करनी चाहिये। उपदर्शित अर्थ को स्मृति के बचनों से

प्रामाणित करते हैं। सर्व शास्त्रों को आलोडन कर बारम्बार विचार ने से यह निश्चय हुआ कि नारायण का सदा ध्यान करना चाहिये, विष्णु का स्मरण सदा करना चाहिये, कभी भी विष्णु का विस्मरण नहीं करना क्योंकि शास्त्र में जितने विधि निषेध है वे सब स्मर्तव्य विस्मर्तव्य के आधीन हैं। भाव यह है कि विष्णु के स्मरण में सब विधि वाक्यों का चरितार्थ हो चुका और विष्णु के विस्मरण में सबनिषेधों का अन्तर्भाव है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

नितरामिति। गङ्गादिप्रवाहवत् क्षणाद्यपरिच्छेदेन। "यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते। सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया" इत्यादि वचनात्। एतेन स्मृतिसन्तानस्याऽपरिच्छिन्नत्वं विधीयते। तथाच श्रुतिः—आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति रिति। श्रीभगवदुपासनस्याऽधिकारिसाधारण्यसूचनाय सामान्यजनशब्दप्रयोगः, श्रीभगवतः सर्वाधिकार्यनुरूपोपासनविषयकत्वसाम्यात्, वैदिकोपासने तु त्रैवर्णिक एवाधिकारीति। पौराणिके चतुर्थोऽपीति विवेकः।

कुञ्चिका

उक्तार्थं स्मृतिप्रमाणेन द्रढयति। यन्मुहूर्त्तमिति। एतेन=नितरामितिपदोपादानेन। अनवरतस्मृतिसन्तानस्यहेतुं श्रुतिप्रमाणेन निर्वक्ति। तथाचेति। जनत्वावच्छिन्नजनशब्दप्रयोगात् सर्वत्र सर्वेषां जनानामधिकारः प्रसज्येत इत्यत आह— वैदिक इति। अज्ञानतमोऽनुवृत्तिपदं व्याचष्टे। अनादीति।

भाषानुवाद

यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रति दिन अल्प अल्प स्मरण करने से भी सदा पद की सङ्गति हो सकती है। इस शङ्का को निवारण करने के लिये श्री आचार्य पाद ने 'नितरां" इस पद का प्रयोग किया उससे यह अर्थ सम्पन्न होता है कि जैसे गङ्गा का प्रवाह अनवरत समुद्र में पड़ता है। तद्वत् मनुष्य का कर्तव्य है कि सर्वदा अपने मन को श्रीकृष्ण के चरणारबिन्दों में लगाये रहै क्यों कि शास्त्र में कहा है कि "यन्मुहूर्तमिति जिस मुहूर्त जिस क्षण में बासुदेव भगवान् का चिन्तन नहीं किया वही हानि है, वही बड़ा भारी छिद्र है, वही भ्रान्ति है, वही विरुद्ध क्रिया है। अनवरत भगवान् का स्मरण हमें क्यों नहीं होता है। इस प्रश्न का उत्तर श्रुति के द्वारा प्रकाशित करते हैं। आहार शुद्ध होने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण शुद्ध होने से भगवान् की अनवरत स्मृति होती है। जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता तब तक

भगवान का अनवरत स्मरण नहीं होता है। श्रीभगवान् की उपासना के अधिकारी सर्व जन हैं। यह अर्थ जन पद के प्रयोग से निश्चय होता है। यहाँ पर यह अवश्य जानना चाहिये कि 'त्रैवर्णिक' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, इन तीनों का वैदिक उपासना में अधिकार है चतुर्थ वर्ण का पौराणिक उपासना में अधिकार है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

उपासन प्रयोजनमाह—प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेरिति। अज्ञानतमोऽनुवृत्तेः प्रहाणये, इति योजना। अनादिकर्माख्याज्ञानमेव तमः, स्वरूपादि तिरोधानस्वभावकत्वात्। तस्यानुवृत्तिः सम्बन्धः श्रीपुरुषोत्तमप्राप्तिप्रतिबन्धकस्तस्य प्रहाणये ध्वंसायेति यावत्। स्मृति लम्भे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्ष इति श्रवणात्। "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता" इति भगवद्वचनाच्च॥

कुञ्चिका

उक्तार्थं स्मृति प्रमाणेन द्रढयति—अनन्येति। न विद्यतेऽन्यो मद्व्यतिरिक्तः प्राप्य उपास्यो वा येषां तेऽनन्या मां परमप्राप्यदेवदेवं चिन्तयन्तो येजनाः पर्युपासते, परिसर्वतो देहेन्द्रियान्तः करणैः सेवते, तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमनवरतमादरेण मयि मनोऽभियुञ्जानानां योगं मत्प्राप्तिपर्यन्तस्य सर्वपुरुषार्थस्य प्रापणम् क्षेमं तत्संरक्षणं पुनस्तदपायशङ्कावर्जनमित्यर्थः। अहमेव वहामि प्रापयामीत्यर्थः।

तेषामिति॥ तेषां प्रीतिपूर्वकं भजतामेवानुकम्पार्थमनुग्रहार्थम्। आत्मभावस्थो बुद्धिवृत्तौ स्थितः सन्नज्ञानजं प्राचीनकर्मरूपाज्ञानजं तमः धर्म भूताज्ञानावरणं भास्वता प्रकाशमानेन मद्विषयकज्ञानाख्येन दीपेन नाशयामीत्यर्थ।

भाषानुवाद

अब हरि की उपासना का प्रयोजन कहते हैं। प्रहाणयेति। अनादि कर्म रूप अज्ञान रूप जो तम है वही श्रीपुरुषोत्तम की प्राप्ति का प्रति बन्धक है, उसकी निवृत्ति के लिये श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् की उपासना करनी चाहिये अर्थात् ध्रुवास्मृति होने पर सर्व ग्रन्थियों का स्खलन होता है। जो अनन्य जन होय के मेरा चिन्तन करते

हुये मेरी उपासना करते हैं, उन्हों के चतुर्विध पुरुषार्थ और मेरी प्राप्ति रूप योग तथा उन्हों की रक्षा रूप क्षेम को मैं स्वयं वहन करता हूँ। भक्तों के ऊपर अनुग्रह कर उनकी बुद्धि में स्थित होके पूर्व संचित कर्म स्वरूप अज्ञान जन्य जो तम=अन्धकार को प्रकाश मान मद्विषयक ज्ञान स्वरूप प्रदीप से नाश करता हूं। अतः अज्ञान की निवृत्ति के लिये भगवान् पुरुषोत्तम की उपासना करनी चाहिये।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

ननु "यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत" इत्यादि श्रुतेरुपासना बिषयस्य ब्रह्मत्वनिषेधात् कथमेषोपासना विधानं, कथन्तरां च परब्रह्मण उपास्यत्वमित्याशङ्कानिरासार्थं स्वसम्प्रदाय संततिं प्रमाणयन् सम्प्रदायस्यानादित्वं वैदिकत्वं चाह भगवानाचार्यः—सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तमिति।

कुञ्चिका

ध्येयस्य ब्रह्मण उपास्यत्वेन "नेदं ब्रह्म यदिदमुपपासते" इत्यादि श्रुतिभिर ब्रह्मत्वप्रतिपादनात् कथमुपासनागम्यं ब्रह्मेति शङ्कते। नन्विति। स्वसम्प्रदायस्यानादित्व वैदिकत्वयोः प्रदर्शनेनोक्तां शङ्कां व्युदस्यति। स्वसम्प्रदायेति।

भाषानुवाद

यहाँ पर यह शङ्का होती है कि जो वाणी से न कहा जाय जिसकी सामर्थ्य से बाणी भी अर्थ को प्रकाश करती है, उसको ब्रह्म जानो जिसकी उपासना करते हो वह ब्रह्म नहीं है। इस श्रुति से उपासना का विषय जो वस्तु है उसको ब्रह्मत्व का निषेध हो चुका तब आपकी उपासना विधि निष्फल है। उक्त शङ्का का समाधान इस प्रकार है कि यह सम्प्रदाय अनादि और वैदिक है इस सम्प्रदाय के आचार्य भगवदवतार सनन्दनादि महर्षि है, उन्हों का वचन स्वतः प्रमाण हैं। क्योंकि उन्हों में भ्रम प्रमादादि दोष नहीं है अतएव श्रीसनन्दनादि मुनि आप्ततम है यह मुनि शब्दका भाव है। श्रीनारदायेति। भगवदवतार श्रीसनत्कुमारजी ने देवर्षि श्रीनारदजी से इस अर्थ को उपदेश किया उस ही तत्व को श्रीनारदजी ने मेरे को उपदेश किया उस ही अर्थ को मैंने कहा है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

सनन्दनादीनां भगवदवतारत्वात् तदुपदेशस्य प्रमाणान्तरनैरपेक्ष्यं सूचयति सनन्दनशब्दप्रयोगादेवेति भावः। मुनिभिरित्यनेन च तेषु अप्रमाण

कारणानां प्रमादादीनामयोगात् आप्ततमत्वमुक्तम् । उपदेशवैभवदानस्य सम्प्रदानोत्कर्षादपि अन्यप्रमाणनैरपेक्ष्यमित्याह—श्रीनारदायेति । अस्मद् गुरवे इत्यर्थः । तेनैव मह्यं यदुपदिष्टं तदेवात्रोक्तं मयापीति शेषः । श्रीगुरुं विशिनष्टि—अखिलतत्त्वसाक्षिणे इति । सर्वतत्त्वविषयकप्रत्यक्षानुभवाश्रय भूताय सर्वज्ञायेति ।

कुञ्चिका

तेषु = सनन्दनादिमुनिषु = प्रमादादिति । आदि ना भ्रमविप्रलिप्सा करणापाट वानां सङ्ग्रहः । अनवधानतान्यचित्ततालक्षणः प्रमादः । येनान्तिके गीयमानं न गृह्यते । वञ्चनेच्छा विप्रलिप्सा । यया शिष्ये स्वज्ञातोऽयर्था न प्रकाश्यते । इन्द्रियमान्द्यं करणा-पाटवं येन दत्तमनसामपि यथावत् वस्तु न परिचीयते ।

भाषानुवाद

अखिलतत्त्वसाक्षिण इति । सर्वतत्त्वके प्रत्यक्ष द्रष्टा चतुर्वेद समन्वित वेदार्थ रूपश्रीपञ्चरात्र के प्रवर्तक सर्वज्ञत्वादि गुण सम्पन्न श्रीनारदजी को श्रीसन-कादिकों ने जिस उपासना का उपदेश किया, श्रीनारदजी ने मेरे को उसी उपासना का उपदेश किया अतः यह उपासना अनादि सम्प्रदाय सिद्ध है ।

वेदान्त रत्नमञ्जूषा

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितमिति वचनात् स वेदार्थ रूप श्रीपञ्च-रात्रप्रवर्तकायेति भावः । ननु सोऽहं भगवः शोचामि तं मां शोकस्य पारं दर्शयत्वित्यादेस्तस्यैव वचनेन नारदस्य शोकाश्रयत्वश्रवणात्कथं सर्वज्ञ त्वमितिचेन्न । उपदेशोत्तरकालीनत्वादाचार्यांणां वाक्यस्य । श्रीसनन्द-नादिचरणोपसत्तेः पूर्वं शोकवत्त्वेऽपि श्रीभगवद् गुरूपदेशेन सकारणशोक निवृत्या सर्वज्ञतासिद्धेरित्यथाः । तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार इति वाक्यशेषश्रवणात् । यद्वा श्रीनारदस्य भगवतः सार्वज्ञ-योगेऽपि सर्वलोकोपकारार्थकावतारत्वाद् गुरूपसत्तिरूपाधिकारं ग्राहयितुं श्रीपुरुषोत्तमलीलाऽनुकरणवदज्ञत्वाऽनुकरणं बोध्यम् । तथाचोभयवाक्यस्य नैराकाङ्क्ष्यादविरोध इत्यर्थः ॥

कुञ्चिका

सोहं भगव इत्यादि वाक्येभ्यः श्रीनारदस्य शोकाकुलतया कथं तस्य सर्वज्ञत्व मिति शङ्कते । नन्विति ॥ आचार्यचरणोपदेशात् प्रागेव श्रीनारदस्य शोकाकुलत्वं नतु

तदुर्द्ध मपि तस्य तथात्वमित्याशयेन परिहरति नेति । प्रकारान्तरेणोक्तशंकां व्युदसितु माह यद्वेति ।

भाषानुवाद

प्रश्न—सोऽहं भगवः शोचामि इत्यादि श्री नारदजी के बचनों से स्पष्ट जाना जाता है कि श्रीनारदजी शोक ग्रस्त हैं अतएव सर्वज्ञता सम्पन्न नहीं हो सकते हैं फिर उन्हों का उपदेश कैसे प्रमाणित हो सकता है। उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि श्रीनारदजी श्रीसनन्दन के चरण के शरणागति के पहिले शोक ग्रस्त होने पर भी शरणागति के पश्चात् श्रीसनन्दन भगवान के उपदेशानन्तर श्रीनारदजी सर्वज्ञता सम्पन्न हो सकते हैं। यह वार्ता "तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति" इस बचन से स्पष्ट है। अर्थात् भगवान् सनत्कुमार समस्त कषायों से रहित श्रीनारदजी को अविद्या का पार दिखलाते हैं। अथवा सर्वज्ञ होने पर भी श्रीनारदजी लोकों के कल्याणार्थ अवतार ग्रहण कर शरणागति की शिक्षा देने के लिये श्री पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की लीला अनुकरण के समान अज्ञ का अनुकरण कर "सोहं भगवः शोचामि" इत्यादि प्रार्थना की।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

अयं भावः। नेदं यदिदमुपासत इत्यनेन ब्रह्मण उपास्यता निषिद्धेति सत्यं, तथापि परिच्छिन्नोपासनविषयक इति निश्चीयते। तथाचात्रैवादौ नामाद्यनेकपरिच्छिन्नोपासनं विधायान्ते भूमविषयकोपासनस्यैवोपदेश विधानश्रवणात्। अन्यथा तदनुपपत्तेः। तथाह्याम्नायते छान्दोग्ये—

कुञ्चिका

उभयवाक्येति। सोऽहं भगवः शोचामीति वाक्यस्य तस्मै = मृदितकषायाय तमसः पारमिति वाक्यस्यचेत्यर्थः। उक्तश्रुतीनामध्यासादिरूपोपासनपरत्वेन तन्निषेधस्य युक्तत्वान्नोक्तलक्षणब्रह्मनिषेधपरत्वम् आरोप्यस्यैव निषेधविषयत्वं न प्रमाणसिद्धवस्तुन इति न्यायस्य सर्वसंमतत्वात् यथाऽन्यत्र नद्यादिजले गङ्गात्वमारोप्य पुनर्नेदं गङ्गात्व-मितिनिषेधसम्भवान्नसाक्षाद् विष्णुपादोदक्यां भागीरथ्यां तन्निषेधावकाशः। यथा वा पुरुषोवा वगौतमाग्निर्योषिद्वा वगौतमाग्निरित्यादिपञ्चाग्निविद्यायां योषित्पुरुष योरुपासनार्थ मग्नित्वमारोपितं रूपकरीत्या तन्निषेधश्चेदर्हत्येव नतु प्रसिद्धेऽग्नौ तन्नि-षेधस्पर्शः। प्रमाणसिद्धत्वात्तथा प्रकृतेऽपि अतद्वस्तुषु "मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादि श्रुत्यु-क्तेषु मनोवागादिष्वारोपितब्रह्मत्वनिषेधो न सर्वेश्वरे साक्षाद् ब्रह्मणि तत्स्पर्शः। एतच्च नेदं ब्रह्मेतीदङ्कारेणैवद्योत्यमानत्वान्नश्रुतार्थत्यागाश्रुतकल्पनाप्रसङ्गोऽवतारणीयः— ।

इदङ्कारास्पद प्रपञ्चविलक्षणं ब्रह्मेति श्रुत्यर्थः। अन्यथा प्रमितस्यैव निषेधे वेदस्यैवोन्मत्त तापत्तेः। तच्चानिष्टमेव बौद्धमतापत्तेरित्याशयेनाह, अयं भाव इति ॥

भाषानुवाद

यहाँ पर यह भाव है कि "नेदं यदिदमुपासते" इस श्रुति के द्वारा विश्वात्मा वासुदेव परब्रह्म विषयक उपासना का निषेध नहीं किया किन्तु परिच्छिन्न उपासना का निषेध है। आरोप्य वस्तु का ही उत्तर काल में निषेध किया जाता है, प्रमाण सिद्ध वस्तु का निषेध नहीं होता। जैसे नदी, सरोवर, कूपादि में गङ्गा का आरोप कर उत्तर काल में यह गङ्गा नहीं है किन्तु नदी है यह निषेध किया जाता है, साक्षात् विष्णु के पादोदक स्वरूप भागीरथी श्री गङ्गा में गङ्गा का निषेध नहीं होता। जैसे अग्नि विद्या में "पुरुषो वावगोतमाग्निः" इत्यादि श्रुतियों में पुरुष तथा स्त्री में उपासना के लिये अग्नि का आरोप कर उत्तर काल में उसका निषेध करते हैं, किन्तु प्रसिद्ध अग्नि में अग्नि का निषेध कोई नहीं करता वैसे ही ब्रह्म अतिरिक्त नाम वागादि में उपासनार्थ ब्रह्म का आरोप कर उत्तर काल में उसका ही निषेध "नेदमिदमुपासते" इत्यादि श्रुति करती है। यदि ऐसा न मानो तो छान्दोग्य उपनिषद् में भूमा की उपासना विधान करने वाली श्रुतियों की उपपत्ति नहीं हो सकती है, अतः पूर्व उपदर्शित कथन ठीक है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद् वेत्थ तेन मोपसीद ततस्तऊर्ध्वं वक्ष्यामीति, सहोवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देव विद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पविद्यां देवयजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नाऽऽत्मविच्छ्रुतं ह्येव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति, तं होवाच यद्वै किञ्चिदध्यगीष्ठा नामैवैतदित्युक्त्वा, नाम वा ऋग्वेद इत्यादिना नाम्न एव सर्वविद्यारूपतां विधाय, नामोपास्वेति नामोपासनमुपदिश्य, यो नाम ब्रह्मेत्युपासते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवतीति फलं-चोपदिष्टम्। एवमेव वाङ्मनः संकल्पादिविशेषकोपासनानामुत्तरोत्तरभूयस्त्वं तत्फलानामपि तथात्वं चोक्त्वा अवसाने भूमोपासनमुपदिष्टवान्, यो वै भूमा तदेव सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञासे इति।

छान्दोग्य वचनान्युदाहरति । अधीहीमिति । एषां वाक्यानामार्थस्तु स्वयमेवोपरिष्टा-द्दयति । अस्यार्थ इत्यादिना ।

भाषानुवाद

शरणागति की विधि के अनुसार श्रीनारदजी ने भगवान् सनत्कुमार की शरण में जाकर शोक से पार होने का उपाय जानने की प्रार्थना की । श्रीनारदजी की उक्त प्रार्थना को सुनकर श्रीसनत्कुमारजी ने कहा । यद्वेत्थत्यनेन । कि तुमने जो अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त किया है उसको हमसे कहो । इसके अतिरिक्त जो ज्ञातव्य होगा । उसको मैं तुमसे कहूँगा । श्रीसनत्कुमार के उक्त आदेश को सुनकर नारदजी ने कहा— "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणमित्यादि" कि मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, देव विद्या, ब्रह्मविद्या भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या देवयजनविद्या इत्यादि सब का ही अध्ययन किया है किन्तु फिर भी 'सोऽहंभगव शोचामि" मैं शोक ग्रस्त हूँ । श्रीनारदजी के उक्त वाक्यों को सुनकर श्रीसनत्कुमारजी ने कहा कि इतने अध्ययन से भी तुम्हारे शोक का क्या कारण है ? यह सुन श्रीनारदजी ने कहा कि "मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतं भगवद्दशेभ्यस्त रतिशोकमात्मवित्" मैं मन्त्र (वेद के आनुपूर्वी वाक्य समूह) का ही जानने वाला हूँ किन्तु आत्मज्ञान से शून्य हूँ और मैंने आपके समान भगवज्जनों से सुना है कि चेतन और अचेतन स्वरूप जगत के आत्मा परब्रह्म के स्वरूप गुणादि का प्रत्यक्ष द्रष्टा पुरुष ही सम्पूर्ण शोकों से निवृत्त होता है वह ज्ञान मुझे प्राप्त नहीं है इसलिये पूर्वोक्त सभी पढ़ने पर भी शोकग्रस्त हूँ । "यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि श्रुति पूर्व कथित ब्रह्म स्वरूप गुणादि के दर्शन से जीव की शोक निवृत्ति होती है इसको प्रमाणित करती है । श्रीसनत्कुमारजी-श्रीनारदजी की उक्त प्रार्थना को सुनकर नामब्रह्मेत्युपासीत इत्यादि वाक्यों को प्रथम अल्पफल देने वाली परिच्छिन्न कतिपय उपासनाओं का उपदेश दे सब के अन्त में समस्त फल को देने वाली "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" इत्यादि वाक्यों के द्वारा भूमा की उपासना का उपदेश देते हैं । अब भूमा की ही उपासना करनी चाहिये इसका कारणदिखाते हैं । "यो वै भूमा तदेवसुखं नाल्पे सुखमस्ति" जो भूमा है वही पूर्ण सुख का स्थान है । अल्प (ब्रह्मातिरिक्त अन्यान्य देवता) में पूर्ण सुख का स्थान नहीं है । सुतरां पूर्ण सुख प्राप्ति इच्छुक जीव को भूमा की ही उपासना करनी चाहिये । यहाँ पर भूमा पद का अर्थ ब्रह्म

तथा "सुख" पद का अर्थ मोक्ष सुख है। इस प्रकार की शिक्षा प्राप्तकर श्रीनारदजी भूमा को विशेष रूप से जानने की इच्छा से जिज्ञासा करते हैं कि "भूमानं भगवो विजिज्ञासे" मैं भूमा को विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ। अतः कृपाकर भूमा और अल्प का लक्षण बतलाईयेगा।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

यत्रनान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा, अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तद-ऽमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं, सः भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? स्वेमहिम्नि यदि वा नमहिम्नीति। गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षत हस्ति हिरण्यं दास-भार्या क्षेत्राण्यायतनानि इति नाहमेवं ब्रवीमीति हो वाचान्योह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति स एवाधस्तात् स एव उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्म क्रीड़ आत्ममिथुनः आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोकाभवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति तस्य वा एतस्यैवं पश्यत इत्यारभ्य आत्मन एवेदं सर्वमिति, न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां।

भाषानुवाद

श्रीसनत्कुमारजी श्रीनारदजी के उक्त प्रश्न के अनुसार भूमा और अल्प का का लक्षण कहते हैं कि "यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा अथ यत्रान्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्" जिस भूमा की उपासना में पूर्वोक्त नाम वागादिकों की उपासना के समान नामादि रूप अवच्छेदकों को न देखें, न सुनें, न जाने जांय उसको भूमा कहते हैं। अर्थात् देशकाल तथा वस्तु आदि के परिच्छेद (आवरण) से रहित सब के आश्रयभूत श्रीकृष्ण ही भूमा शब्द से प्रति-पादन किये हैं और जिससे नाम वागादि उपासनाओं में अवच्छेदक नाम वागादि देखे जाते हैं सुने जाते हैं। जाने जाते हैं उसको अल्प कहते हैं अर्थात् देशकाल वस्तु आदि के परिच्छेद से जो युक्त है वही अल्प है। परिच्छिन्न होने से ही अल्प नाशवान् है और अपरिच्छिन्न होने से भूमा अमृत है। इसीको "यो वै भूमा तदमृतमथयदल्पं

तन्मर्त्यम्" इत्यादि वाक्यों से बतलाया है। श्रीनारदजी के उक्त वाक्यों को सुनकर जिज्ञासा करते हैं कि "सभगवः कस्मिन्प्रतिष्ठते" यदि उस भूमा का नाम वागादि अवच्छेदक (आश्रय) नहीं है तो वह कहां रहता है ? श्रीनारदजी की उक्त जिज्ञासा का उत्तर देते हुये श्रीभूमा की सर्वोत्कृष्टता सर्वविलक्षणता तथा सर्व व्यापकता बतलाते हैं "स्वमहिम्नि" अर्थात् भूमा अपनी ही महिमा में रहता है। तब तो परिच्छिन्न होगया ? इसका उत्तर श्रीसनत्कुमारजी देते हैं "यदि वा नमहिम्नि" अर्थात् अपनी महिमा भी ब्रह्मात्मक है अतः स्वरूप से अभिन्न है। अतएव वह हम सब की भांति महिमा में नहीं रहता है। किन्तु वह अपनी स्वात्मक महिमा में ही रहता है अतः परिच्छिन्न नहीं है। गो अश्व इत्यादि वाक्य से इसी का विवरण करते है अर्थात् जगत् में साधारण जन, धन, हाथी, घोड़ा आदि को ही महिमा कहते हैं। अतः महिमाशाली महिमा से भिन्न है इसीलिये देवदत्त हाथी पर जाता है यज्ञदत्त घोड़े पर जाता है चैत्र गृह में रहता है इत्यादि प्रतीति होती है किन्तु "अथ नाहमेवं ब्रवीमि" मैं ऐसा नहीं कहता हूँ। तो आप क्या कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीसनत्कुमार भूमा को सर्वान्तरात्मा बताते हुये सर्वत्र उसकी व्याप्ति बताते हैं "स एवाधस्तात्" इत्यादि अर्थात् वह सब का अन्तरात्मा है ऊपर-नीचे पूर्व, पश्चिम उत्तर दक्षिण सर्वत्र व्याप्त है उसके बिना किसी की भी सत्ता नहीं सम्पूर्ण वस्तुओं में उसकी सत्ता है। इस प्रकार भूमा की सर्वान्तर्यामिता तथा सर्व व्यापकता का निरूपण कर उसके उपासकों को ही पूर्ण फल प्राप्त होता है यह दिखलाते हैं। 'सवा एष एवं पश्यन् एवं विजानन्" इत्यादि "सस्वराड् भवति तस्यसर्वलोकेषु कामचारो भवति" अर्थात् वह उपासक इस प्रकार ब्रह्म को सर्वत्र देखता हुआ, सर्वत्र मानता हुआ, सर्वत्र जानता हुआ भगवान् में अनुरक्त होता है। अपने शरीर तथा विषयादिकों में नहीं, वह भगवान् के साथ क्रीडा करता है किन्तु लौकिक क्रीडा नहीं करता हैं। अतः एकमात्र भगवान् ही उसके साथी है—स्त्री पुत्रादि नहीं। वह भगवान् से ही आनन्द को प्राप्त होता है। बाह्य विषयों तथा उसके साधनभूत सम्पत्ति आदि से नहीं। वह भगवान् के द्वारा ही प्रकाशमान होता है किन्तु इन्द्रियों और सूर्य चन्द्रादि से नहीं। क्योंकि उस अवस्था में उसके स्वाभाविक सार्वज्ञादि गुण प्रकट होते हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः। स एकधा भवति त्रिधा

भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशधा स्मृतः, । शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशति आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार इति ॥

भाषानुवाद

यहाँ पर यह शंका होती है कि "यत्रनान्यत्पश्यति" इस श्रुति के द्वारा द्वितीय वस्तु का दर्शन मात्र का निषेध किया है। तब भूमा के स्वरूप गुणादि विषयक अनुभवाश्रय मुमुक्षु किस प्रकार से हो सकता हैं। इस शंका का निवारण इस प्रकार है कि उपासक जन को सर्वज्ञता और आप्तकामता की प्राप्ति होती है। इस अर्थ को 'सर्वं हपश्यति" इस श्रुति के द्वारा प्रामाणित करते हैं। उक्त श्रुति का अर्थ दिखलाते हैं। सर्वेति। सर्व देशकाल वस्तु विषयक ज्ञान का आश्रय उपासक जन होता है। सर्व प्रकार सर्व वस्तु को प्राप्त होता है। अर्थात् वह उपासक आप्त काम हो जाता है। उपासक जन को अनेक रूप धारण करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस अर्थ को श्रुति के द्वारा प्रमाणित करते हैं। स एकधेति' अपनी स्वअसाधारण शक्तियों के आविर्भाव होने से भगवदिच्छानुकूलस्वसङ्कल्प से अपरिमित स्वरूप धारण कर सकता है। अब साधन की परम्परा कहते हैं। तत्रेति आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती हैं अन्तःकरण की शुद्धि से ध्रुवा स्मृति होती हैं। वही भगवत्साक्षात्कार का असाधारण साधन हैं। ध्रुवास्मृति से सर्व ग्रन्थियों का नाश होता है। यह विषय साधन निर्णय में विस्तार से निरूपण किया जायगा। अब भूमा की उपासना को उपसंहार=समाप्ति करते हैं तस्मै ॥ इति ॥

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

अस्यार्थः—श्रीनारदः सनत्कुमारमुपससाद उपसत्ति विधिपूर्वकं शरणं जगामेत्यर्थः। हे भगवः शोकतरणोपायम् अधीहि शिक्षयेति प्रार्थयामासेतिशेषः। तमुपसन्नं नारदं श्रीसनत्कुमार उवाच, यद्वेत्थेत्यादि। त्वयाधीत्य यावज्ज्ञानं सम्पादितम् तावत्सर्वमनूद्यतां ततऊर्द्धं यत् त्वया नाधीतं स्यात् तद् वक्ष्यामीति। एवं श्रीगुरुणा विद्यानुवादे संप्रेरितः स नारद उवाच—ऋग्वेदमित्यादि। तत्रैतद्भगवोऽध्येमीत्यन्तः स्पष्टार्थको ग्रन्थः। विद्यानुवाद

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

रूपत्वात् ततश्च सोहमित्यादि प्रार्थनेतिविभागः सोहंभगवः शोचामि एतत्पूर्वोक्तं सर्वमध्येमि अधीतवानपि शोको मां न मुञ्चतीत्यर्थः। ननु ईदृक्विद्यावतोपि शोकानिवृत्तौ किंकारणमित्यत आह मंत्रविदेवास्मीति अन्ययोग व्यवच्छेदार्थकावधारणं स्वयमेव व्याकुर्वञ्छोक कारणं स्वयमेव स्फुटयति—श्रुतमिति। भगवद्दृशेभ्यो महद्भ्यो मयैतच्छ्रुतम्, तरति शोकमिति। आत्मवित्=चेतनाऽचेतन जगदात्मभूत परब्रह्म स्वरूपगुणाऽऽदिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानाश्रयः पुमान् सकारणं शोकं तरतीति। यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपिनोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति चेत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्य स्तथा भूत ज्ञानाभावः शोककारणमित्याह—नात्मविदस्मीति। सर्वविद्यासु सतीष्वपि आत्मज्ञानशून्यत्वाच्छोचामीति भावः। एवं प्रार्थितः करुणाब्धिः। तं हो वाच यद्वै किञ्चिदध्यगीष्ठा नामैवैतन्नामोपास्वेत्यादिना वागाद्यल्पफलकपरिच्छिन्नोपासनमुपदिश्य पूर्णं पूर्ण फलकं भूमोपासनमुपदिशति भगवान् सनत्कुमारः—यो वै भूमेति। एतेन सुख दुःख कारणयोर्भूमाल्पयोरुद्देश उक्तस्तयोर्भूमैव विधेय इत्युपदिशीत—भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति। तदेव सूत्रितं भगवता बादरायणेन, अथातो ब्रह्म जिज्ञासेति। तत्र हेतुः—

कुञ्चिका

श्रुत्यर्थं व्याचष्टे। चेतनाचेतनेत्यादिना "पश्यः" ब्रह्मदर्शी "रुक्म वर्णम्" स्वर्णवद्देदीप्यमानं "कर्त्तारमीशम्" सर्वनियन्तारं ब्रह्माचतुर्मुख स्तस्ययोनि कारणं 'तदा' विद्वान् विद्यायुक्तः। अत एव निरञ्जनः सन् माया संसर्ग रहितः प्रत्यगात्मा "परमं" सर्वोत्कृष्टम् 'साम्यम्" नित्यसम्बन्धम् उपैति। प्राप्नोतीत्यर्थः। उक्तार्थं श्रीमुखवचनेन द्रढयति। इदं ज्ञान मिति।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

भूमैवसुखमिति। अत्रभूम शब्दो ब्रह्मपर्यायः सुखशब्दश्चानन्द पर्यायः। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते इत्यादि

लक्षण वाक्यात्। एवमनुशिष्टो नारदस्तमेवोद्दिष्टं पृच्छति—भूमानं भगवो विजिज्ञासे इति एवं पृष्टो भगवान् सनत्कुमारः पूर्वोद्दिष्टयोर्भूमाल्पयोर्लक्षणमाह—यत्र नान्यदिति। यत्र यस्यां भूमजिज्ञासायां पूर्वोक्त नामाद्युपासनेस्विवान्य दवच्छेदकं नामादिकं न पश्यति न शृणोति नविजानाति स भूमेति देशकाल वस्तु परिच्छेदशून्यः सर्वसमानाधिकरणार्हो भगवान् भूम शब्दाभिधेय इत्यर्थः। भूमा संप्रसादादध्युपदेशादिति सूत्रात् यत्र येषु पूर्वोक्तेषु नाम वागाद्युपासनेषु अन्यदवच्छेदकं वागादि रूपं पश्यति शृणोति विजानाति वा तदल्पं परिच्छिन्न मन्तवच्चेत्यर्थः। अपरिछिन्नत्वादेव भूम्नः अमृतत्वं, कालादि परिच्छिन्नत्वादेवाल्पस्य मर्त्यत्वमित्याह—यो वै भूमातदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यमिति। यदि पूर्ववत्तस्योपाधिरूपमवच्छेदकं नाम वागादिकं नास्ति तर्हि स कुत्र आस्ते इति पृच्छति—स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। तत्रोत्तरमाह—

स्वमहिम्निति। तर्हि परिच्छेदो दुर्वार इत्याशङ्क्य यदि वा नस्वमहिम्नीति स्वमहिम्नो ब्रह्मात्मकत्वेन स्वाभिन्न सत्तात्वात्। तदेव विवृणोति—गो अश्वमित्यादि। इह लोके गवादि महिमेत्याचक्षते इति। यथा चैत्रज्ञानां गवादयो महिमानस्तेषां तदन्यत्वेन तदन्यत्रावस्थान नियामद् अश्वे देवदत्तो हस्तिनि यज्ञदत्तः क्षेत्रे आयतने वातिष्ठतीति प्रत्ययो जायते, नात्र तथा नियमोऽपित्वात्मधारत्वमेवेत्याह—अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठिते यथानाह मेवं ब्रवीमीति। कथमुच्यते तर्हि भवाद्भिरित्य पेक्षायां तस्य सर्वान्तरात्मत्वं विधास्यन् सर्वत्र व्याप्त्या सर्वस्य तद्विनाभावनियममाह—सएवाधस्तादित्यादि। एवं तस्य विश्वान्तरात्मत्वं विश्वव्याप्ति योगं चोक्त्वा पूर्णत्वात् पूर्ण फलकत्वमाह—स वा एष एव पश्यन्नेवं मन्वान इत्यादिना। आत्मनि ब्रह्मण्येव रतिर्यस्य, नाहम्ममास्पदयोः, शब्दादि पञ्चेन्द्रिय विषयेषु वस्त्रालङ्कारादिषुवेति। तथैव आत्मना विष्णुनैव सह क्रीडायस्य, न लौकिकैः क्रीडोपकरणैरतएवात्मा भगवानेव मिथुनं यस्य, न भार्यादि। ततश्चात्मना तेनैवानन्दो यस्य,

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति बाक्यान्तराद् न वाह्य विषयैस्तत्साधनैर्वेति। तथा यत्त्यन् क्रीडन् रममाणः सह ब्रह्मणा विपश्चितेति वाक्यान्तरात् स उक्त लक्षणः पुमान् स्वराडिति स्वेनैव भगवता विश्वान्तरात्मना

राजते दीप्यते, नेन्द्रियादिभिः सूर्यादिभिर्वा प्रकाशकारणैरिति तथा सार्वज्ञादि विकासात्। तच्चानन्तरमेव प्रतिपादयिष्यते, सर्वं ह पश्यति इत्यादिना। अथोक्तोपासनदार्ढ्यार्थं परिच्छिन्नोपास्य विषयक परिच्छिन्नफलकान्यदेवाद्युपासनपरान् मूढान् निन्दति भगवती श्रुतिः—अथयेऽन्यथाऽतोविदुरिति। अथेति पक्षान्तरे। ये मूढा, अत उपदिष्ट सिद्धान्ताद् विपर्ययं देवान्तरं उपास्यत्वेन निश्चितवन्तः। कथमिव जानन्ति ते इत्यपेक्षायां तेषां ज्ञानस्यानुकरणमाह—अन्य राजान इति। अन्ये ब्रह्मरुद्रेन्द्रादयोऽपि राजान इति मोक्ष दातारः स्वतन्त्रा मोक्षार्थिनोपासितव्या इति तेक्षय्यलोकाः स्वर्गपशुपुत्रादयो जन्मादि लक्षणसंसरणहेतवो भवन्ति। तेषां क्षेत्रज्ञत्वाविशेषेण मोक्षदातृत्वायोगाद् अस्वातंत्र्याच्च मोक्षदानानर्हत्वं शिवेोपदिष्टं, स्वानुभूतं चाह घण्टाकर्णो हरिवंशे कैलाश यात्रायाम्—

भाषानुवाद

इस प्रकार उपरोक्त उपासना को पुष्ट करते हुये अल्प फल को देने वाले परिच्छिन्न देवों की उपासना करने वालों को बारम्बार संसार चक्र में घूमना पड़ता है इसीका प्रतिपादन करते हैं-"अथ य अन्यथाऽतोविदुरन्यराजानस्तेक्षय्य लोका भवन्ति" इत्यादि जो मूढ़ ऊपर बतलाई हुई उपासना के विपरीत अन्य देवों की उपासना करते हैं "अर्थात् ब्रह्म के बिना ब्रह्मा शिवशक्ति, इन्द्रादि भी मोक्ष प्रदाता हैं। अतः यह भी स्वतंत्र रूपेण मुमुक्षुओं के उपास्य हैं। यह मानकर क्षुद्र फल प्रद देवों की उपासना करते हैं। वह स्वर्ग, पशु, पुत्रादि रूप संसार को ही बारम्बार प्राप्त होते हैं; क्योंकि उपरोक्त सभी देवता जीव विशेष होने के कारण परतन्त्र हैं अतः मोक्ष देने में असमर्थ हैं।

वेदान्त रत्नमञ्जूषा

अहं कैलाशनिलयमासाद्य वृषभध्वजम्। आराध्यतं महादेवमस्तुवं सततं शिवम्। ततः प्रसन्नो मामाह वृणीष्वेति वरं हरः। ततो मुक्तिर्मया तत्र प्रार्थिता देवसन्निधौ। मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः। मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः। तस्माद् गत्वा च बदरीं तत्राराध्य जनार्दनम्। मुक्तिं प्राप्नुहि गोविन्दान्नरनारायणाऽऽश्रमे इत्यादि। भारते पारतन्त्र्यमपि तेषां स्फुटमेव—युगकोटि सहस्राणि विष्णुमाराध्यपद्मभूः। पुनस्त्रैलोक्यधा-

वृत्वं प्राप्तवानिति शुश्रुम इति । महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा हुत्वात्मानं देवदेवो बभूव । विश्वाँल्लोकान् व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या विराजते द्युतिमान् कृत्तिवासा इति तत्रैव । योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरिति वाक्यान्तरात् । योयो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् । सतया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् । अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्य-ल्पमेधसामिति भगवद्वचनाच्च तस्मात् तुच्छफलकत्वात् तुच्छोपासनं त्याज्यं मुमुक्षुभिरिति भावः । तच्चोपरिष्टात् व्याख्यास्यामः । एतेनैव पूर्वोक्तानामपि नाम वागाद्युपासनानां तुच्छत्वमुक्तं भवति । किञ्च तेषामत्रैवाऽन्तर्भावो–

भाषानुवाद

जो सर्व स्वतंत्र नहीं वह मोक्ष भी नहीं दे सकता। है यह हरिवंश पुराण के घण्टा कर्ण उपाख्यान पढ़ने से स्पष्ट जाना जाता है। "अहं कैलाशनिलयमासाद्यवृष-भध्वजम् । अराध्यमहादेवमस्तुवं सततंशिवम् । ततः प्रसन्नोमामाहवृणीष्वेति वरं हरः । ततोमुक्तिर्मयातत्र प्रार्थिता देव सन्निधौ । मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः । मुक्तिः प्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः । तस्माद्गत्वातुबदरींतत्राराध्यजनार्दनम् । मुक्तिं प्राप्नुहि गोविन्दान्नरनारायणाश्रमे ।" अर्थात् मैं (घंटाकर्ण) कैलाश पर गया वहाँ पर बहुत समय तक वृषभध्वज की आराधना की। हमारी अनवरत उपासना तथा स्तव से प्रसन्न हो शिव ने दर्शन दिये और वर माँगने को कहा। मैंने भी उनसे मुक्ति-रूप वर की प्रार्थना की। हमारी प्रार्थना को सुनकर शिव ने कहा कि हे उपासक! मुक्ति देने वाले तो एकमात्र विष्णु भगवान् ही हैं अन्य कोई नहीं अतः मैं तुमको युक्ति बताता हूँ कि तुम नरनारायणाश्रम में जाओ वहाँ गाविन्द भगवान् की आराधना कर उनसे मुक्ति लाभ करो। इसी प्रकार ब्रह्म आदि भी मुक्ति देने में असमर्थ हैं। अतएव गीता में भगवान ने भी स्वमुख से कहा है कि "अन्तवत्तुफलंतेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्" अर्थात् मन्द बुद्धि वाले उन उन देवताओं के भक्तों को नाशवान् ही फल मिलते हैं। अतः अल्प फलप्रद देवताओं की उपासना मुमुक्षुओं को त्याज्य है। इसी से नाम वागादि उपासनाओं को तुच्छ बतलाया है और जिस प्रकार भोजन के लिये अग्नि जलाने पर शीत की निवृत्ति स्वतः हो जाती है उसी प्रकार उक्त भूमा की उपासना करने पर पूर्वोक्त लक्षण अधिकारियों को पूर्वोक्त देवों की उपासना का फल भी स्वतः प्राप्त हो जाता है क्योंकि भूमा ही सर्वान्तरात्मा है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

वृक्षस्य मूल निषेचने स्कन्ध शाखा पत्रपुष्पादि निषेचनवद् भगवतो विश्वरूपत्वेन सर्वमूलत्वादित्याह तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत इत्यारभ्य, आत्मन एवेदं सर्वमित्यन्तेन । आत्मनो भगवत एव तस्य पूर्वोक्त लक्षणस्याधिकारिणः पूर्वोपदिष्टानां प्राणाद्युपासानानां फलसम्पत्तिर्जायते इति निर्गलितः सर्व वाक्यार्थः । उक्तोपासनानुवादः स्पष्टार्थकः । किञ्चास्याऽवान्तरफल सम्पत्तिरपि स्वतोऽनायासेनैव जायते, पाकाद्यर्थं ज्वलितादग्नेः काष्ठदाहवदित्याह—नपश्य इत्यादि । पश्यः भूम्नः स्वरूप गुणादि विषयक प्रत्यक्षानुभवाश्रयो मृत्युं न पश्यति, प्रमादं न गच्छतीति । प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमीति वचनात् । न रोगम् आध्यात्मिकादि तापं, नोत दुःखतां कामक्रोधादिहेतुकेन्द्रिय ताडन रूपाम् । "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः । कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत्" इति भगवद्वचनात् । ननु यत्र नान्यत् पश्यतीत्यादिना सामान्यपद प्रयोगाद् द्वितीयवस्तु विषयक दर्शनमात्रं निषिद्धयते । कथमन्यथा व्याख्यातमित्याशंकां निरस्यँस्तस्य सार्वज्ञयोगं समवाप्तकामत्वं चाह—सर्वं ह पश्यतीति सर्वदेश कालवस्तुविषयक ज्ञानवान् भवति । सर्वशः सर्वप्रकारेण सर्वमाप्नोतीति आप्तकामो भवतीति यावत् । तस्यशक्तियोगमाह—स एकधेत्यादिना । भगवदिच्छानुरूप संकल्पमात्रेणैकधा सहस्रधा भवनशीलो भवतीति समुदायार्थः । तत्र साधनपरम्परामाह—आहार शुद्धविति । एतद्वाक्यमग्रे साधननिर्णये व्याख्यास्यामस्तस्य तत्रोपयोगादत्रोपरम्यते । अथोप संहरति—

तस्मा इति । तस्मै उपदिष्टार्थ ग्रहण चतुराय, तत्र हेतुः—मृदित कषायाय, जन्मत एव शुद्धत्वात् । स्पष्टार्थ बोऽवशिष्टो ग्रन्थ इति संक्षेपार्थः । किञ्चारोप्यस्यैव निषेधविषयत्वं, न प्रमाण सिद्धस्य वस्तुन इति न्यायस्य सर्वसाधारणत्वात् । यथाऽन्यत्राऽगाङ्गे जले गङ्गात्वमारोप्य पुनर्नेदं गाङ्गमिति निषेधस्य संभवात्, नतु साक्षाद्विष्णुपादोदकयां भागीरथ्यां गङ्गात्व निषेधोऽपि प्रमाण पदवी माप्यते, अपितु बालभाषितमिवाप्रमाणतामेव याति । यथा वा—पुरुषो वा व गौतमाग्निर्योषिद्वा व गौतमाग्निरित्यग्निविद्यायां योषित्पुरुषयोरुपास-

नार्थ मग्नित्वमारोपितं रूपकरीत्या तन्निषेधश्चेदर्ह एव, नतु प्रसिद्धेऽग्नि होमाऽग्नौ तन्निषेधस्पर्शः प्रत्यक्षमान सिद्धत्वात् । तथा प्रकृते अतद्वस्तुषु, नाम ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादि श्रुत्युक्तेषु वागादिषु आरोपित ब्रह्मत्वनिषेधो, न तथा सर्वेश्वरे साक्षात् परब्रह्मणि पुरुषोत्तमे तत्स्पर्शावकाशः । तत्तु, नेदं ब्रह्मेतीदं कारेणैव द्योतमानत्वान्नाऽश्रुतार्थ कल्पना प्रसंगोऽत्र संभाव्यः । इदंकारास्पद नामादि प्रपञ्चात्यन्त विलक्षणं ब्रह्मेति वाक्यार्थः । तस्मादुपास्य एव परब्रह्मभूतः श्रीपुरुषोत्तमः सर्ववेदान्त वेद्य इति सिद्धम् । अलमति विस्तरेण ॥६॥

कुञ्चिका

प्रागुदाहृतानां श्रुतीनां नोक्तलक्षण ब्रह्मनिषेधपरत्वमिति शास्त्रै कप्रमेय ब्रह्मणो निषेधायोगादित्याह किञ्चेति न प्रमाणसिद्धेत्याद्यवधारणार्थः । उक्तसिद्धान्तं लौकिवैदिक दृष्टान्ताभ्यामुपमिनोति यथाऽन्यत्रेति । ननु तर्हि स्वार्थत्यागपरार्थकल्पना प्रसक्तेर्मुख्यार्थबाधोऽवश्यं भाविब्रह्मेति सामान्य निर्देशादितिचेत्तत्राह तत्विति ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

इत्थं तावता तत्त्वमसि सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्य वृति तत्त्वमादिपदार्था निरूपिताः । तत्र ज्ञानस्वरूपमित्यादि श्लोकद्वयेन त्वं पदार्थः, अप्राकृतमित्येकेन श्लोकेनेदं पदार्थः, स्वभावतोऽपास्तमित्यादि युग्मेन तत्पदार्थश्च व्याख्यातः । उपासनीयमित्येकेन श्लोकेन च तत्पदार्थस्य सर्वोपास्यत्वं तदुपासनस्य विधेयत्वं प्रतिपादितम् ।

कुञ्चिका

अश्रुतार्थ इति । कुतः, नेदमित्यत्रपठितेदङ्कारपदेनैवोक्तार्थ स्वद्योत्यमानत्वादिति नहिशास्त्रैक गम्यस्य ब्रह्मणः इदङ्कारनिर्देशविषयत्वमितिभावः । वाक्यार्थत्वाह । इदङ्कारास्पदेति । इदङ्कारनिर्दिश्योयः प्रपञ्चस्तद्विजातीयं ब्रह्मेत्यर्थः उपसंहरति तस्मादिति । प्राग्व्याख्यात श्लोकषष्ठ्यैर्योर्थोनिरूपितो तंतमर्थं शिष्यबुद्धि वैशद्यायानूद्यति इत्थंतावदिति ॥६॥

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

इदानीमुक्तोपासनस्य निदिध्यासनाख्यस्यान्तरङ्गं श्रोतव्य इत्यादि श्रुतिविधेयं वाक्यजन्यज्ञानं निरूपयँस्तत्त्वमस्यादेर्वाक्यस्यार्थमाह ॥

सर्वंहि विज्ञान मतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः ।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं त्रिरूपतापि श्रुति सूत्रसाधिता ॥७॥

सर्वंहीति हियस्मान्निखिलस्य वस्तुनः श्रुति स्मृतिभ्यो ब्रह्मात्मकत्वादतः सर्वं विज्ञानं यथार्थकमित्यन्वयः। यतस्त्रिरूपिता श्रुति सूत्रसाधिता तस्मात् साऽपि यथार्थेति अपिशब्दार्थः। उक्तार्थे प्रमाणं दर्शयन्नाह। इति वेदविन्मतम् वेदविदामौपनिषदानां।

कुञ्चिका

सप्तम श्लोक प्रतिपाद्यार्थं सङ्क्षेपेण निरूपयन् श्लोकमवतारयति। इदानीमिति॥ श्लोकस्यान्वयं योजयति हियस्मादिति। अपिशब्दार्थं व्याचष्टे साऽपीति। "सा" त्रिरूपता।

भाषानुवाद

इस प्रकार पहिले 'तत्त्वमसि सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों में वर्त्तमान तत्त्वं आदि पदों के अर्थ निरूपण किये "ज्ञानस्वरूपमिति अनादि माया" इन्हीं श्लोकों के द्वारा त्वं पद का अर्थ और 'अप्राकृतम्' इस एक श्लोक से इदं पद का अर्थ 'स्वभावतोपास्त" इन्हीं दो श्लोकों से तत्पद का अर्थ प्रदर्शन किया। "उपासनीयम्" इस श्लोक के द्वारा तत्पदार्थ को सर्व जनों से उपास्यत्व और उसकी उपासना विधि का प्रतिपादन किया। अब षष्ट श्लोक के द्वारा निदिध्यासन रूप उक्त उपासना के अन्तरंग कारण "श्रोतव्य" इत्यादि श्रुतियों से विधेय वाक्य जन्य ज्ञान है। उसका निरूपण करते हुए "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुतियों का अर्थ प्रतिपादन करते हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

श्रीव्यासमन्वादीनां मतंनिर्णीतोऽर्थः सिद्धान्त इत्यर्थः। तत्रनिखिलशब्दः क्षेत्र क्षेत्रज्ञ प्रकृति पुरुषक्षराक्षरादि शब्दाभिधेयचेतनाचेतनपदार्थोपस्थापकः। प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेश इति श्रुतेः। "प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि। क्षेत्र क्षेत्रज्ञयो ज्ञानम्" द्वाविमौ पुरुषौ लोकेक्षरश्चाक्षरएवचक्षरः सर्वाणि भूतानिकूटस्थोऽक्षर उच्यते इति स्मृतेश्च। वस्तुशब्दस्तस्य मिथ्यात्वाऽवस्तुत्वासत्यत्वादि पक्षनिरसनपरः। तस्यनित्यत्वाभिधानपरत्वात्—नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानां गौरनाद्यन्तवतीति श्रुतेः। नत्वेवाहं जातुनासं प्रकृतिं पुरुषञ्चैव

विद्धयना दी उभावपि । अश्वत्थं प्राहुरव्ययमिति । स्मृतेश्च । श्रुतिस्मृतिभ्यो ब्रह्मात्मकत्वञ्च । एषसर्व भूतान्तरात्मा ।

कुञ्चिका

"तत्र" प्रकृत श्लोके निखिलशब्दार्थं विवृणोति निखिल शब्द इति । 'क्षेत्रम्" भूतेन्द्रिय सङ्घातरूपं चेतन भोगायतनम् "क्षेत्रज्ञम्" प्रत्यगात्मा । पराप्रकृति-रितियावत् (चेतनम्) तदेव क्षेत्रज्ञं जीव पुरुषादि शब्दैरभिधीयते क्षेत्र क्षेत्रज्ञौ प्रकृति पुरुष शब्दाभिधेया वित्याह "प्रकृति पुरुष इति । कुत्रचिन क्षेत्र क्षेत्रज्ञ शब्देन क्षरा क्षरा वुच्यते इत्याह क्षरा क्षरादिति ॥ उक्तार्थं श्रुतिर्प्रमाणेन द्रढयति । प्रधान क्षेत्रज्ञपतिरिति प्रधानं प्रकृतिः क्षेत्रज्ञ. जीवात्मातयोर्यतिरधिष्ठातापरमात्मेत्यर्थः ।

भाषानुवाद

जिससे निखिल वस्तु ब्रह्मात्मक है । अर्थात् चेतन और अचेतन रूप जगत का आत्मा परब्रह्म है । अतः उन्ही का विज्ञान यथार्थ है और ब्रह्म जीव माया यह तत्व त्रय भी श्रुति और सूत्रों में वर्णित है, अतः यह तीनों तत्व भी यथार्थ हैं । उक्तार्थ को वेदविन्मति इस पद के द्वारा प्रमाणित करते हैं । उपनिषद अर्थ के ज्ञाता श्रीव्यासा-चार्य और महर्षि मन्वादिकोने उक्त अर्थ का निर्णय किया अतः यह सिद्धान्त यथार्थ है । यहाँ पर निखिल शब्द क्षेत्रक्षेत्रज्ञ प्रकृति पुरुष क्षर अक्षर पद प्रतिपाद्य चेतन अचेतन पदार्थ का बोधक है । उक्तार्थ को श्रुति के द्वारा प्रामाणित करते हैं । प्रधानेति प्रधान शब्दार्थ माया क्षेत्रज्ञ-जीव इन दोनों का पति अधिष्ठाता भगवान् पुरुषोत्तम हैं इस श्रुति से माया जीव और ईश्वर यह तीन तत्व प्रदर्शन किये । उक्तार्थ को स्मृति के द्वारा भी प्रति पादन करते हैं । प्रकृति और पुरुष ये दोनों अनादि हैं । क्षेत्र पद का अर्थ शरीर है क्षेत्रज्ञ मेरा यह शरीर है ऐसे जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । इन दोनों का ज्ञान साधक के लिये आवश्यक है । इस लोक में दो पुरुष हैं एक क्षर दूसरा अक्षर है । क्षर शब्द का अर्थ देह है, अक्षर शब्द वाच्य परिणाम और नाश रहित पुरुष हैं । यहाँ पर वस्तु पद का यह अर्थ है कि उक्त तत्वत्रयो को मिथ्या मानने वाले वादियों का मत का निरासक है । यह तीनों तत्त्व नित्य है । नित्य चेतनों में परम चेतन नित्य है, गो = माया आदि अन्त से रहित है, नित्य है । इन दोनों श्रुतियों के द्वारा सिद्ध होचुका कि जीव माया और ईश्वर यह तीनों तत्त्व नित्य हैं । ईश्वर और जीव यह दोनों तत्त्व नित्य हैं, इस वार्ता को श्रीमुख के वचन द्वारा प्रमाणित

करते हैं। नत्वेवाहमिति । सर्वेश्वर मैं और तू ये सब जनाधिप काल त्रय में उत्पत्ति और नाश रहित है यह संसार रूपी वृक्ष अव्यय है। अर्थात् नाशरहित हैं। उपदर्शित श्रुति स्मृतियों के द्वारा यह सिद्ध होचुका कि ईश्वर जीव माया यह तीनों तत्त्व नित्य है। चेतन और अचेतन रूप जगत् ब्रह्मात्मक है, पर ब्रह्म इन्हीं आ आत्मा है। उक्तार्थ को श्रुति सूत्र और स्मृतियों के द्वारा प्रमाणित करते हैं। एष इति। यह परमात्मा सब प्राणि मात्र का अन्तरात्मा है।

वेदान्तरत्नमंजूषा

एषते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। एषमे आत्माऽन्तर्यामीत्यादिश्रुतेः। आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्तिचेति न्यायात् अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः सत्वं तेजोबलंधृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेवचेत्यादि स्मृतेश्च। तत् सिद्धं श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्यापि चेतनाचेतन भूतस्य जगतो ब्रह्मात्मकत्वं परब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य च विश्वान्तरात्मत्वमिति। अतः सर्वं ज्ञानं यथार्थक मिति।

कुंचिका

प्रकृतिं पुरुषञ्चैवेति। परापर प्रकृति शब्दाभिहिते शक्तिद्वे क्षेत्र क्षेत्रज्ञ शब्दाभ्यां निरूच्य सम्प्रति क्षेत्र क्षेत्रज्ञावेव प्रकृति पुरुषौ तयोरनादित्वमनादि संसर्गं प्रकृतेश्च सर्व कार्योपादानत्वञ्चाह। प्रकृतिमिति। त्रिगुणात्मिकाऽचेतना क्षेत्रलक्षणाऽपराशक्तिर्याप्रागुक्ता सा प्रकृतिरुच्यते। यातु तद्विलक्षणा चेतनरूपा क्षेत्रज्ञलक्षणा पराप्रकृतिरित्युक्ता सेहपुरुष इत्युच्यते। प्रकृतिं पुरुषञ्च उभावपि अनादी एवविद्धि न विद्यते आदिः कारणं ययोस्तौतथेत्यर्थः। विश्वस्य मिथ्यात्वमसत्यत्वावस्तुत्वं वदन्तो वादिनोऽपाकृताः भवन्ति वस्तु शब्दप्रयोगेनेत्याह ॥ वस्तु शब्द इति। तस्येति वस्तुनः चेतना चेतनयोरितियावत्। प्रत्यगात्मनां नित्यत्वं श्रुतिमानसिद्धमित्यतस्तामुदाहरति। नित्यो नित्यानामिति।

भाषानुवाद

यह आत्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है। यह आत्मा मेरा अन्तर्यामी है। ब्र० सू० ४।१।३। एषमेऽआत्मेति तूपगच्छन्ति। पूर्व महर्षि यह तेरा आत्मा है इस प्रकार से शिष्यों को उपदेश करते हैं, अतः मुमुक्षु पुरुषों को परम पुरुष अपने आत्मत्वेन ध्येय है। हे अर्जुन मैं सर्व भूतों में स्थित हूँ सबों का अन्तरात्मा हूँ। इन्द्रिय और

मन आदि जड़ वर्ग भी बासुदेवात्मक है। अतः उपदर्शित श्रुति स्मृति के द्वारा सिद्ध होचुका कि सब चेतन और अचेतन रूप जगत् ब्रह्मात्मक है, और परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्व विश्व के अन्तरात्मा है। अतः सर्व वस्तु ब्रह्मात्मक होने से सर्व शब्द प्रतिपाद्य चेतन और अचेतन रूप विश्व विषयक ज्ञान यथार्थ हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

अतः सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वादेवसर्वमितिसर्व शब्दाभिधेयचेतनाचेतनरूपविश्वविषयकमिति विज्ञानं विशेषज्ञानं यथार्थवस्तुविषयकत्वाद्-यथार्थम् (किंच निरूपिताऽपि श्रुति सूत्रसाधितेति)

कुंचिका

प्रधानस्य नित्यत्वं श्रुत्या साधयति। गौरनाद्यन्तवतीति "गौः" प्रकृतिः आद्यन्तशून्येत्यर्थः। देहातिरिक्तात्मनां नित्यत्वं श्रीमुखबचनेन द्रढयति। नत्वेवाहमिति। सर्वात्मनां मध्ये यथाहं सर्वेश्वर इतः पूर्वस्मिन् काले जातु कदाचिन्नासंनाभवमिति न अपित्वासमेव। तथात्वं नासीरिति न किन्त्वासीरेवेत्यर्थः। एतेन कालत्रयेऽपि सत्वप्रतिपादनात्सर्वे एवात्मनोनित्याः (इति सिद्धं भवति प्रकृतिपुरुषयोरनादित्वं स्मृत्याद्रढयति। प्रकृतिमिति अश्वत्थमिति, नश्वरं सम्यग्ज्ञानात्प्राक् प्रवाहरूपेणाव्ययं नित्यमित्यर्थः। निखिलस्यवस्तुनः ब्रह्मात्मकत्वं श्रुतिमानेन व्यवस्थापयति। एषः सर्वभूतान्तरात्मेति। आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ब्र०सू० ४। १। ३॥ इति परमात्मा ममांशभूतस्यात्मांशित्वादहञ्च तदात्मकस्तन्निरपेक्षस्थिति प्रवृत्तिरहितत्वात्। यथास्वांशपेक्षया सहस्रांशुः स्वाधीनस्थिति प्रवृत्तिमान तेषामात्मा तेचतदात्मकास्तदभिन्नाः। एवं तादात्म्यसम्बधेन भगवान् वेद्यः।

तुशब्दो जीवपरमात्मनोरज्ञसर्वज्ञयोः स्वरूपेण भेदं द्योतयति। द्वयोः पदार्थयोः केनापि प्रकारेणाभेदेसति तादात्म्यलक्षणः सम्बन्ध उपपद्यते। न गवाश्वयोस्तादात्म्यमुपपद्यते। न चैकस्याप्यश्वस्य तादात्म्यमुपपद्यते। अपितु कार्यकारणयोः गुणगुणिनोः शक्तिशक्तिमतोर्भिन्नाभिन्नयोः पदार्थयोरेव तादात्म्यसम्बन्धः। अन्यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यत्रापि चिज्जडात्मकस्य जगतो हि स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वं स्यात्। तस्मादुपासितुर्ब्रह्मांशभूतस्य स्वरूपेण ब्रह्मभिन्नस्यैव भगवानात्मा पत्रस्य वृक्षवत्। प्रभायाः प्रभावानिव प्राणानां मुख्य प्राणवच्च, (इह भेदोऽपि मुख्यः। अभेदोऽपि मुख्यः) उभयोः स्वाभाविकत्वात्। अस्मिन्नर्थे एव "त्वं वा अहमस्मिभगवोदेवते अहं वैत्वमसी"

त्यादिवाक्यान्यर्थवन्ति सन्ति अतएव ब्रह्मणो जीवस्य वृक्षात्पत्रस्यैव प्रभावतः प्रभायाइव अपृथक् सिद्धत्वात् "योऽन्यां देवतामुपासतेऽन्यो सावन्योऽहमस्मीति" न स वेद यथापशुरित्यादीनि वाक्यान्युपपद्यन्ते। एवम्प्रकारेऽभेदे भेदाविरोधिनि "चेतनश्चेतनानामक्षरादपिचोत्तमः। अधिकोपदेशात्तु नेतरोऽनुपपत्तेरित्यादिश्रुति स्मृतिसूत्राणामबाधः। भेदाभेदलक्षणस्य तयोः सम्बन्धस्य सर्वशास्त्रसम्मतत्वात् ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्वमसीत्यादिना शिष्यांस्तथैव ग्राहयन्ति, इति सूत्रार्थः॥ श्रीमुख-वचनेनाप्युक्तार्थं द्रढयति। अहमात्मेति। स्मृतिमपि प्रमाणयति। इन्द्रियाणीति। सर्वशब्दार्थं विज्ञानपदार्थं विवृणोति। अतः सर्वस्येति।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

भोक्तृभोग्यनियन्तृ रूपता त्रिरूपताऽपि यथार्थं वेति शेषः। तत्रहेतुः-- श्रुति सूत्र साधितेति श्रुतिसूत्रसाधितत्वादिति श्रुतिसूत्रैर्निर्णयासाधारणप्रमाणभूतैर्निर्णीतत्वादिति यावत्। तथाच श्रुतिः--भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति, सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतदित्यादि। अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादि सूत्राणि अत्रानुसंधेयानि। तत्र जिज्ञासुर्जिज्ञासा-जिज्ञास्य रूपता प्रतिपादनपरत्वादुक्तसूत्रस्य। एवमन्यदप्यनुसंधेयम्। इति वेदविन्मतमिति इत्येवं ब्रह्मात्मकत्वतदायत्तस्थितिप्रवृत्तिकत्वतद्व्याप्यत्वेभ्यो ब्रह्माभिन्नत्वात्।

कुंचिका

प्रतिज्ञां दर्शयति (भोग्यनियन्तृरूपतेति। साध्यांशंपूरयति। यथार्थंवेति) "तत्र" यथार्थत्वे हेतुं विवृणोति। श्रुति सूत्रेति, उक्तार्थं श्रुतिप्रमाणेन साधयति। तथाच श्रुतिरिति। एतेन भोक्तृभोग्यनियन्तृगतस्वाभाविकभेदनिर्णयेन चेतनानामपोतरे तरभेदोवोध्यते "चेतनश्चेतनानां। अजोह्येकोजुष माणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाम-जोऽन्य" इत्यादि श्रुतेः। तथैवाभेदोऽपिस्वाभाविकः ब्रह्मणः सर्वात्मत्व नियन्तृत्व व्यापकत्व स्वतन्त्रसत्वसर्वाधारत्वयोगात्। एष सर्व भूतान्तरात्मा अन्तः प्रविष्टः अन्तर्बहिश्च आत्माहि परमः स्वतन्त्रोऽधि गुणस्तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्व इत्यादि श्रुतिभ्यः, तयोश्च ब्रह्मात्मकत्वतन्नियम्यत्वतद्व्याप्यत्वतदधीनसत्वतदाधेय त्वादियोगेन।

भाषानुवाद

और अभिन्न प्रदर्शित श्रुति सूत्र स्मृति के द्वारा भोक्ता=जीव। भोग्य=

प्रकृति। नियन्ता = परब्रह्म यह तीनों तत्त्व भी यथार्थ हैं। उक्तार्थ को श्रुति के द्वारा प्रमाणित करते हैं। भोक्तेति। ब्रह्म के आनन्द को विद्वान जान कर भय को प्राप्त नहीं होता है। यह सब जगत रूप ब्रह्म तीनों विभागों में विभक्त है, एक भोक्ता = जीव। दूसरा भोग्य = माया प्रेरिता = नियन्ता ईश्वर है यह तीनों तत्त्व यथार्थ हैं। अथातो ब्रह्म जिज्ञासा इस सूत्र के द्वारा वेदव्यासाचार्य ने भी तत्वत्रय का उपदेश किया मुमुक्षा के अनन्तर कर्मों का फल अनित्य है ब्रह्म ज्ञान का फल नित्य है। इस हेतु से सकल गुण विशिष्ट ब्रह्म की जिज्ञासा मुमुक्षुजनों को अवश्य कर्तव्य है, यह उक्त सूत्र का अर्थ है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

त्रैरूप्यत्व श्रवणस्मरणाभ्यां स्वरूपेण भिन्नत्वाच्च ब्रह्मभिन्नाभिन्नं चेतनाचेतनात्मकं विश्वमिति वेदविदां श्रीसनत्कुमारनारदव्यासादीनां मतं निर्णीतः सिद्धान्तः इत्यर्थः। तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः, अधिकंतु भेदनिर्देशात्, भेदव्यपदेशाच्चान्य इत्युभयार्थ प्रतिपादनपरेभ्यः सूत्रेभ्यः, अंशो नानाव्यपदेशादन्यथाचाऽपि दाशकितवादित्वमधीयत एके, उभय व्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवदिति घटकसूत्राभ्यां चोभयप्रकारकत्वमिति बोध्यम्। तथाच श्रुतयः—सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्, आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, तत् त्वमसि, अयमात्मा—

कुंचिका

तदपृथक्सिद्धत्वादभेदोऽपिस्वाभाविक इति सिद्धमित्याह ब्रह्मात्मकत्वेति तद्व्याप्येति ब्रह्मव्याप्यत्वेनापि वस्तुजातस्य तत्तादात्म्यं सूपपन्नम्। "यच्चकिञ्चजगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपिवा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः। मयाततमिदं सर्वमितिश्रुतिस्मृत्योस्तत्रमानत्वात्। एवं ब्रह्मणः स्वतन्त्रसत्ताश्रयत्वात् चेतनाचेतनयोश्चपरतन्त्रसत्वावच्छिन्नस्वरूपत्वात् भेदः इतरेतरात्यन्त वैलक्षण्यात् तत्रचेतनस्याणुत्वेन निर्देशार्हत्वं ज्ञानादिगतधर्मसङ्कोचादियोगाच्च। अचेतनस्यच स्थूलत्वादिना परिणामादिविकारवत्वात् ब्रह्मणस्तु वैलक्षण्येनैवस्वरूप गुणादिभिर्नित्यनिर्दोषत्वात् "अस्थूल मनणित्वत्यादि श्रुतेरिति भावः॥

उक्तार्थं सूत्र प्रमाणेन द्रढयति। तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः। २। १। १४। इति। अस्यार्थः 'तयोः' कार्यकारणयोरनन्यत्वं तस्मात्कारणाच्चिदचिच्छक्तिमतोऽपरिच्छिन्नात कारणावस्थया कार्यावस्थयाच स्वेच्छयैवस्थातुसमर्थात्सर्वं प्रपञ्च पूर्वं

वर्तिनो ब्रह्मणः सकाशाच्चिदचिद्रूपस्य परिच्छिन्नस्यानेकनामरूपस्य परतन्त्रस्य कार्यस्यानन्यत्वम्। तत्र प्रमाणमाह। 'आरम्भणशब्दादिभ्यः" इति आरम्भण शब्दः आदिर्येषां वाक्यानां तान्यारम्भण शब्दादीनि वाक्यानि तेभ्यः। वाचारम्भणं विकारो नाम धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यादिनि। अधिकन्तु भेदनिर्देशात २। १। २१॥ इति तुशब्दः शङ्कानिवर्त्तकः। यतः प्रत्यगात्मनः सर्वज्ञं सर्वशक्ति सर्वेश्वरं समानातिशयशून्यं जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणमधिकमुत्कृष्टं ब्रह्म ब्रूमः। अतोहितकरणादिदोषप्रसक्तिर्नास्ति। अधिकत्वे हेतुः। भेदानिर्देशादि आत्मावारे द्रष्टव्यः। ब्रह्मविदाप्नोति परम्। य आत्मानमन्तरोयमयतीति ब्रह्मजीवयोर्भेददर्शनात॥ यथा सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यत्राचिद्वर्गस्य स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वासम्भवात्तज्जत्वादिना ब्रह्माभिन्नत्वमङ्गीक्रियते तथा शारीरयोक्तभेदश्रुतिप्रामाण्यात स्वरूपतो ब्रह्माभिन्नत्वासम्भवाद्ब्रह्मनिरपेक्षस्थितिप्रवृत्यभावाद्ब्रह्माभिन्नत्वम्। तत्त्वमस्यादिवाक्यैरभिधीयते नतु स्वरूपतः एवमभेदेऽप्यभेदव्यपदेशान्नेहहिताकरणादिदोषप्रसक्तिरिति सूत्रार्थः॥ भेदव्यपदेशाच्चान्यः। १। १। २२॥

आदित्यादिजीववर्गादन्योऽस्ति परमात्मा कुतः आदित्येतिष्ठन्नित्यादिना भेदव्यपदेशादिति सूत्रार्थः। अंशोनानेति। २। ३। ४२॥ नायंजीवः श्रीपुरुषोत्तमादत्यन्तभिन्नः नाप्यत्यन्ताभिन्नः किन्तु परमात्मनोंशः। "अंशो ह्येव परस्येति श्रुतेः" अंशोहि शक्तिरूपो ग्राह्यः "एषपरस्यशक्तिः। जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्र इति श्रुतेः अंशित्वावच्छिन्नात्परमस्वरूपात्सार्वज्ञ्यादिगुणगणनिधेरंशत्वावच्छिन्नेन बन्धमोक्षार्हेण स्वरूपेण भिन्नोऽप्यंश्यधीनस्थितिप्रवृत्यादिमत्वात् तदभिन्नः। कुतः "नानाव्यपदेशात्" (भेदव्यपदेशात्) अन्यथाच अभेदव्यपदेशाच्च। उभयविधवाक्यानां तुल्यबलत्वात् जीवपरमात्मनोः स्वाभाविकभेदाभेदौ भवत इत्यर्थः। प्रमाणवाक्यान्यग्रे स्वयं वक्ष्यते अपिचेके शाखिनः 'आथर्वणिका ब्रह्मदाशाब्रह्मदासा ब्रह्मेमेकितवा"इत्येवं ब्रह्मणो दासकितवादित्वमधीयते इति सूत्रार्थः॥ स्वाभाविकस्यैव भेदस्य श्रौतत्वात् सूत्रकाराभिप्रेतत्वं तथाहि चेतनाचेतनयोर्ब्रह्मणा भेदाभेदश्च कथं सम्भाव्योदुरूपपन्न वादित्या शङ्क्य समाधत्ते सूत्राभ्यां तत्र तावदचेतनस्य ब्रह्मणा भेदाभेदः सूपपन्न इत्याह। "उभयव्यपदेशात्वहि कुण्डलवदिति। अचेतनस्य उभयव्यपदेशात्" हन्ताहमिमास्तिस्रो देवतेति भेदव्यपदेशः। 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति ब्रह्मैवेदं सर्व" मित्यादिनाचाभेदव्यपदेशः तस्मादुभयव्यपदेशात्भेदाभेदएवसिद्धान्तः। उभयविधशास्त्राविरोधात अन्यथाचैकतरस्यबाधप्रसङ्गात्। ननु भेदाभेदयोरितरेतरात्यन्तविरोधा

कथमेकत्रस्थितिरित्याशङ्क्याह दृष्टान्तमुखेनाहिकुण्डलवदिति, यथा कुण्डलावस्थापन्नस्याहेः कुण्डलस्यव्यक्तत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणगोचरत्वेनभेदः स्वाभाविकः । लम्बायमानावस्थायान्तु सर्पायत्तावच्छिन्नस्वरूपेण कुण्डलस्य तत्रसत्वेऽपि अव्यक्त नामरूपतापत्या प्रत्यक्षागोचरत्वं सर्पात्मकत्व तदाधेयत्व तद्व्याप्यत्वादिना तदपृथक् सिद्धत्वादभेदस्यापि स्वाभाविकत्वमुभयोरपि स्थूलसूक्ष्मावस्थयोरनुगतत्वात् भिन्ना भिन्नत्वम् तथा स्थूलावस्थापन्नस्य कार्यस्य कारणायत्तपरतन्त्रसत्तावच्छिन्नरूपेण भेदसद्भावेन प्रत्यक्षप्रमाणविषयत्वं व्यक्तनामरूपत्वात । अव्याकृतावस्थायान्तुबीजेऽङ्कुरस्यैव कार्यस्य कारणे सूक्ष्मस्वरूपेण प्रत्यक्षागोचरत्वेऽपि. सद्भावेप्यव्यक्तनामरूपत्वात प्रत्यक्षाग्राह्यत्वमित्युभयावस्थायामपि तदात्मकत्व तदाधेयत्व तदायत्तसत्ताकत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वेनाभिन्नत्वेऽपि परतन्त्रसत्वात्र च्छिन्नतदात्मीयस्वरूपेण भिन्नत्वमपि स्वाभाविकमिति सूत्रार्थः ॥

सर्वज्ञाद्यनन्तगुणावच्छिन्नस्यापरिच्छिन्नशक्तिवैभवस्य ब्रह्मणः स्वात्मक चेतनाचेतनवस्त्ववच्छिन्नतदन्तरात्माभिन्नत्वमपि सुव्यक्तम् । एतदर्थकानि तत्वमस्यादि वाक्यान्युदाहरति तथा श्रुतय इति । छान्दोग्यषष्टे उपक्रमं दर्शयति । सदैवेति । उद्दालकः पुत्रमुवाच—हे सोम्य प्रियदर्शन, इदं सर्वं जगद् अग्रेः उत्पत्तेः प्रकाकालेसद्ब्रह्मात्मकमासीत् ।

भाषानुवाद

उक्त सूत्र में एक जिज्ञासु जीव द्वितीय जिज्ञासा तृतीय जिज्ञास्य ब्रह्म तत्व है, जिज्ञासा का कारण है कि जीव का स्वरूप भूतज्ञान अनादि माया से आवृत है। अनादि कर्मात्मिक माया की निवृत्ति के लिये ब्रह्म की जिज्ञासा कर्तव्य है, अतः अचेतन माया भी जिज्ञासा के अन्तर्गत हैं। यह वेद के अर्थ के ज्ञाताओं का मत है कि चेतन और अचेतन रूप विश्व ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि सर्व जगत ब्रह्मात्मक हैं और विश्व की स्थिति प्रवृत्ति परब्रह्म के अधीन है। ब्रह्म व्यापक विश्व व्याप्य है, अतः विश्व तद्व्याप्य है। और विश्व त्रिरूपता श्रवण से ब्रह्म से भिन्न भी है। क्योंकि सर्वात्मत्व सर्वनियन्तृत्व सव व्यापकत्व और स्वतन्त्र सत्व सर्वाधारत्व धर्म ब्रह्म के हैं। उपदर्शित धर्म जीवात्मा में नहीं है। अतएव जीव को परब्रह्म से स्वरूप से भेद भी है। वेद के ज्ञाता भगवान् सनत्कुमार देवर्षि श्रीनारद और महर्षि वेद व्यासाचार्यजी का यह सिद्धान्त है। श्रीबादरायणाचार्य जी ने जिन सूत्रों के द्वारा भेदा भेद सिद्धान्त प्रदर्शन किया उन सत्रों का उल्लेख करते हैं। तदनन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः। ब्र० सू०

२।१।१४। जगत् कार्य कारण ब्रह्म से अभिन्न हैं, क्योंकि वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्येव शब्दादिभ्यः। इसका अर्थ यह है कि वाक् इन्द्रिय के द्वारा व्यवहार होता है वह व्यवहार दो विभागों में विभक्त है एक विकार रूप अर्थ द्वितीय नामधेय शब्द हैं। यह दोनों को विषय कर वाणी का व्यापार प्रवर्त होता है कि घट के द्वारा जल को आहरण कर अतः घट नाम धेय जल हरणादि व्यवहार का साधक है, विकार जो मृत्तिका है वह सत्य है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कार्य जगत कारण ब्रह्म से अभिन्न हैं। अब ब्रह्म से जीव भिन्न है इस अर्थ को सूत्र के द्वारा प्रमाणित करते हैं। अधिकन्तु भेद निर्देशात् ब्र० सू० २।१।२२॥ सुख दुःख का भोक्ता जीवात्मा है, उससे सर्वज्ञ सर्व शक्ति सम्पन्न समान अतिशय शून्य जगत्कारण सर्वेश्वर उत्कृष्ट हैं, क्योंकि भेद निर्देशात्। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "य आत्मानमन्तरो यमयति" इत्यादि श्रुतियों में जीव ब्रह्म का भेद दिखलाया है। यह उपदर्शित सूत्र का अर्थ है। भेदव्यपदेशाच्चान्यः ब्र० सू० १।१।२२। इस सूत्र का अर्थ यह है कि आदित्य आदि शरीराभिमानि जीवों से परमात्मा भिन्न है। क्योंकि "य आदित्ये तिष्ठन्" इत्यादि श्रुतियों में दोनों का भेद दिखलाया है। परमात्मा सूर्य के अन्दर विद्यमान है, तो भी परमात्मा आदित्य से भिन्न हैं। उसको आदित्य नहीं जानता है परमात्मा का शरीर आदित्य हैं। इन दोनों सूत्र से सिद्ध हो चुका कि जीव ब्रह्म का भेद है। अब घटक सूत्रों के द्वारा अंश अंशि रूप से जीव ईश्वर का भेद अभेद दिखलाते हैं। अंशो नानाव्यपदेशादन्यथाचापि दाशकितवादित्वमधीयतएके ब्र० सू० २ ३।४२। इस सूत्र का यह अर्थ यह है कि जीव परमात्मा का अंश अर्थात् शक्ति है। 'अंशो ह्येषः परस्य' तिश्रुतिः। "एष परस्य शक्तिः जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रः" इत्यादि श्रुतियों में जीव को ब्रह्म का अंश दिखलाया और यह जीव परमात्मा की अल्प शक्ति सर्वथा परमात्मा के परतन्त्र हैं। अंशित्वात्र छिन्न परमपुरुष सर्वज्ञत्वादि गुणाकर भगवान् से अंशत्वावच्छिन्न बन्धमोक्ष के योग्य जीव स्वरूप से भिन्न होने पर भी अंशि के अधीन स्थिति प्रवृत्ति होने से ब्रह्म से जीव अभिन्न भी है नानाव्यपदेशात्=भेदव्यपदेशात्। श्रुतियों में जीव ईश्वर का भेद दिखलाया है। "अन्यथा च=अभेद व्यपदेशाच्च" "तत्त्वमसि" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म जीव का अभेद भी प्रतिपादन किया है। भेद प्रतिपादक श्रुति और अभेद प्रतिपादक श्रुति तुल्य बल है उन्हीं का वाध्य वाधक भाव कल्पना नहीं कर सकते हैं। इससे

सिद्ध हो चुका कि ब्रह्मजीव का भेदाभेद है। भगवान सूत्रकार का मन्तव्य सिद्धान्त प्रदर्शन कराते हैं। उभय व्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्। ब्र० सू० ३। २। २७। मूर्त्त और अमूर्त्तरूप कार्य ब्रह्म से भिन्न होके भी परब्रह्म से अभिन्न हैं। क्योंकि उभयव्यपदेशादिति। श्रुतियों में भेद और अभेद का प्रतिपादन किया है। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" परमात्मा से सर्व भूतों की उत्पत्ति होती है। यत इसपञ्चम्यन्त निर्देश कारण ब्रह्म से भूतों का भेद दिखलाया है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति में जीव से ब्रह्म का अभेद प्रतिपादन किया है इस विषय में दृष्टान्त दिखलाते हैं। अहिकुण्डलवादिति। कुण्डल का रज्वाकारसर्प उपादान कारण है सर्प स्थानीय सर्वशक्ति सम्पन्न ब्रह्मजगत का अभिन्न निमित्तोपादन कारण हैं। वलयाकर कार्य भूत कुण्डल । कुण्डल स्थानीय कार्यरूप सर्व विश्व है। कुण्डलकार्य व्याप्य परतन्त्र है, कुण्डल की अपेक्षा से सर्प स्वतन्त्र है और व्यापक कारण है। अतः सर्प कुण्डल का भेद, सर्प के बिना कुण्डल की स्वतन्त्र स्थिति और प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः सर्प कुण्डल का अभेद भी हैं। इस प्रकार परब्रह्म का कार्य विश्व के संग भेदाभेद हैं। यहाँ पर्यन्त सूत्रों का अर्थ है। अब उक्तार्थ को श्रुति स्मृति के द्वारा प्रमाणित करते हैं। ब्रह्मजीव का अभेद प्रतिपादक श्रुति को दिखलाते हैं। सदेव देति। इदंपद वाच्य कार्य जगत् का सदपद वाच्य कारण ब्रह्म का अभेद दिखलाया। "आत्मावा" इति श्रुति में जीव परब्रह्म का अभेद प्रतिपादन किया।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

ब्रह्म, सोऽहं ब्रह्मास्मि, आत्मैवेदं सर्वं, सर्वमिदं ब्रह्म, त्वं वा अहमस्मि भगवोदेवते, अहं वैत्वमसि देवते, यदेवेह तदमुत्रयदमुत्र तदन्विह यश्चेह पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः, तदाऽऽत्मानमेवावेदऽहं ब्रह्मास्मीति, सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानितीत्याद्याः सर्व भूतस्थितं योमां भजत्येकत्वमास्थितः, क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि, एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित् तदच्युतो, नास्ति परं ततोऽन्यत्। सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्। सकलमिदमहं च वासुदेवः यथाऽऽह वसुधा सर्वं सत्यमेवद्विवो हसः। अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः।

कुञ्चिका

सर्वस्य चेतनाचेतनात्मकस्य वस्तुनः ब्रह्मात्मकत्वात् तत्कार्यत्वात् कार्यकारणयो

रनन्यत्वेन ब्रह्माभिन्नत्वमित्यर्थः। उक्तार्थं बृहदारण्यपठितश्रुत्यापिद्रढयति । आत्मेति आप्नोतीत्यात्मा मूलकारणं वैशब्देन प्रागवस्था स्मर्यते इदमित्याद्युक्तार्थकम्। नवकृत्वोऽभ्यासवाक्यमुदाहरति तत् त्वमसीति अत्र तच्छब्देनोपक्रमवाक्यनिर्दिष्टं सच्छब्दवाच्यं ब्रह्मैव परामृश्यते तथा च ब्रह्मात्मकोऽसीत्यर्थः। प्रत्यगात्मनो ब्रह्माभिन्नत्वमाह। अयमात्माब्रह्म इति। सोऽहमिति । अहं पदवाच्यः प्रत्यगात्मा ब्रह्मात्मकोऽसीत्यर्थः। आत्मैवेदमिति। चेतनमिश्रं इदं सर्वं प्रपञ्चम्। आत्मैव ब्रह्मात्मकत्वात्तदभिन्नमित्यर्थः। सर्वमिदमिति । चेतनाचेतनात्मकसमस्तप्रपञ्चं ब्रह्माभिन्नमित्यर्थः । उपदेशानुगुणमुपासको देवतां प्रत्याह। त्वं वेति, उपादिष्टार्थमात्मन्यनुसन्धत्ते तद्योहं सोऽसौ योसौसोहमस्मि, इत्यपि द्रष्टव्यम्. यदेवेहइति। यद्ब्रह्मएवइह अत्रलोके तदेव ब्रह्म, अमुत्र परलोके पुरुषनिष्ठादित्यवर्ति ब्रह्मएकएवेत्याह यश्चेह इति।

सर्वंखल्विदमिति 'सर्वं' जडचेतनं वस्तुजातं ब्रह्मात्मकमित्यर्थः। नन्वत्राचिद्वर्गस्य स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वं न सम्भवतीति कथमुक्तसमस्तस्य ब्रह्मात्मकत्वमित्यत आह तज्जलानिति। तस्माज्जायत इति तज्जं तस्माल्लीयत इतितल्लं तस्मिन्ननिति चेष्टत इति तदनं तज्जं च तल्लं च तदनं च तज्जलान् । अवयवलोपः छान्दसः इति शब्दो हेतौ यस्मादेवं तस्मात्सर्वं जगद्ब्रह्मैवेत्यर्थः। तथा च तज्जत्वेन तल्लत्वेन ब्रह्माभिन्नत्वम चिद्वर्गस्य द्रष्टव्यम् । निखलस्त्ववस्तुनस्तदुत्पत्तिस्थित्यधीनत्वात्तदात्मकत्वमनुसन्धेय मित्यर्थः । स्मृतिप्रमाणेनाप्युक्तार्थं द्रढयति सर्व भूतस्थित मिति। सर्वभूतेषु प्राणिषु परिच्छिन्नेषु स्थितमपरिच्छिन्नतया व्याप्यावस्थि तंमां भगवन्तं वासुदेवं व्यापकाद्व्याप्यस्यपृथक्स्थितिप्रवृत्यनर्हत्वादेकत्वमभेदमास्थितः तत्सर्वं भेदाभेदेन पश्यन् योभसते योभजते सर्वमदात्मकत्वबुद्धिं करोतीत्यर्थः।

उक्तार्थं द्रढयितुंवाक्यान्तरमुदाहरति .सकलमिति। सकलमिदं चिदचिदात्मकं विश्वं वासुदेवाऽभिन्नोऽहमस्मि एतत्सर्वं हे दिवौकसः वसुधा यथाह सत्यं ब्रह्मात्मकमेव, एतदेवस्पष्टयति अहं भव इति । अहं वासुदेवः भवोमहादेवः भवन्तश्चसर्वे देवा नारायणात्मकाः नारायणः आत्मा येषांते तथोक्ताः। इत्यर्थः।

क्षेत्रज्ञमिति, सर्व क्षेत्रेषु देवतिर्य्यङ्मनुष्यादि शरीरेषु—क्षेत्रज्ञमपि मां विद्धि मदात्मकत्वेन मदभिन्नं जानीहित्यर्थः)। सकलं जगत् वासुदेवाभिधेयस्व स्वरूपं परमात्मन इति पूर्वाष्यायोक्तं निगमयति। एकइति यदिहास्तिकिञ्चित् तत्समस्तमेकोऽच्युन एव तदात्मकम् । तस्मात्ततः परमुत्कृष्टमन्यद्व्यतिरिक्तञ्चनास्ति ततोऽन्यदुत्कृष्टं नास्ति

वा सर्वात्मनां पूर्वोक्तं ज्ञानैकाकारं तच्छब्देन परामृश्य तत्सामानाधिकरण्येनात्मनां विज्ञान मेवाकारइत्युपसंहरन् देवाद्याकारभेदेनात्मसु भेदमेवं परित्यजेत्याह । सोऽहमिति। न तत्रात्मनां स्वरूपभेदो निषिध्यते तथा सति देहातिरिक्तोपदेश्यस्वरूपे अहं त्वं सर्व मेतदात्मस्वरूपमिति भेदनिर्देशो न घटते देहात्मविवेकविषयश्चायमुपदेशः कुतः "पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरपाण्यादि लक्षणः" इति प्रक्रमादिति श्लोकार्थः।

भाषानुवाद

"सोऽहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्मजीव का अभेदस्पष्ट हैं। आत्मैवेद-मिति। सर्व जगत् ब्रह्मात्मक हैं। उपदेश के अनुगुण उपासक देवता के प्रति कहता है "त्वं वेति" हे देवते! तू मैं हूं। मैं तू हूँ। जो ब्रह्म इस लोक में है, वह ब्रह्म परलोक में भी है। पुरुषों में स्थित ब्रह्म ही आदित्य में भी है दोनों में स्थिति ब्रह्म एक ही है। उस आत्मा को मैं जानता हूँ, मैं ब्रह्मात्मक हूँ। 'सर्वमिति" जड़ और चेतन वस्तु ब्रह्मात्मक हैं। तज्जलानिति तस्माज्जायते यह विश्व पुरुष से ही उत्पन्न होता है, उससे ही लीन होता है, उसमें ही चेष्टा करताहै अतएव जगत् ब्रह्म से अभिन्न है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

यदासमस्तदेहेषु पुमानेको व्यवस्थितः। तदाहि को भवान् कोऽहमि-त्येतद्फलं वच इत्याद्याः स्मृतयश्च । नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, अजो ह्येको जुषमाणो-ऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः अक्षरात् परतः परः, तस्मिल्लोका श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः, यद्भूतयोनिं परिपश्यन्तिधीराः, ज्योतिषां ज्योतिः, एष योनिः सर्वस्य स्थाव-वरस्य चरस्य, सर्वांल्लोकानीशत।

कुञ्चिका

उक्तार्थं दृष्टान्त वाक्येन द्रढयति यदेति । जीव ब्रह्मणोर्भेदप्रतिपादिकां श्रुति-मुदाहरति। नित्योनित्यानामिति। नित्यश्चेतन एक एवसन्बहूनां नित्यानां चेतनानाम-पेक्षितानर्थाननायासेनप्रयच्छतीत्यर्थः । अत्रचेतनबहुत्वमुक्तं कामप्रदत्वञ्च। कामितार्थ ज्ञानाभावे तत्प्रदत्वासम्भवादितिभावः । ज्ञाज्ञौद्वावजावित्यत्रैकस्यज्ञातृत्वमपरस्याज्ञातृ-त्वमीश्वरत्वमनीश्वरत्वचोक्तं भवति ततः जीवपरमात्मनो भेदः स्पष्ट एवप्रतिपाद्यत

इत्यर्थः । अजइति न जायतइत्यजः नित्योजीवएकः, एनां मायां जुषमाणः सेवमानोऽनुशेते अन्योऽजः प्रत्यगात्मा भुक्तभोगां सम्पादितभोगामेनां जहातित्यजतीत्यर्थः अनेन प्रत्यगात्मनोर्वैलक्षण्यमभिहितं भवति ।

जुष्टमिति । यदासौ जीवः निमग्नात्स्वस्माद्धारकत्वनियन्तृत्वशेषित्वादिना विलक्षणं जुष्टं प्रीतं परमात्मानमखिलजगदीशनलक्षणमस्य महिमानञ्च पश्यति तदा वीतशोकोभवतीत्यर्थः । पृथगात्मानमिति । आत्मानं प्रत्यगात्मानं पृथग्मत्वा प्रेरितारं प्रेरयितारं परमात्मानं पृथक्ज्ञात्वा ततः जुष्टः ब्रह्मादिभ्यः वा भागवता प्रीतः सन्नशारीरस्तेन ब्रह्मणा सहामृतत्वमेतीत्यर्थः अत्रापि नियंतृनियम्यत्वमुक्तं जीव-परमात्मनो.पार्थक्य ञ्च प्रधानेति प्रधानना प्रकृतिः क्षेत्रज्ञः प्रत्यगात्मा तयोः पतिः नियन्ता । गुणेश इति गुणानामीशः नियन्ता (अक्षरादिति) विकाररूपदोषशून्यतया दिव्यादि-शुभ्रपर्य्यन्तशब्दितश्चयः साऽव्याकृतादक्षरात्परः समष्टिपुरुषस्तस्मादपि कारण-त्वेन पर इत्यर्थ । प्रधानपुरुषयोस्तजन्यत्वादितिभावः । अक्षरात्परतइत्यत्राक्षरशब्दो-ऽश्रुत इति वा नक्षरतीतिव्युत्पत्त्या स्वविकारव्यापकानामान्तराभिलापयोग्यक्षरणा भाववति अव्याकृते वर्तते । ननुभूतयोन्यक्षरे । भूतयोन्यक्षरस्य सवाह्याभ्यन्तर इत्यत्र तच्छब्दनिर्दिष्टस्य तस्मादेवपरत्वासम्भवात् नहि तस्यैव ततः परत्वं सम्भवति विरोधा-दिति ॥ तस्मिंल्लोकाः श्रिता इति । तदेवप्रकाशकं तदेवानन्याधीनममृतं यत् प्रागुनिर्दिष्टं ब्रह्म तस्मिन् लोकाः सर्वेश्रिताः स्थितिमन्त. । तदुनात्येति कश्चन इति । तत्सर्वात्मकं ब्रह्म कोऽपि नातिक्रमति छायावदन्तर्यामिणो दुर्लङ्घत्वादितिभावः ।

भीषाऽस्माद्वातः पवत इति । अग्नीन्द्र सूर्य्य प्रमुखाःसर्वेऽपि देवप्रवराः परमात्मशासनातिनिवृत्तौ किं न भविष्यतीति भीत्या स्वस्वकर्मसु जागरूका भवन्तीत्यर्थः। यद्भूतयोनिमिति भूतानां योनिकारणं यद्ब्रह्म तत् धीराः प्रज्ञाशालिनः पश्यति साक्षा-त्कुर्वन्तीत्यर्थः । ज्योतिषामिति । तत् शुभ्रमनवद्यं ज्योतिषां प्रकाशकानामिन्द्रियाणां ज्योतिः प्रकाशकम् ज्योतिः शब्दितदीप्तियोगोविग्रहद्वारको द्रष्टव्य इत्यर्थः ।

एषः योनिरिति एष परमात्मा सर्वस्य स्थावरस्य वृक्षादेः 'चरस्य' प्राणिमात्रस्य योनिः कारणमित्यर्थः ।

भाषानुवाद

ब्रह्मजीव का भेद प्रतिपादक श्रुति दिखलाते हैं । नित्यइति । नित्य चेतन सर्वेश्वर एक ही होकर बहुत नित्यचेतनजीवों के अपेक्षित अर्थ को प्रयास के बिना

प्रदान करता है। ज्ञाज्ञाविति। भगवान् सर्वज्ञ है नियन्ता है, जीव अल्पज्ञ नियम्य है, ये दोनों नित्य हैं। इति श्रुति में ब्रह्मजीव का भेद स्पष्ट है। जिसकी उत्पत्ति नहीं होती उसको अज कहते हैं। एक जीव माया को सेवन करता हुआ घोर निद्रा में शयन कर रहा है। कोई एक जीव ने भोग सम्पादक माया का परित्याग कर दिया। इस श्रुति में जीव का परस्पर में भेद दिखलाया। जब यह जीव अपने से भिन्न प्रीति सम्पन्न परमात्मा को देखता है तब यह जीव शोक रहित होता है 'पृथगात्मानमिति' जब जीवात्मा से प्रेरयिता परमात्मा को पृथक् जानता है। तब यह जीव संसार से विमुक्त हो जाता है। 'प्रधानेति' प्रधान = प्रकृति क्षेत्रज्ञ = जीवात्मा इन दोनों का नियन्ता परमात्मा है। गुणों का नियन्ता भी ईश्वर है। 'अव्याकृत' अक्षर से परे समष्टि पुरुष है उससे भी परे ईश्वर है। उस परब्रह्म में ही सर्वलोक स्थिति वाले हैं। सर्वात्मक ब्रह्म को कोई भी अति क्रमण नहीं कर सकता है। क्योंकि परमात्मा सब का अन्तर्यामी है। जिस ईश्वर से भयभीत होके वायु चलता है, जिसके भय से सूर्य उदय होता है। कोई धीर पुरुष जिस परमात्मा को भूतों का कारण देखते हैं। सर्वेश्वर स्थावर जंगम का कारण है। परमात्मा अपनी शक्ति के द्वारा सर्व लोकों को नियमन करता है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

ईशनीभिः, सर्वस्य प्रभुमीशानं, तमीशानं वरदं भूतमीड्यं यस्मान्नाणीयो नज्यायोऽनस्ति कश्चित्, अणोरणीयान् महतो महीयान्, एषदेवो विश्वकर्मा महात्मा स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपतिः, न तस्य प्रतिमाऽस्तीह यस्य नाम महद्यशः नतस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके नचेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् स कारणं कारणाधिपाधिपः, न तस्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्, पतिः पतीनां, सर्वगन्धः सर्व रसः, एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी, विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।

कुंचिका

सर्वस्येति। सर्वस्य प्रभुं पालकं ईशानं सर्वनियन्तारं वरदं स्वाभिलषितप्रदमित्यर्थः "भूतमीड्यम्" प्राणिभिस्तुत्यम् यस्मात् ब्रह्मणोन्नाणुत्वम् "न ज्यायान्"

कश्चिदपि न श्रेष्ठः । तदेव स्पष्टयति । अणोरणीयानीति । अणोरप्यणुत्वम् । महत्परिमाणवतोवस्तुनो महत्तमत्वमित्यर्थः, "एषः" देवः क्रीडकः "विश्वकर्मा" विश्वं कर्म यस्यसः । विश्वस्य कर्ता । महात्मा बृहत्स्वरूपः । स एव भगवान् । "भुवनस्य गोप्ता" भुवनत्वावच्छिन्नस्य रक्षकः "विश्वाधिपतिः" विश्वस्याधिपतिः स्वामी । "तस्य" ब्रह्मणः "प्रतिमा" प्रतिमानमुपमानं सदृशं नास्ति । "यस्य" ब्रह्मण । नाम महत् यशश्च । तयोश्च सर्वत्र व्याप्यत्वादिति भावः । "नतस्य" ब्रह्मणः पतिः रक्षको नास्ति । तस्य सर्वेषां पतित्वादंशिचेतनत्वादित्यर्थः । "नचेशिता" तस्य ब्रह्मणो न नियन्ता सर्वस्य नियन्तृत्वात् । "नैव च तस्य लिङ्गम्" तस्य ब्रह्मण लिङ्गं कारणम् । तस्योपोद्बलकं वाक्यं पठति । सकारणमिति । स परमात्मा सवस्य कारणं कारणानामिन्द्रियाणामधियाः देवता तेषामपि कारणम् । न तस्येतिः तस्य ब्रह्मणः कश्चिज्जनिता न । आधियो नियन्ता न "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" ईश्वराणां चतुर्मुखरुद्रप्रभृतीनां परममुत्कृष्टं महेश्वरं । बृहत्स्वरूपेणगुणेन शक्त्या च बृहन्तं पुरुषोत्तमम् । देवतात्वं कर्माराध्यत्वम् । आराधना च महनीयप्रीतिहेतुभूता क्रिया ततश्च प्रीतिरूपज्ञानवत्वं सिद्धयतीति भावः पतित्वमीशत्वम् ।

भाषानुवाद

सर्वस्येति । सबों का पालक ईश्वर है । सर्व का नियन्ता ईश्वर है । सबों के मनोवांछित फल का प्रदाता है । सर्वेश्वर की प्राणिमात्र स्तुति करते हैं । जिस ईश्वर से कोई भी अणु और श्रेष्ठ नहीं है । ईश्वर अणु से भी अणु है । महत् परिमाण वस्तुओं से भी परम महत्तम है । यह सर्वेश्वर देव ही विश्व के करने वाला है । सर्वेश्वर सबों से बृहत्तम है । भगवान् विश्व का रक्षक है । विश्व का स्वामी है । तस्येति । ब्रह्म की प्रतिमा = उपमान अर्थात् सदृश कोई नहीं हैं । जिस ब्रह्म का नाम और कीर्त्ति सर्वत्र व्यापक है ब्रह्म का रक्षक कोई भी नहीं है क्योंकि वह सबों का पति है । ब्रह्म का कोई कारण नहीं है । वह सर्व कारणों का कारण है । इन्द्रियों के अधिप देवता उन्हों का भी कारण ईश्वर है । ईश्वर का जन्मदाता कोई भी नहीं है । उसका नियन्ता भी कोई नहीं है । जगत् के ईश्वर चतुर्मुख महादेव है उन्हों का भी परम महेश्वर सर्वेश्वर है । सब देवताओं का परम देवता भगवान् है । संसार के पतियों का भी पति सर्वेश्वर है । पुरुषोत्तम में सब दिव्य गन्ध है अलौकिक सब रस हैं । यह सबों का ईश्वर है । भगवान् सर्वज्ञ और सबों का अन्तर्यामी है । विश्वतश्चक्षुरिति ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः, आप्रणखात्सुवर्णः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो वाचं स उ प्राणस्यप्राणःचक्षुषश्चक्षुः आनन्दमूर्तिः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः, सविश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणिः सर्वविद्य इत्याद्याः भेदव्यपदेशाच्चान्यः, अधिकन्तु भेदनिर्देशात् । शारीरश्चो-भयेऽपिहिभेदेनैनमधीयते, विवक्षितगुणोपपत्तेश्च सर्वोपेताचेत्यादिन्यायाः ।

कुञ्चिका

आदित्यवर्णमिति दलेन प्रकाशरूपत्वम् । अनावरकस्वाभावत्वञ्चोक्तम् । तमसः परस्तादित्यनेन दलेन तमःशब्दाभिधेयप्रकृतिकालाभ्यां विलक्षणञ्चेत्यर्थः । पश्यतीतिपश्यः । पाघ्राध्माधेटदृशः इतिशतृप्रत्ययः शित्वात्पश्यादेशः यस्मिन् काले पश्यो ब्रह्मदर्शी आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश इत्युक्तरीत्या देदीप्यमानं मङ्गलविग्रहयुक्तं जगदीशतारं तत्कर्तारं तस्मादेतद्ब्रह्मेतिनिर्दिष्टाव्याकृत-ब्रह्मोपादानभूतम् । भगवानितिशब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि निरूपाधी च वर्त्तते वासुदेवे सनातने । इत्युक्तरीत्या पुरुषशब्दनिर्दिष्टं वासुदेवं यदा पश्यति तदा पुण्यपापे निरस्य निरस्तप्रकृतिलेपः सन्नपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकलक्षणेन ब्राह्मेण रूपेण परमं साम्यमुपे-तीत्यर्थः । न केवलं भगवत्स्वरूपस्यैव हिरण्मयत्वं किन्तु तदवयवानामपीत्याह । हिरण्यकेश इति । हिरुक् वाह्यविलक्षणं सुखं हिरण्यं स्यात् मयऽधिकयार्थे स्वरूपार्थे च इतिविलक्षणपूर्णानन्दस्वरूपः केश इत्यर्थः । पूर्णौ हि हितौ निहितौ रश्च णश्चेति रणौ रत्यानन्दौ यस्मिन् सहिरण्यमयो वापुरुषो दृश्यते ज्ञानदृष्ट्या आदित्ये सचाप्रण-खात् प्रणखमारभ्य सर्वएवावयवः सुवर्णवर्णः सुखपूर्णोवेत्यर्थः । श्रोत्रस्यति 'यत्' यः श्रोत्रस्य श्रोत्रं शब्दभासकत्वशक्तिप्रदः । 'मनसो मनः" मननशक्तिप्रदः । वाचो वागिन्द्रियस्य वाचं शब्दोच्चारणशक्तिप्रदः 'प्राणस्य प्राणः" प्राणनशक्तिप्रदः, चक्षुष-श्चक्षुर्दर्शनशक्तिप्रदः । श्रोत्रादेर्नियन्ता । यस्त्वया पृष्टः स देव इत्यर्थः । तथाचोक्तं बृहदारण्यकेऽपि यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं योमनो-ऽन्तरो यमयति यो वाचि तिष्ठन्वाचमन्तरो यमयति । यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रमन्तरो

यमयति। यश्चक्षुषि तिष्टंश्चक्षुरन्तरो यमयति, यः प्राणेतिष्ठन्प्राणमन्तरो यमयति। इतिवासुदेवस्यान्तर्यामित्वप्रतिपादिका श्रुतय इति। तादृशो पुरुषोत्तमः वासुदेवः श्रीकृष्ण एव देव इति भावः तथा च भगवद्वाक्यम्। मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। आनन्दमूर्त्ति। आनन्द विग्रहः एतेवचनैर्भगवतोविग्रहवत्त्वं प्रदर्शितम्। "सत्यकामः" सत्यःकामईच्छा यस्य स तथोक्तः अप्रतिहेच्छ इत्यर्थः तदेवाह। "सत्यसङ्कल्प"। सत्यः सङ्कल्पो यस्य सः। परास्येति। अस्य ब्रह्मणः शक्तिः 'परा:" स्वरूपविलक्षणा विविधा" अनन्ताचिन्त्यप्रकारिका श्रूयते चेत्यन्यप्रमाणनिरपेक्षेत्यर्थः। अनिर्वचनीयत्वमिथ्यात्वौपाधिकत्वादिशब्दप्रयोक्तृणां मुखं धूलीकरोति स्वाभाविकीति। अनाद्यनन्तेति स्वरूपवन्नित्येत्यर्थः। न केवलं शक्तेरेव तत्त्वं ज्ञानक्रियागुणानामपीत्याह। ज्ञानवलक्रियाचेति। ज्ञानवलाभ्यां सहिता क्रिया ज्ञानवलक्रियाचेति चकारः सर्वेषां भगवतोगुणकर्मादीनामाकर्षणार्थः। "सर्वस्य वशी" निखिलस्य वस्तुनो वशकर्त्ता। सर्वस्येशान इति। भूतभवस्य सर्वस्येशितृत्वं भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्यैवोपपद्यते न त्वन्यस्य चतुर्मुखादिजीवस्य एतेनेशानपदस्य देवताविशेषपरत्वं योजयन्तः परास्ता। ईशानोभूतभव्यस्येति श्रुतेः श्रीव्यासाचार्य्यैः स्पष्टीकृतोऽयमर्थः शब्दादेवप्रमित इति सूत्रे नाज्ञलिङ्गान्निर्णयः किन्त्वीश्वरत्वाचिशब्दादेवेत्येवेकाराभिप्राय इति भावः। स विश्वकृदिति। सर्वस्य विश्वस्य कर्ता,विश्ववित्। सर्वज्ञः य सर्वज्ञः। ससर्वविदितिश्रुतेः। आत्मयोनिरिति। अव्याकृतात्मनोयोनिः कारणम्। यद्वा आत्माभिन्नयोनिः कारणमित्यर्थः। कालस्य सर्वनियामकत्वेऽपि परमेश्वरनियम्यत्वमित्याह। कालकाल इति। कालस्यापि कालोनियन्ता सर्वान्तर्यामित्वादेव। एष सर्वभूतान्तरात्मेतिश्रुतेः। एतेनात्रपरमेश्वराधेयत्वं तद्व्यापकत्वं तदात्मकत्वं स्फोरितम्। तेन सेश्वरजगत्कालाधेयमितिपक्षो निरस्तः। गुणीति। स्वाभाविकनिरतिशयापरमितयावदात्मवृतिज्ञानशक्तिवलतेजोवीर्यकारुण्यदयाक्षमातितिक्षावात्सल्यसौशील्यार्जवमार्दवमाधुर्य्याद्यनन्तकल्याणगुणाब्धिः। इति श्रूत्यर्थः। अधिकन्तु भेदनिर्देशादिति। सूत्रंप्राग्व्याख्यातम्। शारीरश्चोभयेऽपिहिभेदेनैनमधीयते। १।२।२१। इति। शारीरो जीवोऽपि नान्तर्यामी सर्वात्मत्वसर्वनियन्तृत्वसर्वज्ञत्वादीनामतद्धर्मत्वान् हि यतः उभयोऽपि काण्वा माध्यन्दिनाश्च एनं शारीरं जीवमन्तर्यामितो भेदेन पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते। "यो विज्ञाने तिष्ठन्निति काण्वाः"। "विज्ञाने" प्रत्यगात्मनि। "य आत्मनितिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्माशरीरं यआत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा ऽन्तर्याम्यमृत" इति माध्यन्दिनाः

तस्मात्पृथिव्यादिवन्नियम्यत्वमेव जीवस्य न नियन्तृत्वमतोऽधिदेवादिष्वन्तर्यामीपरमात्मैवेतिसिद्धमितिसूत्रार्थः । विवक्षितगुणोपपत्तेश्च । १ । २ । २ । इति मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः सत्यसङ्कल्प इत्यादिविवक्षितानां गुणानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्चेत्यर्थः । श्रुत्यर्थस्तु मनोमयः शमदमादिसाधनसहकृतपरमात्मोपासननिर्मलीकृतेन मनसा ग्राह्यः प्राणशरीरः सर्वप्राणिधारकः प्राणो यस्य शरीरमाधेयं नियम्यभूतञ्च स भारूपो भास्वररूपो दिव्याप्राकृतकल्याणरूपवत्तयानिरतिशयोज्वलययुक्तः । सत्यसङ्कल्पः । अप्रतिहतसङ्कल्पः । आकाशात्मा आकाशवत्स्वच्छरूपः सर्वप्रकाशको वा सर्वं विश्वं कर्म यस्य सर्वा क्रिया वा यस्य स सर्वकर्मा। सर्वकामः । सर्वे कामा भोग्यादयः सर्वविद्या यस्य सन्ति स सर्वकामः । दिव्याप्राकृतस्वभोग्यभूतसर्वविधगन्धरस युक्तः । सर्वमिदं रसपर्य्यन्तमङ्गीकृतवानित्यभ्यात्तः भुक्ता ब्राह्मणा इतिवत् वर्त्तरिक्त इति सूत्रार्थः । सर्वोपेता च सा तद्दर्शनात । २ । १ । २६ ॥ इति । पूर्वमुपादानस्य ब्रह्मणः सर्ववैलक्षण्येन सर्वशक्तियोगात् । कृत्स्नप्रसक्त्यादयो दोषा निरस्ता । तत्र न केवलं सर्ववैलक्षण्येन सर्वशक्त्युपेता सा परादेवतेच्युते अपितु तद्दर्शनात । दर्शयतीतिदर्शनं श्रुतिः । सर्वशक्ति योगश्रुतेश्च । परास्य शक्तिरितिपूर्वमेवोदाहृता श्रुतिरिति सूत्रार्थः । इतिचतुर्भिरेभिः सूत्रैः प्रागुदाहृतश्रुतिप्रतिपाद्यएवार्थो निर्णीतः । अथेदानीमुक्तार्थं स्मृतिप्रमाणेन स्पष्टयति । जगत्प्रभुमिति । श्रीभीष्मवचनं श्रीयुधिष्ठिरं प्रति । जगतश्चेतनाचेतनात्मस्य प्रभुं पतिम् । प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति प्रागुदाहृताश्रुतिः स्मर्तव्या ।

भाषानुवाद

आदित्य वर्णं इससे प्रकाश स्वरूप और इसके स्वरूप को कोई भी आवरण नहीं कर सकता है । प्रकृति काल से पर पुरुषोतम है । 'पश्यइति' जब ब्रह्मद्रष्टापुरुष स्वर्ण से भी अति देदीप्यमान मङ्गल दिव्यविग्रह स्वरूप श्रीपुरुषोत्तम को देखता है भगवान् जगत् का नियन्ता और कर्ता नख से शिख पर्यन्त आनन्द मूर्त्ति है वह भगवान् प्राणों को भी प्राण श्रोत्र का श्रोत्र मन का भी मन चक्षुओं का भी चक्षु है अर्थात प्राण आदिको में भगवान् अपनी शक्ति देते हैं तब सब इन्द्रिय वर्ग अपने अपने कार्य करने में सम्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं हो सकते हैं । भगवान् सत्य काम है सत्य संकल्प है । भगवान् की स्वभाव सिद्ध पराशक्ति बहुत है ज्ञानवल और क्रियादि शक्ति पुरुषोत्तम में विद्यमान हैं । सर्व जगत् श्रीहरि के वशीभूत है । सर्व का नियन्ता है । भगवान् सब विश्व का कर्ता और ज्ञाता भी है । भगवान चतुर्मुख का कारण और काल का

भी कारण है। श्रीहरि दिव्य मंगल गुण सम्पन्न और सर्व विद्याओं के जानने वाले हैं यह सर्व श्रुति ब्रह्मजीव का भेद प्रतिपादन करती है। अधिकन्तु इस सूत्र का अर्थ पहिले प्रदर्शन कर चुके हैं। शारीरश्चेति। जीव सर्व प्राणिमात्र का अन्तर्यामी नहीं हो सकता है क्योंकि सर्वात्मत्व सर्व का नियन्तृत्व और सर्वज्ञत्वादि धर्म जीव में नहीं है। जीव को अन्तर्यामि से भिन्न काण्व शाखा वाले तथा माध्यन्दिनि शाखा वाले कहते हैं। अन्तर्यामी जीवात्मा में स्थित है। यह उक्त सूत्र का अर्थ है। विवक्षितगुणेति। मनोमयत्वादि गुण परब्रह्म में ही उपपन्न होते है। सर्वोपेताचेति। सर्व शक्तिसम्पन्न परब्रह्म देवता है। परास्य शक्तिः" इस श्रुति में ब्रह्म की नाना शक्ति प्रदर्शन करी है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्। लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्, ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्द्धनम् लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम। पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्, दैवतं देवतानाञ्च भूतानां योऽव्ययः पता इति। नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः। अहं सर्वस्व प्रभवो मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति मय साधर्म्यमागताः। पूता मद्भावमागताः द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः, चतुर्विधा भजन्ते मां।

कुञ्चिका

श्रुतेरेवार्थः स्मृत्या बोध्यते। देवदेवं देवानांब्रह्मरुद्रेन्द्रादीनां देवम्। यं सर्वे देवा नमन्तीतिश्रुतेः। अनन्तम्। देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमनन्तत्वम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इतिश्रुतेः। पुरुषोत्तमम्। पुरुषो बद्धजीवोऽक्षरस्तस्माच्चोत्तमः। बन्धमोक्षदत्वेनात्युत्कृष्टः पुरुषोत्तमः॥ न विद्येते आदिनिधने, उत्पत्तिविनाशौ यस्य स अनादिनिधनोपलक्षितः षड्विकारवर्जितः विग्रहस्तम्। विष्णुं व्यापकं। सर्वेषां लोकानां ऊर्ध्वाधोमध्यानां तत्तन्नियंतॄणां ब्रह्मादीनाञ्च नियन्तारम्। सर्वान् लोकान् अध्यक्षयति प्रत्यक्षीकरोतीति लोकाध्यक्षः तं नित्यं सर्वदा स्तुवन् स्तुतिकर्त्ता सर्वाणि आध्यात्मिकादीनि दुःखान्यतीत्य गच्छतीति सर्वदुःखातिगो भवेत् एवम्भूतं शुभं प्राप्नुयादित्यर्थः। ब्रह्मपदवाच्येभ्यः वेदचतुर्मुखादिभ्यो हितं ब्रह्मण्यम्। अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदः सामवेदः। यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च

प्रहिणोति तस्मै ॥ इतिश्रुतेः। सर्वान् धर्मान् जानातीति सर्वधर्मज्ञः तं सृष्ट्यादिकाले तत्तद्धर्मानुरूपेऽधिकारे तान् तान् जन्तून् नियोजयतीतिभावः। लोकानां ब्रह्मेन्द्रादीनां स्रष्टृत्वादिगुणदानेन कीर्तिं वर्द्धयतीति कीर्तिवर्द्धनः सर्वं लोकैः जनैः पुरुषार्थसिद्धये नाथ्यते याच्यते, इतिलोकनाथस्तं महत्' सर्वचेतनाचेतनपूज्यं भूतेति" सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादितृणान्तानि भवोद्भवः तेषामुद्भवः उत्पत्तिस्थानं तं "नारायणाद् ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो जायते" अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। इति-श्रुतिस्मृतिभ्याम् ॥ एवम्भूतं नित्यं स्तुवन्सर्वदुःखातिगो भवेत्। इतिपूर्वेणान्वयः। किमेकं दैवतं लोक इतिप्रश्नस्योत्तरमाह। पवित्राणामिति पावनानां गङ्गापुष्करादीनामपि पवित्रम्। गङ्गास्नानसहस्रेषु पुस्करस्नानकोटिषु यत्पापं विलयं याति स्मृते नश्यति तद्धरौ प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपः कर्मादिकानि वै। यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥ इतिवैष्णवे। "ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः। ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मसनातनम्। पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते। पुण्यनामानि पुण्योसौ मङ्गलानाञ्चमङ्गलम्" इतिवनपर्वणि धौम्यवाक्यतः। स एव प्रस्तुतः मङ्गलानां सुखादीनां मङ्गलम्। तमात्मस्थं येऽनु पश्यन्ति धीरास्तेषांसुखं शाश्वतं नेतरेषातिमिश्रुतेः। भूतानां सर्वेषाम्। अव्ययः स्वरूपतो निर्विकारः। स्वशक्तिविक्षेपतः पिता जनकः। एवम्भूतो यः सर्वेषां देवतानां दैवतम्। पूज्यः। श्रीकृष्णो वै परमं दैवतं यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनः। इतिश्रुतेः। "यत्तदुक्तं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः। यं वै देवा उपासन्ते यस्मादर्को विराजते। योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्। इतिसनत्सुजातवचनाच्च। इतिश्लोकानामर्थः। उक्तार्थं श्रीमद्भगवद्गीतावचनैः द्रढयति। नत्वेवाहमिति। सर्वात्मनां मध्ये यथा अहं सर्वेश्वर इतः पूर्वस्मिन् काले जातुकदाचिन्नासं नाभवमितिन किन्त्वासमेव तथात्वं नासीरिति न किन्त्वासीरेव तथेमे जनाधिपानासन्निति न किन्त्वासन्नेव। एतेन नाशाभावो निरूपितः। उत्पत्तिविनाशाभावादेव मध्येऽपि तेषां सत्त्वं सिद्ध्यति। एवं कालत्रयेऽपि सत्वप्रबोधनात् प्रत्यगात्मनां नित्यत्वं बहुत्वञ्च समर्थितम्। "अहम्" जिज्ञास्यभूतजगज्जन्मादिकारणलक्षणलक्षितपरब्रह्मस्वरूपः "सर्वस्य" ब्रह्मादिस्थावरान्तस्य जगतः प्रभवः उत्पत्तिकारणम्। सर्वजगद्योनिभूतप्रकृतिद्वयाधिष्ठातृत्वादात्मनः सर्वोत्तमत्वं सर्वाधारत्वञ्चाह। मत्त इति। यतः सर्वजगद्योनीभूते चेतनाचेतने मदाश्रये तस्मान्मत्तः परतरं श्रेष्ठं जगत्कारणभूतं स्वतन्त्रं किञ्चिदपि वस्तु नास्ती-

त्यर्थः। ममसाधर्म्यमिति। मत्साम्यं प्राप्ता इत्यर्थः। पूतेति ज्ञानतपसा पूताः निरस्ता-ऽज्ञानतत्कार्यशुभाशुभवासनाः सन्तो मद्भावमागताः। मम यो भावः अपरिच्छिन्न-ज्ञानानन्दवत्वेसत्यप्राकृतप्रकाशानन्दविग्रहवत्वं तमागताः प्राप्ताः स्वरूपभेदेसति "सर्वं ह पश्यः पश्यतीति" मुक्तौ सार्वज्ञ्ययोगोक्तेः सार्वज्ञादिधर्माविर्भावेन विग्रहसाम्येन चाभेदं तादात्म्यलक्षणं भेदाभेदं प्राप्ता इत्यर्थः। भेदसहिष्णुरभेदस्तादात्म्यमिति-भगवत्पतञ्जल्युक्तनादात्म्यलक्षणसमन्वयात्। एवं साधर्म्यवचनेन मुक्तौ स्वरूपैक्यवादः केवलभेदवादश्च वहुवचनेनात्मैक्यवादश्च स्पष्टं निरस्त इति भावः॥ द्वाविमाविति इमौ द्वौ पुरुषौ लोके जगति ज्ञेयावितिशेषः इमौ कौ। क्षरश्चाक्षर एवचेति। तावेवा-र्थतो व्याचष्टे। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। कूटस्थः परिणामनाश-रहितो नित्यः पुरुषः अक्षरशब्दवाच्य इत्यर्थः। उत्तम इति। उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषस्तु क्षराक्षरशब्दनिर्दिष्टाभ्यां द्वाभ्यामन्यो विलक्षणः परमात्मेत्युदाहृतः। परमात्मा भूर्भुवः स्वराख्यंजगदिति परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वर इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्य इत्यर्थः। ये तु पुण्यकर्माणस्ते श्रद्धाप्रीतियुक्ता मां भजन्त इत्याह चतुर्विधा इति। सुकृतिनः पूर्वजन्मसुकृतसञ्चयो विद्यते येषु ते जना मां भजन्ते तेऽपि सुकृततारतम्याच्चतुर्विधा। हे अर्जुन। आर्तादयस्त्रयः सकामा अन्यो निष्काम एकान्ती। तत्र शत्रुव्याध्याद्यापद्ग्रस्तआर्त्तः जिज्ञासुस्तत्वज्ञानार्थी।

भाषानुवाद

ब्रह्मजीव की भेद प्रतिपादक स्मृति दिखलाते हैं। जगत्प्रभुमिति। चेतन अचेतन जगत् के प्रभु=पति हैं। ब्रह्मा रुद्रादि देवों का देवता भगवान् हैं। अनन्त-मिति देशकाल और वस्तु परिच्छेद से रहित सर्वेश्वर है। बद्धजीवों से उत्तम भगवान है। अनादीति। उत्पत्ति विनाश से रहित विष्णु हैं। सर्वलोक के नियन्ता हैं॥ सब लोकों के प्रत्यक्ष करने वाले ईश्वर को सर्वदा स्तुति करने वाला जन सर्व दुःखों से विनिर्मुक्त हो जाता है। ब्रह्मण्यम्=वेद और चतुर्मुख का हितकर्ता और सर्व धर्मों का जानने वाला लोकों की कीर्तिकावर्द्धक और पुरुषार्थ प्राप्ति के लिये सब जन आपसे याचना करते हैं, अतः आप लोकनाथ हो। महत्=सब चेतन और अचेतन के द्वारा भजनीय हों। भूतमिति=सर्व भूतों की उत्पत्ति का कारण भगवान् को स्तुतिकर्ता सब दुःखों से विनिर्मुक्त हो जाता है, जनों को पावन करने वाले गङ्गादि तीर्थ में परम पवित्र भगवान् हैं।

मङ्गल = सुखप्रद वस्तुओं में भी परम मङ्गल रूप श्रीहरि है। सर्व देवताओं का पूज्य निर्विकार श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् हैं। उपदर्शित स्मृतियों के द्वारा भगवान जीव का भेद स्पष्ट है।

नत्वेवाहमिति। सर्वेश्वरमै और तूँ येजनाधिप कालत्रयमेभी उत्पत्ति नाश नहीं होते हैं सर्वदानित्य है। अहंसर्वस्येति। मैं ही ब्रह्मादिस्थावरान्त जगत् का कारण हूँ मेरे से पर कोई वस्तु नहीं है। भगवद्भावापत्तिरूपमुक्ति को श्रीमुख के वचन द्वारा प्रामाणित करते हैं। ममसाधर्म्येति।

नाना जीव मेरी साम्यता को प्राप्त हुए। मद्भावेति। मम योभावोऽपरिच्छिन्न ज्ञानानन्द वत्वेसति अप्राकृत प्रकाशानन्दविग्रहवत्वं तमागताः। इति पूर्वाचार्यैरुक्तम् भाव यह है कि--

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

जनाः, सुकृतिनोऽर्जुनमहात्मानस्तु मां पार्थ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते उदाराः सर्व एवैते, भोक्तारं यज्ञतपसां सर्व लोकमहेश्वरम् सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति, तद्धामपरमं मम मांहि पार्थव्यपाश्रित्य येऽपिस्युः पापयोनयः, स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथासूक्ष्मसूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैस्तथा स्थूलैः स्थूलतरैश्चैव तत्सर्वं प्राणिभिरावृतम्, अङ्गुलस्याष्टमो भागो न सोऽस्ति मुनिसत्तम। न सन्ति प्राणिनो यत्र निजकर्मनिबन्धनाः॥ सर्वेचैते।

कुंचिका

तर्हि के सफलजन्मानः श्लाघ्या इत्थपेक्षयामाह महात्मानइति। महान् जन्मान्तरसहस्रार्जितपुण्यसञ्चयैर्विध्वस्तसमस्तपापतयाक्षुद्रकामाद्यनभिभूतः परमतत्वविचारार्हत्वादुदारआत्मा चित्तं येषां ते महात्मानस्तेतु अभयं सत्वसंशुद्धिरित्यादिना वक्ष्यमाणांदैवीं सात्विकीं प्रकृतिमाश्रिता अतएवान्यस्मिन् मद्व्यतिरिक्ते वस्तुनि नास्ति मनो येषां तेऽनन्यमनसो भूतादिं सर्वजगत्कारणम् अव्ययमजहत्स्वरूपगुणशक्तिकं स्वानन्यभक्तानुग्रहार्थं यथाभक्ताभिलाषपूर्त्यर्थं मनुष्यसमानाकारेणावतीर्णमांभजन्तीत्यर्थः।

तेषां मध्ये ज्ञानी श्रेष्ठ इत्याह। तेषांमिति तेषां चतुर्विधानां मध्ये ज्ञानी तत्वज्ञानवान् विशिष्यते सर्वोत्कृष्टो भवतीत्यर्थः। कुतः, यतो नित्ययुक्तः मयि

भगवति यदाऽविच्छेदेनावेशितचेताः। किञ्च यथा सकामः पुरुष. कुटुम्बाद्यासक्तमना अपि राजाद्यन्यं भजते न तथायं कश्चिदन्यं भजते किन्तु एकभक्तिरिति। देवान्तर-साधनान्तरफलान्तरसम्बन्धान्तरनिरासेन सर्वदेवसाधनफलसम्बन्धरूपे एकस्मिन् समाभ्यधिकशून्ये भगवति चिदानन्दघने मय्येव मद्विषयिकैव भक्तिरर्चनवन्दनकीर्त्त-नध्यानादि भजनं यस्य सः भजनं भक्तिरित्युक्तं वाङ्मनः कायकर्मभिः। भजइत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्त्तितः। तस्मात्सेवाबुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसीतिस्मृतेः। हि यस्मात्ज्ञानिनोऽहमत्यर्थं प्रियः, अनवधिकप्रीतिविषय इत्यर्थः उदारा इति एते आर्तादयः सर्व एवउदारा वदान्या जन्मान्तरेषु कृतपुण्यवन्तः नह्यल्पपुण्यैर्मद्भक्ता भवन्तीत्यर्थः भोक्तारमिति। यज्ञानां तपसां च श्रद्धाप्रीतिपूर्वकसमर्पितानां भोक्तारं पालनाव्यवहारकर्त्तारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेषां लोकानां लोकेश्वराणामीश्वरं सर्वभूतानां प्राणिनां सुहृदं हितेच्छु मां ज्ञात्वा शान्ति संसारबन्धात्मकविक्षेपनिवृत्ति-रूपां दशामृच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। तद्धामेति। धाम ज्योतिस्वरूपं ज्योतिरूपत्वात् सूर्यादयस्तु जडमेव प्रकाशयन्ति नतु स्वयम्प्रकाशम्, प्रकृतज्योतिर्व्यावर्त्तयति। परमिति। तमसः परमित्यर्थः। अतएव यद्गत्वा प्राप्य न निवर्त्तन्ते पुनः संसारिणो न भवन्तीति। मां हीति। येऽपि पापयोनयोऽधमजन्मानोऽन्त्यजादयस्तु तथाध्यय-नादिवर्जिताः स्त्रियः वैश्याः कृष्यादिमात्रनिकृष्टवृत्तिरताः न त्वन्यवृत्तयः स्त्रीशूद्रयोर्म-ध्येगणनीयास्तथाशूद्रा उत्तमवैदिकधर्महीना अधमगतियोग्या अपि हे पार्थ तेऽपि मां व्यपाश्रित्यानन्यतया शरणमागत्य परां श्रेष्ठां गतिं यान्ति। हीति निश्चितमित्यर्थः॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतावचनानां विवरणम् श्रुत्याद्युक्तो धर्मो भगवदाराधनतयानुष्ठितो निःश्रेयसायैतदर्थं यमभटसम्वादं प्रस्तौति॥ स्थूलैरिति। अस्यपूर्वश्लोकं विष्णु-पुराणे तृतीयांशस्थसप्तमेऽध्याये विद्यते। सप्तद्विपानि पातालविथयश्च महामुने। सप्तलोकाश्च येन्तस्था ब्रह्माण्डस्यास्ति सर्वतः॥ इति स्थूलैः सूक्ष्मैःस्तथा सूक्ष्मसूक्ष्मात्सूक्ष्मतरैः दृष्टयगोचरैः स्थूलास्थूलतरैः प्राणिभिः सर्व विश्वमावृत्तं व्याप्त-मित्यर्थः।

भाषानुवाद

ज्ञानी से भी उत्कृष्ट परम बिरक्त अनन्य भक्त उक्त चारों भक्तों मे भिन्न दिखलाते हैं। माहात्मानस्तु मामिति। निष्किञ्चन अनन्य भक्त अनवरत श्रीहरि का स्मरण कीर्तन करता है वह सर्वोत्कृष्ट श्लाघनीय हैं। उपदर्शित तीन भक्तों की अपेक्षा

से ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है क्योंकि देवतान्तर साधनान्तर फलान्तर और सम्बन्धान्तर इन सबों से रहित हैं। आर्तादिक भक्त भी उदार हैं क्योंकि देवतान्तर का आराधन न हो कर श्रीहरि का ही उन्होंने आराधन किया है। मैं ही तत्तदेवता रूप से सब यज्ञादिकों का भोक्ता हूं, यज्ञादि कर्मों का फल दाता मैं ही हूँ सबों का स्वामी मैं हूं। सब प्राणी-मात्रों का मित्र हूं मेरे को जानकर जीव शान्ति को प्राप्त होता है। मेरा वह परमधाम अर्थात् स्वयं प्रकाश रूप है। हे पार्थ हीन जाति वाले मनुष्य अनन्य होकर मेरी शरण में आते हैं उन को मैं परमगति को देता हूं। उपदर्शित वचनों के द्वारा तत्त्वत्रय प्रदर्शन किये। अब जीव सर्वथा भगवान के परतन्त्र और अनन्त है इस अर्थ को श्रीविष्णुपुराण के वचन से दिखलाते हैं स्थूल सूक्ष्म प्राणियों से यह जगत् पूरित है,ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ निज कर्म के वशीभूत जीव न हो, प्रायः जीव आयु की समाप्ति में धर्मराज के अधीन होते हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

वशं यान्ति यमस्य भगवान् किल। आयुषोऽन्ते ततो यान्ति यातनास्तत्प्रचोदिताः ॥ यातनाभ्यःपरिभ्रष्टा देवाद्यास्वथ योनिषु। जन्तवः परिवर्तन्ते शास्त्राणामेष निश्चयः परिहर मधुसूदन प्रपन्नान् प्रभुरहमन्यनृणां न वैष्णवानाम्। अहममरागणार्चितेन धात्रा यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः। हरिगुरुवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः त्वं परस्त्वं परस्त्याद्यः परतस्त्वं परात्मकः परस्मात्परमो यस्त्वं।

कुञ्चिका

अङ्गुलस्येति। हेमुनिसत्तम श्रेष्ठकर्मवन्ध एव नितरां वन्धनं येषां ते प्राणिनः यत्र न वसन्ति स अङ्गुलस्याष्टमो भागः अंशोपि नास्ति। सर्वत्रैव भूताः निवसन्तीत्यर्थः। सर्वेचेतइति। हेभगवन सर्वे एते प्राणिनः यमस्य धर्मराजस्य वशं यान्ति किल निश्चयेन आयुष अन्ते यमप्रचोदिता यातना तथा यान्तीत्यर्थः यातनाभ्यइति। यातनाभ्यः स्वकर्मविपाकेभ्यः परिभ्रष्टास्सन्तः। अथानन्तरं देवाद्यासु योनिषु जन्तवः प्राणिनः परिवर्त्तन्ते,एषः शास्त्राणां निर्णयः। सोऽहमिच्छामि तच्छ्रोतुं यमस्य वशवर्त्तिनः। न भवन्ति नरा येन तत्कर्म कथयस्व मे ॥ इति मैत्रेयप्रश्नः पराशरं प्रति। ततो यमकिङ्करसम्वादेन तस्य समाधानमाह। स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं वदति यमः

किल तस्य कर्णमूले । इतिपूर्वार्द्धम् परिहर इति श्लोकस्य । परिहरेत्यादियमवचनम् प्रभुरिति । स्वप्रभावभङ्गस्थानं न प्रकाश्यमितिनीत्या विष्णुनामसूच्चैरुच्चारितेषु नारकिणोऽपि तच्छ्रवणादिना नरकान्मुच्येरन् तेन स्वाधिकारहानिरित्यालोच्य कर्णमूले कथनम् । पाशहस्तंपापिजननयनायमर्त्यलोकं गन्तुमुद्यन्तं वीक्ष्य विष्णुभक्तान् परिहृत्यान्यानानयेत्याद्यतिरहस्यं कर्णमूले यमो वदतीत्यर्थः ।

न । वैष्णवानां प्रभुरित्यत्र हेतुमाह । अहमिति । प्रजासंयमनाद्यम इतिसंज्ञया लोकस्य हिताहितशुभाशुभफलदानार्थं धात्रा नियुक्तोऽप्यहं हरिरेव गुरुस्तद्वशवर्त्यस्मि नतु स्वतन्त्रः । ममापि संयमने दण्डे विष्णुः प्रभुर्भवतीत्यर्थः ।। त्वंपरइति । विष्णुपुराणे ३ अंश० । अ० ७।।प्रकृतेः परः पुमांस्त्वम् । परस्माद्यः ·परः मुक्तः स त्वम् । परंत्वतः । परात्मकेन्द्रादेरुत्कृष्टं प्रधानमपि त्वत्तो भवति परस्मात्परमो यस्त्वम् । उक्ताद्बद्ध-मुक्तप्रधानरूपात्परस्मात् परमो यस्य त्वं तस्य तव किं तोष्यामि । इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तुपराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः महतः परम-व्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिरितिश्रुतेरर्थः प्रदर्शितइत्यर्थः ।

भाषानुवाद

श्रीयमराज की आज्ञा के अनुसार जीव यमयातना के दुःख को भोगते हैं। पश्चात मनुष्य और देवतादि योनि को प्राप्त होते हैं इस प्रकार जीव अनादि काल से संसार चक्र में घूम रहे हैं। कदाचित् दैववश से इस जीव को महत् पुरुषों का संग प्राप्त हो तब यह जीव श्रीगुरुदेव की शरण को प्राप्त होता है तब इस जीव का जन्म मरण प्रवाह छूटजाने से श्रीहरि को प्राप्त होता है। धर्मराज स्वयं अपने दूतों को उपदेश करता है कि जो श्रीहरि के अनन्य भक्त हैं, उन्हों के निकट भूलकर भी नहीं जाना क्योंकि भक्त भिन्न मनुष्यों पर मेरा अधिकार है भक्तों पर मेरा अधिकार नहीं है। देवतागण से पूजित श्रीहरि ने लोकों के हित और अहित में मेरे को नियुक्त किया है। यमराज कहता है कि मैं भी श्रीहरि गुरुदेव के वश में हूं मैं स्वतन्त्र नहीं हूं मेरे को शासन करने वाले विष्णु हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तस्य तोष्यामि किन्त्वहम् । निर्मलज्ञानरूपाय विज्ञाननिलयाय च ।

उद्गीथाय नमस्तुभ्यं रथन्तरनमोस्तुते । यं विदुर्वेदतत्त्वज्ञा ब्रह्माद्याः सनकादयः । विचिन्वन्तः प्रदीपेन ज्ञानाख्येन च केशव सोऽसि देवजगन्नाथ योदृष्टो ब्रह्मवादिभिः यं प्राप्य न निवर्तन्ते योगिनोऽमलचेतसः । त्वमाहुः सकला वेदा ब्रह्मेति ज्ञाननिश्चयाः । त्वमेवेदं जगत्सर्वं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् । एवं जानीत हे विप्रा भक्ता द्रष्टुमागताः ॥ एतदेव परं वस्तु नैतस्मात् परमस्तिवः । एतदेव सदा विप्रा ध्येयं सततमानसैः एष वो मोक्षदाता च एषमार्ग उदाहृतः ।

कुञ्चिका

निर्मलं शुद्धं ज्ञानात्मकं रूपं यस्य बद्धक्षेत्रज्ञव्यावृत्तये निर्मलेति । विज्ञानस्याधाराय 'उद्गीथाय' ओङ्कारपदप्रतिपाद्याय तुभ्यं नमः वेदस्य तत्वं जानातीति वेदतत्वज्ञाः ज्ञानाख्येन प्रदीपेन यं विचिन्वन्तः अन्वेष्यन्तः मुमुक्षवः भक्ताः सनकादयः यं परमात्मानं विदुः हेकेशव सत्वमसीत्यर्थः । हेदेव हेजगन्नाथ ब्रह्मवादिभिः यः दृष्टः शुद्धचेतसः योगिनः यं भगवन्तं प्राप्य पुनर्नंनिवर्त्तन्ते सत्वमसीति पूर्वेणान्वयः । यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम इत्यर्थः ।

भाषानुवाद

निर्मलेति । शुद्धज्ञानस्वरूप और विज्ञान के आधार ओंकार प्रतिपाद्य भगवान् को नमस्कार है । वेद के तत्व को जानने वाले ज्ञानरूप दीपक से अन्वेषण करने वाले चतुर्मुख और श्रीसनन्दनादि मुनि जिस परमात्मा को देखते हैं । हे केशव ! सो तू है । हे देव ! हे जगन्नाथ ! ब्रह्म के ज्ञाताओं ने जिसको देखा और शुद्धान्तःकरण वाले योगि जिसको प्राप्त होकर फिर संसार में लौट के नहीं आते हैं सो परमात्मा तू है । वेद के अर्थ ज्ञान से निर्धारण जिन्हों ने किया ऐसे सकल वेद तुमको ब्रह्म कहते हैं । सर्व चेतनरूप तू है तुम्हारे से भिन्न नहीं है वासुदेव में सब विश्व प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् सर्व जगत् का आधार भगवान् है इससे पर वस्तु कोई नहीं है इस पर वस्तु का एकाग्र मन से सदा ध्यान करना चाहिये । यही भगवान् हमारे को मोक्ष को प्रदान करेंगे ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

एवमुक्तास्ततः सर्वे मुनयः पुण्यशालिनः । यथावदुपगृह्याना निरसन् संशयं नृप । छिन्नो नः संशयः सर्वोगृहीतार्थः स तादृशः । परं परस्यापि परं

परं यत्परं परस्यापि परमञ्च देवम्, परंपरस्यापि परं प्रभुञ्च त्वामाहुरग्र्यं, पुरुषं पुराणम्। परंपरस्यापि परं परायणं परञ्च गुह्यं परमञ्चमन्त्रं परेण योगेन परं सुगुप्तं तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्। यत्र सर्वं यतः सर्वमुत्पन्नं सत्पुरस्सरम्, सर्वभूतश्च यो देवः पराणामपि यो परः परस्मात्पुरुषात् परमात्मा।

कुञ्चिका

त्वामाहुरिति। ज्ञानेन वेदार्थज्ञानेन निश्चयः निर्धारणं येषु एवम्भूता सकला वेदाः त्वां ब्रह्मेति प्रकारेणाहुः। सकलं चेदनाचेतमिनदं जगत् त्वमेव त्वत्त अन्यद्यतिरिक्तं नास्ति त्वयि परमात्मनि वासुदेवे सर्वं विश्वं प्रतिष्ठितं त्वदाश्रितमित्यर्थः। एतस्मात्परतरं वस्तु नास्तीत्याह। एतद्देवेति। मोक्षदातृत्वं वासुदेवस्यैवातः सदा स एव ध्येय इत्याह। एतद्देवेति। परंपरस्यापीति "परस्य" स्वरूपगुणैश्वर्यादिरुत्कृष्टेभ्योऽप्युत्कृष्टम्। "परम्" संसाराध्वनः परमावधीभूतं विष्णुम्। परम् प्रधानपुरुषव्यक्तकालादिभ्यः परं विलक्षणम्। "परस्य" नित्यमुक्तस्य परमुत्कृष्टम् "परमं" विलक्षणं। देवम् प्रकाशस्वरूपम्। देवानां देवमित्यर्थः। 'परस्य" ब्रह्मणोरूपस्य पुरुषस्य। परं विलक्षणम्। परम् उत्कृष्टं 'प्रभुं" भौतिकेषु ईशित्वं नियन्तृत्वमितियावत् एवम्भूतं त्वां पुराणं पुरातनं पुरुषं अग्र्यमाहुः वेदा इत्यर्थः। परंपरस्यापि परंपरायणमिति यतः प्रधानादिभ्यः परस्य चतुर्मुखस्य परं परमार्थरूपं ब्रह्मादिवन्नविनाशिविग्रहः अपितु सर्वशक्त्याश्रयपरमार्थदिव्यविग्रहम्। "परं' परमप्रयोजनानन्दस्वरूपं। अतएव परायणम् ईयते प्राप्यते इति अयनम्। बाहुलकात्कर्मणि ल्युट् न स पुनरावर्त्तते। देवान् देवयजो यान्ति पितॄन् यान्ति पितृव्रताः। भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोपि माम्। मामुपेत्य तु कौन्तेयपुनर्जन्म न विद्यते। इतिस्मृतेः। परञ्च गुह्यमिति। अत्युत्कृष्टरहस्यम्, "परमञ्चमन्त्रम्" सर्वावभासकं मन्त्रं मन्त्रात्मकम् तदेव स्पष्टयति परेणेति। सर्वोत्कृष्टेन योगेन चित्तवृत्तिनिरोधात्मकेन। चतुर्मुखस्य वचनंभगवन्तं प्रति यतः सर्वमिति। यत्र सर्वमित्यादियच्छब्दानां स आद्यः-पुमान्प्रसीदत्वितितृतीयेन विष्णुपुराणश्लोकेन समन्वयः। यतः ब्रह्मणसकाशात् सत्पुरःसरम् मदग्रकं सर्वं विश्वं समुत्पन्नम्। सर्वभूतः सर्वाणि भूतानि यस्मिन् सः यो देवः प्रकाशकः पराणामक्षरादीनामपि परः पुरुषः। इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था इति श्रुतेः। परः परस्मादिति। तस्मात्परस्मादव्यक्तात्तत्प्रेरकात्कारणात्मन पुरुषादपि यः परः यतः परमात्मैव स्वरूपधृक्। मूर्तिधारी।

भाषानुवाद

इस प्रकार कथन के द्वारा पुण्य सम्पन्न सर्व मुनियों ने यथार्थ वस्तु को ग्रहण किया उन्हों का सन्देह दूर हुआ। परंपरस्येति। स्वरूप गुण ऐश्वर्य्य के द्वारा जो उत्कृष्ट हैं उन्हों से भी उत्कृष्ट श्रीभगवान् हैं परम्=संसार पथ के पर श्रीहरि हैं, परम्=प्रधान पुरुष काल से विलक्षण हैं। परस्य=नित्यमुक्त से उत्कृष्ट हैं, परमम्=विलक्षण देवता है अर्थात् देवों का भी देव है। परस्य=ब्रह्म का रूप जो पुरुष उससे भी परम्=विलक्षण हैं, पर उत्कृष्ट प्रभु=सबों के नियन्ता हैं उक्त विशेषण विशिष्ट पुरातनपुरुष को सबों के अग्रगामी वेद कहते हैं। परंपरस्यापीति। प्रकृति से पर चतुर्मुख है उससे भी पर=परमार्थ दिव्य मंगल विग्रह जिनों का है, परम प्रयोजन आनन्द स्वरूप है, अतएव भगवान् ही जीवों का परम प्राप्ति स्थान हैं परगुह्य अर्थात अत्युत्कृष्ट रहस्य है, सर्व का प्रकाशक मन्त्ररूप हैं। सर्वोत्कृष्ट योग से भी गुप्त श्रीहरि को अग्रगण्य वेद कहते हैं। 'यत्रसर्वमिति' सर्व जगत् का आधार ब्रह्म है, चतुर्मुख श्रीभगवान् के प्रति कहते हैं कि मैं हूँ अग्र में जिनों के ऐसे सर्व विश्व के उत्पत्ति श्रीहरि से ही होती हैं। सर्वभूत इति सर्वभूत श्रीहरि में विराजमान हैं। देव=प्रकाश स्वरूप। प्रधान पुरुष से पर=उत्कृष्ट हैं। कारण रूप पुरुष से भी पर है और परमात्मा ही अनेक स्वरूपों को धारण करता है। अतएव मुक्ति के प्राप्ति के लिये योगीजन श्रीहरि का चिन्तन करते हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

स्वरूपधृक् योगिभिश्चिन्त्यते यस्तु भुक्तिमुक्तिहेतुर्मुमुक्षुभिः। अथवा सर्वविद्विष्णुः सर्वस्य हृदि संस्थितः। जानात्येव सदाभावं प्राणिनां शोभनेतरम्' इत्याद्याः स्मृतयश्च तत्र ब्रह्मात्मकत्वादिति। ब्रह्म आत्मा यस्य चेतनाचेतनवस्तुजातस्य तद्ब्रह्मात्मकं तस्य भावस्तत्त्वंतस्मात्। एष मे आत्मा अन्तर्यामी अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।

कुञ्चिका

अतएव मुक्त्यर्थं योगिभिश्चिन्त्यते योऽसावित्यर्थः। हेतुं विवृणोति ब्रह्मात्मकत्वादित्यादिना यद्यद्वचनेभ्यो योयोऽर्थः सिद्ध्यति तं तं वाक्यं समुद्धृत्य पुनरप्युक्तार्थं प्रमाणेन स्पष्टयति। एष मइत्यादिना। श्रुतिवाक्यानामर्थ उक्तप्रायम्।

भाषानुवाद

सर्वविद्विष्णुरिति। विष्णु भगवान् सर्वज्ञ है सब प्राणिमात्र के हृदय में स्थित है अतः सब जीवों के भले बुरे भावों को जानते हैं। इत्यादिक स्मृति वचन भेद में प्रमाण है। सर्व विज्ञान यथार्थ है इस प्रतिज्ञा वाक्य में हेतु दिखलाते हैं, 'ब्रह्मात्मकत्वादिति' इस पद का अर्थ प्रकाश करते हैं कि सकल चेतन और अचेतन वस्तु का आत्मा ब्रह्म है अतः सकल जगत् ब्रह्मात्मक है इस अर्थ को श्रुति स्मृति के द्वारा निरूपण करते हैं। 'एषम इति' यह परमात्मा मेरे आत्मा हैं सबों का अन्तर्यामी है प्राणिमात्र के अन्तः प्रविष्ट है जीवों को शासन करने वाला है सब जीवों का आत्मा है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्। आत्मेतितूपगच्छन्ति ग्राहयन्तिच। अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः॥ अहं भवो भवन्तश्च सर्वे नारायणात्मकाः इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः सत्त्वं तेजो वलं धृतिः वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एवचेत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। यो यदात्मकः सतद्भेदव्यपदेशार्हः सुवर्णकुण्डलादिवदितिव्याप्तिश्चातिप्रसिद्धत्वात् तदायत्तस्थितिप्रवृत्तिकत्वादिति।

कुञ्चिका

उक्तार्थं व्याप्तिद्वारेणापि व्यवस्थापयति। योयदात्मक इति। यत् कुण्डलघटादिकार्यं यदात्मकं सुवर्णमृदात्मकं भवति तत्कार्यं सुवर्णमृदाद्यभिन्नमित्यर्थः निखिलं चेतनाचेतनात्मकं वस्तु ब्रह्माभिन्नमित्यत्र हेत्वन्तरमुपन्यस्यति। तदायत्तेति।

भाषानुवाद

परमात्मा सर्वत्र व्यापक और सब भूतों का अन्तरात्मा है सर्व विश्व का रक्षक हैं विश्व का आत्मा ईश्वर है उपदर्शित श्रुतियों से यह सिद्ध हो चुका कि चेतन और अचेतन विश्व का आत्मा परमात्मा है। अब सूत्र के द्वारा उक्तार्थ को को प्रमाणित करते हैं। आत्मेति ब्र० सू० ४। १। ३। परमात्मा अंशि है, मैं उसका अंश हूं मैं भगवदात्मक हूँ श्रीहरि के बिना मेरी स्वतन्त्र स्थिति प्रवृत्ति नहीं हैं। अतः मुमुक्षजनोंने परम पुरुष भगवान् मेरा आत्मा है ऐसा ध्यान करना चाहिये यह उक्त सूत्र का अर्थ है। श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् श्रीअर्जुन के प्रति उपदेश करते हैं कि मैं

सबों का आत्मा हूं सबों के हृदय में मैं स्थित हूं। विष्णु पुराण में ब्रह्मा देवताओं को कहता है कि मैं श्रीमहादेव तुम सब देवता नारायण आत्मक है अर्थात् हमारा तुम्हारा आत्मा नारायण है. महाभारत के वचन द्वारा भी उक्तार्थ को प्रामाणित करते है। 'इन्द्रियाणीति' इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अन्तःकरण, तेज, बल, धृति, क्षेत्र क्षेत्रज्ञ ये सब वासुदेवात्मक हैं। इन स्मृति वचनों से निश्चय हो चुका है कि सब विश्व ब्रह्मात्मक हैं। उक्त अर्थ को तर्क के द्वारा प्रामाणित करते हैं। यो यदात्मक इति।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तत्तस्य ब्रह्मण आयत्ता अधीना स्थितिः प्रवृत्तिश्च यस्य वस्तुमात्रस्य तत्तथा तस्य भावस्तत्वं तस्मात्। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। एतदक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। भीषस्माद्वातः पवते अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते किमनेन जगन्नाथ सर्वं त्वद्वशगं जगत्। विश्वंचेदं त्वद्वशे विश्वयोने नमोस्तुते।

कुञ्चिका

हेत्वर्थमेव विवृणोति। तत्तस्येति। सर्वस्य विश्वस्य ईश्वराधीनत्वं श्रुतिप्रमाणेन समर्थयति। सन्मूला इति।

भाषानुवाद

जो यदात्मक होता है वह उससे अभिन्न होता है जैसे कुण्डल सुवर्णात्मक हैं अतः सुवर्ण से अभिन्न हैं वैसे ही जीव और प्रकृति ब्रह्मात्मक है अतः ब्रह्म से अभिन्न हैं। एवं जिसकी स्थिति प्रवृत्ति जिसके अधीन होती है वह उससे अभिन्न होता है। उक्तार्थ को श्रुति स्मृति के द्वारा प्रामाणित करते हैं सन्मूलेति हे सोम्य ! इस सब प्रजा का मूल कारण ब्रह्म ही है। इस जगत् का आधार भी ब्रह्म ही है इसकी स्थिति प्रवृत्ति ब्रह्म के अधीन है। जिस भगवान् की आज्ञा का पालन सूर्यचन्द्रमा करते हैं इन दोनों की स्थिति प्रवृत्ति हरि के अधीन हैं। जिस परमात्मा के भय से वायु चलता है, श्रीकृष्णचन्द्र भगवान अर्जुन के प्रति स्वयं कहते हैं कि मैं सब विश्व का कारण हूं मेरे से ही इस विश्व की स्थिति प्रवृत्ति है यह सब जगत् आपके वशीभूत है आप ही इस विश्व के कारण हो आपको बारम्बार नमस्कार है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

शङ्खचक्रासिपाणे ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति भ्रामयन्सर्व-

भूतानि यन्त्रारूढानि मायया । ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम् । जगद्वशे वर्ततेऽदः कृष्णस्य सचराचरमिति वाक्यकदम्बात् । किञ्च यद् यदायत्त-स्थितिप्रवृत्तिकं वस्तु तत्तदऽभेदव्यपदेशार्हमित्याम्नायते छान्दोग्ये प्राणसम्वादे न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राणइत्येवाचक्षते प्राणोह्य वैतानि सर्वाणि भवन्तीत्यादिना । अपिच तद्व्याप्यत्वादिति ।

कुञ्चिका

प्रत्यगात्मनां स्मृतिप्रमाणेनापीश्वराधीनत्वमाह ईश्वर इति । ईश्वरः सर्व-चेतनाचेतननियमनशीलो भगवान्वासुदेवः सर्वभूतानां हृद्देशे हे अर्जुन तिष्ठति किं कुर्वन् । सर्वभूतानि मायया निजशक्त्या भ्रामयन् तदनादिवीजभूतकर्मानुसारेणशुभाशुभ-कर्मसु प्रवर्तयन् कथंभूतानि यन्त्रारुढानि प्रकृतिपरिणामदेहेन्द्रियरूपं यन्त्रमारूढान्या-रोपितानि यथादारुमययन्त्रमारूढानि कृत्रिमाणि पक्षिमृगादिभूतानि सूत्रबद्धानि सूत्रा-धारो लोके भ्रामयति तद्वदित्यर्थः ससुरासुरेति । अदोजगत् विविधैः सुरादिभिर्भोक्तृभिः सहितं भोग्यरूपं कृष्णस्य सदानन्दस्य नियन्तुर्वशे वर्तते इत्यर्थः । तदायत्तस्थिति-प्रवृत्तिकमिति । यद् विश्वमात्रं भगवदायत्तस्थितिप्रवृत्तिकं तद्विश्वं भगवद्भेदव्यपदे-शार्हमित्यर्थः उक्तव्याप्तौ श्रौतप्रमाणमाह छान्दोग्ये प्राणसम्वाद इति । न वै वाचो नचक्षूँषीति । लौकिका वा आगमज्ञा वा वागादीनीन्द्रियाणि सर्वाणि वागादिशब्दै-र्न व्यवहरन्ति । अपितु प्राणशब्देनैव व्यवहरन्ति तत्कस्य हेतोः प्राणाधीनासत्ताकत्वा-दितरेषां यदधीना यस्य सत्ता तर्हि तनैव भण्यत इतिव्याप्त्या प्राणाधीनसत्वाकत्वादित-रेषामिन्द्रियाणां सर्वाणीन्द्रियाणि प्राण एव भवन्तीत्यर्थः । हेत्वन्तरेणापि सर्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वं समर्थयति । तद्व्याप्यत्वादिति ।

भाषानुवाद

चेतन अचेतन को नियमन करने वाला भगवान् वासुदेव सर्वप्राणियों के हृदय में स्थित हैं वही सब भूतों को निजशक्ति के द्वारा निजकर्मों के अनुसार शुभ और अशुभ योनि में प्रवृति करा रहा हैं प्रकृति कार्य देह इन्द्रियरूप यन्त्र में भूतों को भगवान ने आरोपण किया है । जैसे सूत्र धार काष्ट की पुत्तली को भ्रमाता है वैसेही सब जीवों को भ्रमा रहा है । देवता और असुर गन्धर्व आदि चराचर विश्व श्रीकृष्ण-चन्द्र के वशीभूत हैं। इससे निश्चय हो चुका कि सब विश्व की स्थिति प्रवृत्ति श्रीहरि के आधीन हैं । जिसकी स्थिति प्रवृत्ति जिसके आधीन होती है वह उससे अभिन्न

होता है यह व्याप्ति छान्दोग्य उपनिषद् की प्राण सम्बाद में प्रसिद्ध है। न वै वाच इति। सब इन्द्रियों की स्थिति प्रवृत्ति प्राण के अधीन हैं। अतः इन्द्रियवर्ग प्राण से अभिन्न है। एवं जो जिसका व्याप्य होता है वह उससे अभिन्न होता है। चेतन और अचेतन व्याप्य हैं इस अर्थ को श्रुति के द्वारा प्रामाणित करते हैं। यच्चेति॥

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपिवा अन्तर्वहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः। द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्चसर्वा इत्यादिशास्त्रात्। योयद्व्याप्य सतद्रूप इत्यत्र योयंतवागतो देव समीपे देवतागणः, स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्। सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व इत्यादिस्मृतेर्मानत्वं वोध्यम् एतदुक्तं भवति सत्ता तावद्द्विविधा स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात्। तत्र स्वतन्त्रसत्तानाम। आत्माश्रितत्वेसति स्वायत्तस्थितिप्रवृत्तिकता। सा परब्रह्मविश्वात्मनिष्ठा सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवा।

कुंचिका

सर्वस्य ब्रह्मव्याप्यत्वे श्रुतिमानमाह। यच्चकिञ्चिज्जगत्यस्मिन्निति। उक्तार्थं व्याप्याऽपि द्रढ़यति। योयद्व्याप्यः इति। एतदुक्तं भवतीति। एतावता प्रवन्धेन यत उक्तंतदेतद्भवतीत्यर्थः तत्किमित्यत आह। सत्तेति। द्वैविध्यं दर्शयति। स्वतन्त्रपरतन्त्रेति "तत्र" तयोर्मध्यइत्यर्थः स्वतन्त्रसत्तां लक्षयति स्वतन्त्रसत्तानामेति 'सा।'स्वतन्त्रसत्ता ब्रह्मण स्वतन्त्रसत्वे श्रुतिं प्रमाणयति। सदेवेति। श्रुत्यर्थस्तु स्वतन्त्रसत्ताश्रयः सत्यदार्थः। आत्मा हिपरमःस्वातन्त्रोऽध गुण इतिश्रुतेर्वद्यमाणत्वात् एकपदं ब्रह्मणः चराचराभ्यामुत्कर्षरूपप्राधान्यं विधत्ते। 'एके मुख्यान्यकेवलाः॥" इत्यमरोक्तेः। अन्ययोगव्यवच्छेदार्थः प्रथम एव शब्दार्थः तदधिकोत्कृष्टव्यवच्छेदपरो द्वितीयः। स्वातिशयवस्तुशून्य इत्यर्थः। अद्वितीयशब्दश्च समाननिषेधपरः। न तत्समश्चाभ्येतिश्रुतेरिति॥

भाषानुवाद

जो वस्तु इस संसार में देखा जाता और श्रवण इन्द्रिय का गोचर है उस वस्तुओं के भीतर बाहिर नारायण व्याप्य होकर स्थिति हैं। श्रीमुख वचन के द्वारा भी उक्तार्थ को प्रामाणित करते हैं। द्यावेति। स्वर्ग पृथ्वी के मध्य में जो आकाश

हैं वह तुम्हारे एक स्वरूप से व्याप्त और सब दिशाओं में आप ही व्याप्त हो। जो जिसका व्याप्य होता है वह उससे अभिन्न होता है, जैसे घटमृत्तिका का व्याप्य है अत घट मृत्तिका से अभिन्न हैं। वैसे यह चेतन और अचेतन जगत् भगवान् का व्याप्य है। अत ब्रह्म से अभिन्न है। जो देवतागण आपके समीप में उपस्थित हैं सो तुम ही हो क्योंकि इस जगत् के कर्ता आप ही हो अत सर्वप्राणिमात्र में आप ही विद्यमान हो। सब विश्व की समाप्ति आप ही में हैं इससे भी आपही सर्व स्वरूप हो इत्यादि स्मृति वचन उक्त अर्थ में प्रमाण हैं। पूर्व उपदर्शित श्रुति स्मृतियों के द्वारा जो सिद्धान्त हुआ वह यह कि स्वतन्त्र और परतन्त्र सत्ता दो प्रकार की हैं। आपने आश्रित होकर जिसकी स्थिति और प्रवृत्ति अपने आधीन हो उसको स्वतन्त्र सत्ता कहते हैं। स्वतन्त्र सत्ता विश्वात्मक परब्रह्म में रहती है। उक्त अर्थ को श्रुति तथा स्मृतियों के द्वारा प्रामाणित करते हैं। सदेवेति। स्वतन्त्र सत्ता का आश्रय सत्पदका अर्थ हैं। भगवान् सृष्टि के पहिले एक ही रहे उसके समान द्वितीय कोई नहीं था।

वेदान्तरत्न-मञ्जूषा

द्वितीयम्, एतदक्षरस्य प्रशासने गार्गिसूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः भीषस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्द्धावति पंचमः आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः एषः सर्वेश्वरः सएव सर्वाधिपतिः स कारणं कारणाधिपाधिपः नतस्य कश्चिज्जनयिता न चाधिप इत्यादि श्रुतिभ्यः। सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनंच, शास्ता विष्णु शेषस्येत्यादिदिस्मृतिभ्यश्च एवं स्वतन्त्रसत्ताश्रयो निरस्तसाम्यातिशयो विश्वात्मा परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः इतिसिद्धम् ॥ सकारणमिति ॥

कुंचिका

एतस्येति। वैशब्दोऽवधारणे। प्रशासनं आज्ञां चत्ते सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ विशेषेण धृतौ तिष्ठतः। प्रकृष्टं शाशनं कचिदप्यप्रतिहतत्वमेव शासनस्ते प्रकर्षः ततश्च सर्वविषयकं शासनमितिफलति प्रशासितारं सर्वेषामिति प्रमाणानुसारात् ततश्चसर्वविषयकप्रशाशनाधीनद्यावापृथिव्यादिधारणत्वमर्थ इतिपर्यवस्यति। अत्र प्रधानस्य जगद्धारकत्वेऽपिप्रशाशनाधीनधारकत्वाभावाज्जीवस्य प्रशासनाधीनयत्किञ्चि-द्धारकत्वेऽपि प्रशासनशब्दितसर्वविषयकप्रशासनाधीनसर्वधारकत्वासम्भवाच्च नात्र-जीवो वा प्रधानं वा प्रतिपद्यते इदञ्च "सा च प्रशासनात् ब्र० सू० १।३।११।

इतिसूत्रे स्पष्टम्" इतिश्रुत्यर्थः। कारणाधिपाधिपइति। जगत्कारणस्य चतुर्मुखस्याधिप-महङ्कारादिकं तेषामधियो हेतुः पुरुषोत्तम इत्यर्थः। सर्वचेतनाचेतनवस्तुजातस्य भगवदायत्तत्वं स्वस्य च स्वतन्त्रत्वं सर्वधीप्रवर्त्तकत्वमाचार्य्यत्वञ्चाह। सर्व-स्यचेति सर्वस्य ब्रह्मादिप्राणिमात्रस्य हृदि सम्यगन्तर्यामिरूपेण निविष्टः। अतो मत्त एव हेतोः सर्वस्य पूर्वानुभूतार्थयिषयास्मृतिर्भवति ज्ञानं विषयेन्द्रियसंयोगजो यथावस्तु विषयानुभवः। अपोहनञ्चस्मृतिज्ञानयोः प्रमोषमत्त एव भवति वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। इन्द्राग्निसूर्यमित्रावरुणवाय्वादिप्रतिपादकैरपि वेदैरहमैव वेद्यः मम सर्वात्म-कत्वादित्यर्थः।

भाषानुवाद

आपकी आज्ञा को सब विश्व मानता है अतः सूर्य चन्द्रमा आपकी आज्ञा को पूर्ण रूप से धारण करते है। जिसके भय से सूर्य उदय होता है जिसके भय से अग्नि चन्द्रमा मृत्यु ये सब अपने अपने कार्य को करते हैं। इससे निश्चित् हुआ कि सब विश्व आपके परतन्त्र है भगवान् स्वतन्त्र सत्ताश्रय हैं। परमात्मा परमस्वतन्त्र है सब गुणों का आधार है सर्व विश्व के ईश्वर नियन्ता हैं सबों के स्वामी श्रीहरि है। सब जगत् के कारण इन्द्रियों के अधिष्ठाता जो देवता है उन्हीं का भी स्वामी भगवान् हैं श्रीहरि का उत्पादक और उसका अधिप कोई नहीं हैं। इत्यादि श्रुति उक्त अर्थमे प्रमाण हैं। प्राणिमात्र के हृदय में मैं विराजमान हूं मेरे से ही जीवों को अनुभूत अर्थ की स्मरण ज्ञान = वस्तु का यथार्थ अनुभव होता है। इन दोनों का नाश भी मेरे से होता है। सब विश्व का शासन कर्त्ता श्रीहरि हैं। उपदर्शित श्रुति स्मृतियों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका कि श्रीहरि के समान और अधिक कोई नहीं हैं। वही स्वतन्त्र सत्ता का आश्रय है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

परतन्त्रसत्वञ्च परायत्तस्थितिप्रवृत्तिकत्वम् तच्च चेतनाचेतनात्मक नियम्यवर्गवृत्ति। यदासीतदधीनमासीत् जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः यत्तः सर्वं प्रवर्तते सत्वं स्वतन्त्र्यमुद्दिष्टं तच्च कृष्णे नचापरे अस्वातन्त्र्यात्तदन्येषामस-त्वं विद्धि भारत इति श्रुतिस्मृतिभ्यः परतन्त्रसत्वं द्विविधं कूटस्थं विकारशील-ञ्चेति। तत्र कौटस्थ्यं नाम जन्मादिविकारशून्यत्वे सति नित्यत्वं तच्च जीवा-

त्मवर्गाश्रितम् तदाश्रयो जीवः प्रत्यगक्षरपुरुषक्षेत्रज्ञादिशब्दाभिधेयः । अजो ह्येकोजुषमाणोऽनुशेते ॥

कुञ्चिका

फलितार्थमाह । एवमिति परतन्त्रसत्त्वं निर्वक्ति । परतन्त्रसत्त्वञ्चेति । परसतेति परायत्ता भगवदायत्ता स्थितिप्रवृत्तिर्यस्य चेतनाचेतनवर्गस्य तस्य भावस्तत्त्वमित्यर्थः । तस्याश्रयमाह तच्चेति । परतन्त्रसत्त्वञ्चेत्यर्थः । चिदचितोः परतन्त्रसत्त्वे मानमाह यदासीदिति । परतन्त्रसत्त्वं विभजते परतन्त्रसत्त्वमिति । तत्र तयोः, कौटस्थ्यं निर्वक्ति । कौटस्थ्यंनामेति तच्चेति कौटस्थ्यञ्चेत्यर्थः । प्रत्यागात्मनां नित्यत्वं श्रुतिस्मृतिप्रमाणेन साधयति अजोह्येक इति न जायत इत्यजउत्पत्तिरहित । अजो जीवस्तत्राहमत्या सेवमानस्तामनुसृत्य शेते वर्तते अन्योऽजः भुक्तः भुक्तो भोगो यस्यास्तां मायां जहातीत्यर्थः ।

भाषानुवाद

अब परतन्त्र सत्ता का लक्षण कहते हैं । परेति । जिसकी स्थिति प्रवृत्ति पर के आधीन हो वह परतंत्र सत्ता का आश्रय है वह जीव और प्रकृति में रहती है । उक्त अर्थ को श्रुति के द्वारा प्रामाणित करते हैं, जीव इति । जीव की शक्ति अल्प है वह स्वतन्त्र नहीं है जीव श्रीभगवान से निष्कृष्ट है । मेरे से ही सबों की प्रवृत्ति होती है । स्वतंत्र सत्ता श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् में ही रहती है अन्यत्र नहीं है अस्वतंत्र है अर्थात् सब विश्व परतंत्र सत्ता के आश्रय हैं । परतंत्र सत्ता दो विभागो में विभक्त है एक कूटस्थ दूसरी विकारशील हैं । जन्म वृद्धि क्षयादि विकारों से रहित नित्य हो उसे कूटस्थ सत्ता कहते हैं । वह सत्ता जीवात्मा में रहती है । जीव प्रत्यक् और अक्षर पुरुष क्षेत्रज्ञ यह सब पर्याय शब्द हैं । जीव वर्ग षड् विकारों से रहित और नित्य हैं इस अर्थ को श्रुति के द्वारा प्रामाणित करते हैं । अज इति ॥

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः न जायते न म्रियते वाविपश्चित् अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे, इत्यादिभ्यः । द्वितीयं विक्रियायुक्तत्वेसत्यनाद्यन्तत्वम्, तत्तु प्रकृतिवर्गाश्रितम्, तदाश्रयश्च कार्यकारणात्मकं प्रधानप्रकृत्यादिशब्दवाच्यम् । गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूत भाविनी । सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोरित्यादिश्रुतेः । त्रिगुणं जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम् । अचेतना परार्था च नित्या सतत विक्रिया

कुञ्चिका

प्रागभावाप्रतियोगित्वेसतिध्वंसाप्रतियोगित्वरूपं नित्यत्वं तद्बोधिकां श्रुति-मुदाहरति न जायत इति विपश्चित् विद्वान् न जायते नोत्पद्यते नचायं कदाचिन्म्रियते इत्यर्थः। अयन्तु प्रागपि सत्वान्नोत्पद्यते उत्तरकालेऽपि सत्वान्नम्रियते यतो न जायते-ऽतोऽजो न म्रियतेऽतोनित्यः। इतिद्वाभ्यां पदाभ्यां जन्ममरणलक्षणे विक्रये निरस्ते। अस्तित्वलक्षणविकारवारणायाह शाश्वत इति सनातनः। प्राकृतवत्सदसत्परिमाण शून्यः। वृद्धिलक्षणविक्रियावारणाय पुराण इति। पुरापि नव इत्यर्थः योऽहि सात्र-यवः सोऽवयवोपचयाद्वर्द्धते अयन्तु निरवयवो ज्ञानैकस्वरूपत्वान्नायंवर्द्धते परिशिष्टौ-परिणामापक्षयौ जन्ममरणास्तिवृद्ध्यभावाद्वेवनिरस्तौ। एवं षड्विकारशून्य आत्मा शरीरे हन्यमाने सति न हन्यते शरीरमेवहननक्रियाकर्मभूतमित्यर्थः। द्वितीयमिति। विकारशीलमित्यर्थ.।

उक्तार्थे शास्त्रं प्रमाणयति गौरनाद्यन्तवतीत्यादि। गौः प्रकृतिः आद्यन्तव-च्छिन्ना नित्येति यावत् "जनित्री" भूतभाविनीति समष्टिव्यष्टिसृष्टिरुच्यते सितासिता च रक्ता च गौण्या वृत्या सत्वरजस्तमोमयी रक्तं कुसम्भादिरञ्जयतीतिरक्तशब्देन रजउच्यते एवं प्रसन्नं सलिलं शुक्लं सत्त्वमपि प्रसन्नमितिप्रसन्नत्वसाधर्म्यात्सितशब्देन सत्यमुच्यते एव मावरकमन्धकारं नीलं तमोगुणश्चावरक इति आवारकत्वसाधर्म्यात् तमोऽपि नीलादिशब्देनोच्यत इति विवेकः यद्वा तेजोऽबन्नद्वारासितासितारक्ताः विभोः ईश्वरस्य, "सर्वकामदुघा" लीलारसदोग्ध्रीम्। इतिश्रुत्यर्थः। त्रिगुणमिति गुणत्रयात्मकमित्यर्थः। अनादिप्रभावाप्ययम् आदिः कारणं प्रभवोजन्माप्ययो लय. तैर्विहीनम् ॥

भाषानुवाद

अज = उत्पत्ति विनाश रहित जीव अहं बुद्धि से सेवन करता हुआ इस माया में वर्तमान है। पुरुष माया के भोगों को भोग रहा है दूसरा मुक्तपुरुष माया का परित्याग करता है। जीव को नित्य त्व प्रति पादक श्रुति दिखलाते हैं। न जायत इति। जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि जीवन पहिले भी विद्यामान हैं। उत्तर काल में ही जीव विद्यमान है अतः जीवात्मा नष्ट भी नहीं होता है। जीव नित्य है। पुराण= पहिले भी नवीन है शरीर के नाश होने पर जीवात्मा का नाश नहीं होता है। इन श्रुतियों के द्वारा उक्तार्थ सिद्ध होता है। अब विकार शील सत्ता का लक्षण कहते हैं। द्वितीयमिति। विकारशील होकर भी आद्यन्त शन्य सत्ता को विकारी सत्ता कहते हैं।

इस सत्ता का आधार प्रकृति है। प्रकृति का नाम प्रधान माया भी है। उक्त सत्ता के लक्षण को श्रुति के द्वारा प्रामाणित करते हैं। गौर नाद्यन्तेति। गो नाम माया आदि अन्त से रहित है अर्थात् नित्य है जनित्री=समष्टि व्यष्टि सृष्टि का कारण है अर्थात् विकारशील है सितेति। सत्त्वरजतम यह तीनों गुण माया के हैं। त्रिगुणमिति माया त्रिगुणात्मक है। जगत् का कारण माया है जन्म और नाश से रहित है माया अचेतन और पर के अर्थ सदाविकार शील हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम् आविर्भावतिरोभाव-जन्मनाशविकल्पवदित्यादिवैष्णववचनाच्च। तथाच स्वतन्त्रसत्त्वविषयिकाऽ-भेदवाक्यप्रवृत्तिः तस्यैक्यात् तथैव तेषां नैराकाङ्क्षयम् तथैव भेदनिषेधपराणां-चापि चेतनाचेतनवस्तुवृत्तिस्वतन्त्रसत्वनिषेधपरत्वेन तेषां स्वार्थे एव प्रामा-ण्यात् भेदवाक्यानान्तु स्वतन्त्रसत्त्वविषयकत्वेनैव स्वार्थविधायकत्वात्, सर्वं समञ्जसम् ॥

कुञ्चिका

उक्तजगद्रूपं निगमयति। तदेतदिति। अक्षयम्। अनन्तस्य न तस्यान्तः सङ्ख्या न चापि विद्यते। इतिजीवानामसङ्ख्येयत्वं वक्ष्यति। अतः प्रतिसर्गमन्यूनं नित्यं सत्कार्यत्वात "अविच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः" इतिवचनात् प्रवाहरूपेण च नित्यं आविर्भावतिरोभावौ सङ्कोचविकासौ तावेव जन्मनाशौ। इत्यर्थः। वेदान्त-शास्त्रे विविधानि वाक्यानि दृश्यन्ते भेदपराण्यभेदपराणि भेदनिषेधपराणि निषेध-सामान्यपराणि च तानि च सर्वाणि वाक्यानि प्रागुतयदाहृतानि न तेषामितरेतर-बाध्यबाधकभावो वक्तुं शक्यः तुल्यबलत्वात्। तथाच सर्वेषामपि स्वार्थे प्रामाण्य-मित्याशयेन तेषां सङ्गतिं प्रदर्शयति। तथाच स्वतन्त्रसत्त्वविषयिकेति। विश्वात्मा पुरुषोत्तमः स्वतन्त्रसताश्रयः स्वाधीनः स्वायत्तस्थितिप्रवृत्तिको भवति प्रागुदाहृताभिः श्रुतिभिस्तस्य सर्वनियन्तृत्वात नियन्तृत्वस्वतन्त्रसत्वयोः, सामानाधिकरण्यनियमात्। एददेव सर्वात्मत्वं स्वतन्त्रसत्वञ्च पुरस्कृत्याभेदवाक्यजातस्य प्रवृत्तिरित्यर्थः। तस्येति। स्वतन्त्रसत्ताश्रयस्य पुरुषोत्तमस्येत्यर्थः। तथैवेति। स्वतन्त्रसत्तयैवेत्यर्थः "तेषाम्" अभेदवाक्यानाम्। एवं तस्य विश्वात्मनः स्वतन्त्रस्येकस्य श्रीकृष्णस्य परब्रह्मणस्तदात्मीय-नियम्यपरतन्त्रसत्वाश्रयं चिदचिद्रूपं विश्वमितिफलितमिति भावः नेहनानेत्यादिश्रुतीना

श्च कारणतस्वतन्त्रसत्वावच्छिन्नवस्तुमात्रनिषेधपरत्वेन चास्मत्पक्षे स्वार्थे एव प्रामाण्यम्। न तावत्कारणैकत्वावधारणं निषेधश्चेतरस्य वस्तुजातस्यानृतत्वे नियामकम्, अपितु स्वविषयसमसत्ताकत्वनिषेध मात्र एव। यथा चोलोराजा एकोऽद्वितीयो भूदिति वाक्यं न तद्राजान्तरस्य तत्सेनादीनां वा निषेधपरं किन्तु तत्तुल्यनृपान्तरस्य निषेधमात्रपरमेव। एवं प्रकृतेऽपि समञ्जसमित्याशयेनाह । तथैव भेदनिषेधाणामिति 'तेषाम्" भेदनिषेध-पराणां वाक्यानाम् । नेतिनेतीत्यादिसामान्यनिषेधवाक्यानां च ब्रह्मण: सर्ववैलक्षण्य-ज्ञापनेन प्रवृत्तिस्तथाच ब्रह्मणोयद्रूपं सपरिकरं प्रधानं एतावत्वमियत्तापरिच्छिन्नं-तत्प्रकृतैतावत्वं तदेव प्रतिषेधति नेतिनेतीतिश्रुति: । इतिशब्दस्य प्रधानत्वेन प्रकृत-परामर्शित्वात् ब्रह्म तु न प्रधानेन प्रकृतमतो न तन्निषेध: यस्मात्तत: प्रपञ्चनिषेधात्परं भूयो ब्रह्मास्तीति ब्रुवति तथाचाह सूत्रकारोभगवान् । प्रकृतैतावत्वं निषेधति । ततो विदधाति भूय इति। परतन्त्रसत्त्वमादायभेदशास्त्रस्य प्रवृत्तिस्तथैव तेषां नैराकाङ्क्ष्य-श्चेत्याह । भेदवाक्यानामिति । भेदवाक्यानामभेदबोधकानामुक्तरीत्या विरोध: परिहृत इत्याह । एवमिति । नचास्ति नेहनानेतिश्रुतिविरोध: तस्या उक्तलक्षणकारणानेक-निषेधपरत्वात्" इहशब्दस्यैवात्रनियामकत्वात् । इह ब्रह्मणि सर्वदोषास्पृष्टमहात्म्ये समस्तकल्याणगुणालये जगज्जन्माद्यभिन्ननिमित्तोपादानकारणे नानात्वं पश्यन्नित्य-संसारी भवतीति। नापि नान्योत: इतिश्रुतिविरोध: । तथाहि अत: उक्तलक्षणात्पर-मात्मन परब्रह्मण: श्रीपुरुषोत्तमादन्यो जीवक्षेत्रज्ञादिपदार्थ: स्वतन्त्रसत्वावच्छिन्नो द्रष्टा नास्ति सर्वस्य तत्प्रयोज्यत्वेन करणसादृश्यात्। नापि यदाह्येवैतिश्रुतिविरोध, । तस्या उदरोपाधिविशिष्टब्रह्मोपासननिषेधपरत्वात्। उदरं ब्रह्मेति शर्कराक्षा इतिश्रुतिप्राप्तोदरा-लम्बनप्रतीकरूपमन्तरं कुरुते य: तस्य भयं भवतीत्यर्थ: । शर्करोपिहितदृष्टित्वाद-परिच्छिन्नं न पश्यतीतिभाव: । "द्वितीयाद्वा" इत्यादिश्रुतिरपि स्वतन्त्रसत्ताकद्वितीय-पदार्थमात्रनिषेधपरत्वेन नैराकाङ्क्षा परतन्त्रसत्ताकवस्तुनो भयहेतुत्वाभावादिति भाव: ।

भाषानुवाद

श्रुति वचन तीन विभागों में विभक्त हैं। एक अभेद प्रतिपादक वचन है दूसरे भेद प्रतिपादक वचन हैं तीसरे वचन भेद के निषेधक है। इन तीनों वचनों की व्यवस्था इस प्रकार है कि अभेद प्रतिपादक श्रुति परब्रह्म की स्वतन्त्र सत्ता को बतलाती है। भेद प्रतिपादक वचन परतन्त्र सत्ता विषयक हैं और चेतन और अचेतन रूप विश्व की स्वतंत्र सत्ता नहीं हैं इस वार्त्ता को भेद विषेधक वाक्य कहते हैं। परब्रह्म चेतन

और जगत् से विलक्षण हैं यह विषय नेतिनेति श्रुति का है। इस प्रकार सब वचन स्वार्थ में प्रमाण हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

एवंतत्त्वमस्यादिवाक्यानां माहावाक्यत्वेनोभयप्रकारकवाक्यनिष्ठविरोधपरिहारत्वमनुसन्धेयम्। इतरथा वाक्यानां परस्परविरोधेनैकार्थत्वासम्भवात्। बहूनां वाक्यानामविरोधेनैकार्थविधानपरत्वमेव हि महावाक्यत्वम्। तथाच विश्वात्मा पुरुषोत्तमः स्वाश्रितात्मसत्तया विश्वस्मादभिन्नः तथैव ह्यात्मीयचेतनाचेतननियम्यवर्गवृत्ति परतन्त्रसत्वाभावरूपेण विश्वविलक्षणत्वापरपर्य्यायेण सार्वज्ञादिवद्भावरूपेणात्मासाधारणेन धर्मेण स्थूलादिवाक्यप्रतिपाद्येन विश्वस्माद्भिन्न इतिविश्वभिन्नाभिन्नः श्रीपुरुषोत्तमपरब्रह्मभूतो भगवान् रमाकान्तः सर्ववेदान्तार्थ। इति सिद्धान्तः।

कुञ्चिका

विपक्षे बाधकतर्कमाह। इतरथेति। महावाक्यशब्दार्थं विवृणोति। बहूनामिति। ब्रह्मणश्चेतनाचेतनयोश्च स्वरूपेणभेदः। इतरेतरात्यन्तविलक्षणत्वात्। अस्थूलमनण्वित्यादिश्रुते। तत्र चेतनस्याणुत्वेन निर्देशार्हत्वम् अचेतनस्य स्थूलत्वेन ब्रह्मणस्तयोर्वैलक्षण्येनेति विवेकः एवमेव तस्य तयोश्च सर्वात्मत्वसर्वनियन्तृत्वसर्वव्यापकत्वस्वतन्त्रसत्वतद्व्याप्यत्वतत्तन्त्रसत्वपराधेयत्वादियोगेन चाभेद इति स्वसिद्धान्तमाह। तथाचेत्यादिना। स्वाश्रितेति। स्वं ब्रह्म तदाश्रिता या आत्मनः सत्ता तयेत्यर्थः।

भाषानुवाद

"तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य हैं यह महावाक्य भेद प्रतिपादक वचन और अभेद प्रतिपादक वचनों का परस्पर विरोध का परिहार करता है। अन्यथा दोनों वाक्यों का परस्पर विरोध होने से एकार्थ सम्पन्न नहीं हो सकता है। सब वाक्यों का परस्पर विरोध न होकर एकार्थ विधान पर वाक्य को महा वाक्य कहते हैं। विश्वात्मा पुरुषोत्तम भगवान् चेतन और अचेतन रूप विश्व से अभिन्न हैं क्योंकि ब्रह्म सर्व का आत्मा हैं अतएव जगत् ब्रह्मात्मक हैं। ब्रह्म सब का आधार है और विश्व आधेय है जिन वस्तुओं का आधाराधेय भाव होता है उन्हीं को अभेद होता है जैसे आकाश से घट का अभेद है। ब्रह्म व्यापक हैं और जगत् उसका व्याप्य है। ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ता का आश्रय है और विश्व परमेश्वराधीनसत्ता का आश्रय है।

अतएव विश्व ब्रह्म से अभिन्न हैं। और ब्रह्म चेतन और अचेतन वस्तु से भिन्न भी हैं क्योंकि ये दोनों परस्पर अत्यन्त विलक्षण हैं ब्रह्म स्थूल और अणु नहीं है। अचेतन वस्तु स्थूल हैं, चेतन वस्तु अणु है, सर्वेश्वर उभय से विलक्षण हैं। ब्रह्म त्रिविध परिच्छेद से शून्य हैं। चेतन और अचेतन यह दोंनों देश और काल वस्तु से परिच्छिन्न हैं। चेतन और अचेतन नियम्य है इन्हीं की परतन्त्र सत्ता है परब्रह्म में वृत्तिस्वतन्त्र सत्ता हैं और ब्रह्म में सर्वज्ञता धर्म हैं जीव में अल्पज्ञता है अतएव उपदर्शित धर्मों से परब्रह्म चेतन और अचेतन रूप विश्व से भिन्न भी हैं। इससे साबित हो चुका कि विश्व से भिन्नाभिन्न पुरुषोत्तम भगवान् सर्व वेदान्त का अर्थ है यह सिद्धान्त पूर्व आचार्यों का है।

वेदान्तरत्न-मञ्जूषा

एवं स्वतन्त्रसत्त्वं परतन्त्रसत्त्वाभावश्चाश्रित्य तत्त्वमस्यादिवाक्यानि भेदाभेदवाक्यानां परस्परविरुद्धानामविरुद्धमन्वेतुकामानि भिन्नाभिन्नब्रह्म प्रदिपादयन्ति तथाहि। तत्त्वमसीत्यत्र तच्छब्दः सर्वज्ञसर्वशक्तिविश्वात्मपर-ब्रह्मभूतस्वतन्त्रसत्ताश्रयप्रतिपादनपरः। त्वंपदश्च तदात्मीयतदात्मकपरतन्त्र-सत्ताश्रयजीवात्मवाचकः। असिशब्दश्चोभयपदार्थसम्बन्धाभिधानपरः। स च सम्बन्धस्तदात्मकस्य त्वम्पदवाच्यस्य तत्पदार्थेन सह स्वातन्त्र्यसत्त्वाभेद-सहिष्णुपरतन्त्रसत्त्वभेदरूपः।

कुंचिका

उभयविधवाक्यानां यथा विरोधः परिह्रियते तं प्रकारं दर्शयितुमाह। एवमिति 'तत्त्वमसी'त्यस्य वाक्यार्थं बोधयितुकामः पदार्थोक्तिं विवृणोति। तथाहीत्यादिना विश्वात्मा परब्रह्म सार्वज्ञ्यादिधर्मनिलयः सर्वशक्तिः स्वतन्त्रसत्ताश्रयस्तत्पदार्थः। उक्तलक्षणतत्पदार्थाभिन्नतदात्मकत्वंपदार्थावच्छिन्नसर्वान्तरात्मावासुदेवस्सत्त्वं पदार्थोऽसीतितादात्म्योपदेशार्थः। स च शक्यत्वान्मुख्य एव ब्रह्मणः सर्वात्मत्व-स्वतन्त्रसत्ताश्रयत्वाभ्यां सर्वशब्दवाच्यत्वादित्यर्थः।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तत्पदार्थवृत्तिस्वतन्त्रसत्ताश्रयाभिन्नब्रह्मात्मकपरतन्त्रसताश्रयाभिन्नस्त्वं-पदार्थ इतिवाक्यार्थः। तत्पदार्थो विश्वात्मा त्वम्पदार्थः क्षेत्रज्ञान्तरात्मा तयोरभेदो घटो द्रव्यं पृथिवीद्रव्यमित्यादिवन्मुख्यएवातो युक्तमुक्तसिद्धान्तस्य

साधीयस्त्वम् । ननु तत्पदार्थोविश्वात्मा पुरुषोत्तम इति निर्विवादत्वान्नात्रशङ्का-वकाशः । परन्तु त्वंपदार्थस्य क्षेत्रज्ञतया सुप्रसिद्धत्वात् कथमिव क्षेत्रज्ञान्तरात्मत्वं प्रतिपाद्यते, इतिचेदुच्यते समाहितमनस्त्वेन श्रूयताम् ।

कुञ्जिका

तत्वमसीतिश्रुतेर्वाक्यार्थवोधं दर्शयति । तत्पदार्थवृत्तिरिति । यथा घटो द्रव्यं पृथिवीद्रव्यमित्यत्र द्रव्यत्वावच्छिन्नस्य घटत्वावच्छिन्नपृथिवीत्वावच्छिन्नयोश्च सामानाधिकरण्यं मुख्यं विशेषस्य सामान्याभिन्नत्वनियमात् । तथैव सार्वज्ञाद्यनन्तगुणावच्छिन्नस्यापरिच्छिन्नशक्तिवैभवस्य ब्रह्मणः स्वात्मकचेतनाचेतनवस्त्ववच्छिन्न तदन्तरात्माभिन्नत्वमपि सुव्यक्तमित्याह । तत्पदार्थइति । ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य सर्वात्मनस्तत्पदार्थत्वे न विवादावसरः श्रौतत्वात । जीवान्तरात्मनस्त्वंपदार्थवाच्यत्वं कथं तस्य जीववाचकत्वेन प्रसिद्धत्वादित्याशङ्कते नन्विति ।

भाषानुवाद

अब तत्त्वमसि इस श्रुति का वाक्यार्थ इस प्रकार है स्वतन्त्र सत्ताश्रय सर्वज्ञ सर्वशक्ति विश्वात्मा परब्रह्म तत्पद का अर्थ है ब्रह्म का आत्मीय तदात्मक परतन्त्र सत्ता का आश्रय जीवात्मा का वाचक त्वं पद है । उभय पदार्थों का सम्बन्ध विधायक असिपद है । तत्पद वाच्य परब्रह्म का त्वं पद वाच्य जीवात्मा के संग भेद सहन शील अभेद सम्बन्ध हैं । विश्वात्मा परब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति स्वतन्त्र सत्ताऽवच्छिन्नतत्पदार्थ से अभिन्न तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रयाभिन्नत्वंपदार्थ हैं । यह वाक्यार्थ निष्पन्न हुआ । तत्पदार्थ विश्वात्मा है त्वं पदार्थ क्षेत्रज्ञान्तरात्मा हैं जैसे घट द्रव्य का अभेद मुख्य हैं वैसे त्वं पदशक्य जीव का अन्तरात्मा है उसका परब्रह्म के साथ अभेद है । यहाँ पर यह शङ्का उपस्थित होती है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वात्मा तत्पद का अर्थ है यह सिद्धान्त सर्वावादि सम्मत है परन्तु जीव का अन्तर्यामी त्वं पद का अर्थ किस प्रकार से हो सकता है क्योंकि त्वं पद का अर्थ जीवात्मा प्रसिद्ध है । इस शंका का निवारण इस प्रकार है कि ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

यथाग्नेर्ढगित्यत्राग्निशब्दोऽकारगकाराद्यवच्छिन्नानुपूर्विकाग्निशब्दवाचकः । अग्नौ जुहोतीत्यत्र स एवाग्निशब्दो दहनप्रकाशनादिशक्त्यवच्छिन्न-

वस्तुविधायकः । उभयार्थविधायकत्वमग्निशब्दस्य शक्यत्वेन मुख्यमेवेति शाब्दिकानां मतं तथैव ह्यौपनिषदानां सिद्धान्ते सर्वेषामपि ब्रह्मरुद्रादिचेतनाचेतनवस्तुमात्राणां शब्दानां तत्तत्पदार्थवाचकत्वे तदात्मभूतब्रह्मपरत्वमविरुद्धं ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वात् । यथाचतुर्मुखादिपिण्डाश्चतुर्मुखादिशब्दानां शक्यास्तदवच्छिन्नास्तच्चेतयितारश्च उभयेऽपि ।

कुंचिका

यथाशाब्दिकानां नये यथाग्नेर्ढगित्यत्राग्निशब्दोऽग्निशब्दं दाहकत्वादिधर्मावच्छिन्नाग्निंच निर्वक्ति तथा प्रकृतेऽपि सर्वेषां चेतनाचेतनवस्तुमात्रवाचकानां शब्दानां तत्तत्पदार्थवाचकत्वेऽपि तत्तत्पदार्थान्तरात्मभूतब्रह्मवाचकत्वमविरुद्धं । ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वादित्याशयेनोक्तशङ्कां समादधाति । उच्यत इत्यादिना । उक्तार्थमेव दृष्टान्तमुखेन द्रढयति । यथाचेत्यादिना । यथाचतुर्मुखादिपदैश्चतुर्मुखशरीराणि चतुर्मुखशरीरावच्छिन्नाः प्रत्यगात्मानोऽभिधीयन्ते, इतिनिर्विवादः । एवमेव तेषां चतुर्मुखादिपिण्डतदवच्छिन्नक्षेत्रज्ञाभिधानपरत्वेऽपि तत्तत्पदार्थान्तरात्मत्वाद्ब्रह्माभिधानपरत्वमपि सुशक्यं वक्तुमित्यर्थः ।

भाषानुवाद

अग्नेर्ढक् यह पाणनीय सूत्र है इस सूत्र में अग्निपद अकारगकार रूप आनुपूर्वी का वाचक है । अग्नौजुहोति । इस वाक्य में अग्निपद हवनीय उष्ण प्रकाश धर्माश्रय अग्नि का वाचक हैं यह दोनों अर्थ अग्नि शब्द के मुख्य हैं जिससे अग्निपद की शक्ति उपदर्शित दोनों अर्थ में है । यह वैयाकरणो का सिद्धान्त है । चतुर्मुख प्रभृतिशब्दों के शक्य अर्थात अर्थ ब्रह्मा का शरीर और ब्रह्मा के शरीरावच्छिन्न आत्मा हैं । आत्मा का अन्तर्यामी परमात्मा हैं उसका भी वाचक चतुर्मुखादि शब्द हैं चतुर्मुखादिकों का अन्तरात्मा शक्यार्थ है लक्ष्यार्थ गौण नहीं है ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

चतुर्मुखादिशब्दैर्विधातुं सुशक्यास्तथा तेषां चतुर्मुखादिपिण्डतदवच्छिन्नक्षेत्रज्ञाभिधानपरत्वे तेषामन्तरात्मत्वाद्ब्रह्माभिधानपरत्वं वक्तुं सुशक्यमिति भावः । एतदभिप्रेत्य वस्तुजातस्य ब्रह्मत्वमुद्घोषयन्ति श्रुतयः । भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतदित्याद्याः । ननूदाहृतस्याग्न्यादिशब्दस्योभयार्थविधायकत्वे पाणिन्यादिस्मृतेः प्रामाण्यादुक्तार्थस्य-

प्रामाण्यं शक्यते वक्तुं नतथोक्तसिद्धान्ते किञ्चित्प्रमाणमुपलभामहे । श्रुति-मूलशून्यस्योपमानस्यात्यन्तदुर्बलत्वादिति चेन्न ।

कुंचिका

यदुक्तं ह्यग्निशब्दस्योभयपरत्वं तत्तुपाणिनिस्मृतिप्रमाणसिद्धत्वान्न विवादास्पदं प्रकृते तु प्रमाणाभावात् दृष्टान्तवैषम्यमिति शङ्कते नन्विति ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीत्यादिश्रुतीनामेवात्रमानत्वात् । किञ्च सर्वश्रुतिमूलगायत्र्याख्यमन्त्रोऽपि उभयप्रकारसत्ता प्रतिपादकत्वेनोक्तसिद्धान्ते प्रमाणम् । तथाहि देवशब्दाभिधेयस्य पुरुषोत्तमस्य सर्वनियन्तृत्वप्रतिपादनात् स्वतन्त्रसत्ताश्रयत्वम् अस्मच्छब्दाभिधेयानां चेतनानां धीशब्दोपलक्षिताचेतनवस्तुनश्च तन्नियम्यत्वाभिधानात् परतन्त्र-सत्ताश्रयत्वमिति । तत्सिद्धं विश्वभिन्नं ब्रह्मसर्ववेदान्तार्थः इति ।

कुञ्चिका

नामानि सर्वाणि यमाविशन्तीत्यादिवाक्यमाश्रित्य सर्वेषां जीवादिशब्दानां रुढ्यैव वृत्या भगवत्परत्वमित्याशयेनोक्ताशङ्कां परिहरति । नेति गायत्र्याख्यमन्त्रोऽपि स्वतन्त्रसत्वपरतन्त्रसत्वप्रतिपादनेनोक्तार्थे प्रमाणमित्याह । किञ्चेति । उभयेतिस्वतन्त्र-सत्वपरतन्त्रसत्वप्रतिपातकत्वेनेत्यर्थः । जगद्ब्रह्माभिन्नं भवितुमर्हति तदात्मकत्वात् योयदात्मकः सतदभिन्नोदृष्टः यथा मृदात्मको घटो मृदभिन्ननिर्देशार्हस्तद्वत् । तन्नि-यम्यत्वाद् । योयन्नियम्यः सतदभिन्ननिर्देशार्हः । यथाजीवनियम्यं शरीरं जीवाभिन्नं प्रतीयते तद्वत् । तद्व्याप्यत्वाद् । यो यद्व्याप्यः स तदभिन्ननिर्देशार्हः । यथा वह्नि व्याप्योधूमस्तद् भिन्नस्तद्वत । तदधीनत्वात् । यद्यदधीनं तत्तदभिन्ननिर्देशार्ह यथाप्राणायत्त-इन्द्रियगणस्तदभिन्ननिर्देशार्हस्तद्वत् । तदाधेयत्वात् । यो यदाधेयः सतदभिन्ननिर्देशार्हः यथा भौतिकं स्वकारणरूपाधिकरणमहाभूताभिन्ननिर्देशार्ह तद्वत् अत्राभिन्नत्वञ्च पृथक्स्थितिप्रवृत्ययोग्यत्वं विवक्षितम् । घटो द्रव्यमित्यत्र घटस्य द्रव्यतादात्म्यं शक्यत्वान्मुख्यमेव घटत्वावच्छिन्नस्य द्रव्यत्वावच्छिन्नं विना पृथक्स्थितिप्रवृत्यनर्हत्वाद् द्रव्यात्मकत्वात । एवं विश्वं ब्रह्मेत्यत्रापि चेतनाचेतनरूपविश्वस्य ब्रह्मतादात्म्योपदेशो मुख्य एव शक्यत्वसाम्यात् । ब्रह्मविरहेण विश्वस्य पृथगवस्थानप्रवर्तनार्हत्वायोगाद् ब्रह्मात्मकत्वात् । इतिसमुदितार्थः निगमयति । तत्सिद्धमिति ।

भाषानुवाद

अतएव वस्तु मात्र का ब्रह्म के सहित सामानाधिकरण्य प्रतिपादक श्रुति को दिखलाते हैं। भोक्तेति भोक्ता भोग्य नियन्ता इन तीनों को मान के ब्रह्म त्रिविध हैं ध्याता नारायण है ध्यान भी नारायण है। यहां पर यह शंका उपस्थित होती है कि अग्नि शब्द के दो अर्थ होने में पाणिनीय स्मृति प्रमाण हैं चतुर्मुखादि शब्द के दो अर्थ होते हैं इसमें क्या प्रमाण है इस शंका का निवारण यह है कि सब नामों का प्रवेश परमात्मा में होता है सब शब्दों का नित्य सम्बन्ध श्रीहरि में हैं यह दोनों श्रुति उक्त अर्थ में प्रमाण हैं अतएव शब्द के शक्य दो हैं एक शरीर दूसरा आत्मा है आत्मा का अन्तर्यामी भगवान है अतएव सर्व शब्द परमात्मा के वाचक हैं। गायत्री मन्त्र में भी दो सत्ता का पतिपादन किया है देव शब्द का अर्थ श्रीपुरुषोतम है वह सर्व का नियन्ता है अतएव स्वतन्त्र सत्ता का आश्रय है अस्मत् शब्द का अर्थ जीवात्मा है वह नियम्य होने से परतन्त्र सत्ता का आश्रय है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

ननु स्वतन्त्रसत्तानिरूप्यं परतन्त्रसत्वं तन्निरूप्यश्च स्वतन्त्रसत्वमित्यन्योन्याश्रयदोषापत्तिरिति चेन्न स्वतन्त्रसत्वे नियन्तृत्वव्यापकत्वसर्वात्मत्वसर्वज्ञत्वादीनां परतन्त्रसत्वे च नियम्यत्वव्याप्यत्वात्मीयत्वाल्पज्ञत्वादीनां स्वाभाविकानां प्रयोजकानां सत्वान्नोक्तदोषगन्धसम्बन्धः। नचोक्तसिद्धान्तेऽवच्छेदकाभावो भाव्यः भिन्नभिन्नत्वस्यैवाखण्डोपाधेरवच्छेदकत्वाभ्युपगमात्। एवं सर्वेषामपि वाक्यानां स्वार्थे शक्तिवृत्यैव प्रामाण्यान्नविरोधावकाशः। एतेनैव सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानितीत्यादिन्यपि वाक्यानि व्याख्यातानि भवन्ति तुल्ययोगक्षेमाच्चतेषाम्। अलं विस्तरेण ॥ ७ ॥

इतिश्रीवेदान्तरत्नमंजूषायां भगवत्पुरुषोत्तमाचार्य्यविरचितायां सिद्धान्तरत्न विवृतौ वाक्यार्थसंग्रहाधारोनाम द्वितीयकोष्ठिका समाप्ता ॥ २ ॥

कुञ्चिका

स्वतन्त्रसत्वस्य प्रतीतौ सत्यां परतन्त्रसत्वस्य प्रतिपत्तिः परतन्त्रसत्वनिबन्धना हि स्वतन्त्रसत्वप्रतीतिरितिदुर्वारमन्योन्याश्रयत्वमित्याशङ्कते। नन्विति। यतः परमात्मा पुरुषोत्तमः सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य विश्वस्य नियन्ता व्यापकः सर्वात्मा सर्वज्ञोऽतएव-

स्वतन्त्रसत्ताश्रयः । यतो चिदचिद्वर्गः परमात्मनियम्यस्तद्व्याप्यस्तदात्मीयश्चल्पज्ञश्चा-तएव परतन्त्रसत्ताश्रय इत्याशयेनोक्तशङ्कां परिहरति । नेति । यतः परमात्मा परब्रह्म भूतः । स्वतन्त्रसत्ताश्रय अतएव चिदचिद्वर्गः परतन्त्रसत्ताश्रय इतिप्रयोज्यप्रयोजकभावो यदिस्यात्तदान्योन्याश्रयदोषः प्रसज्येत न त्वेवमित्याह । स्वतन्त्रसत्त्व इति । ननु जाती-तरस्य भिन्नत्वाभावरूपस्याभिन्नत्वस्य स्वरूपतोभानासम्भवेन भिन्नत्वाभावरूपेणैव तस्य प्रकारता वाच्या तच्च भेदाभावरूपं तदपि पुनरुक्तरूपेण प्रकार इत्यङ्गीकरणीयं तथाच सर्वं जगज्जातं ब्रह्मभिन्नाभिन्नमितिप्रतीतौ विषयतानन्त्यम् । अवच्छेदकदौ-र्लभ्यञ्च भेदाभेदसिद्धान्त इत्याशङ्क्य परिहरति । नचेति । भिन्नाभिन्नत्वस्येति । अखण्डस्येति । वहुपदार्थघटिताधर्म. सखण्डोपाधिः तद्भिन्नत्वमखण्डोपाधित्वं स्वरूपतो-भासमानत्वं वा । तथाच भिन्नत्वाभिन्नत्वस्याखण्डोपाधितया स्वरूपतोभासमानत्वेन न विषयतानंत्यम् नवावच्छेदकस्यदौर्लभ्यम् । यथा तार्किकाणां नये ऽभावत्वमखण्डो-पाधिस्तद्वत्भिन्नत्वाभिन्नत्वमखण्डोपाधिः । जात्यखण्डोपाध्यरिक्तपदार्थभानस्य किञ्चि-द्धर्मप्रकारकत्वमितिनियमः । इत्याशयः ।

भाषानुवाद

प्रश्न चेतनाचेतन भिन्नाभिन्नं ब्रह्म इस ज्ञान का विषयतावच्छेदकाभिन्नत्व को कहोगे तो ।अभिन्नत्व का अर्थ भिन्नत्वाभाव होता है उसमें भिन्नत्व रूप प्रतियोगि का ज्ञान कारण हैं भिन्नत्व के ज्ञान के बिना अभिन्नत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है तादात्म्य सम्बन्धावछिन्न प्रतियोगिता का भाव का नाम भिन्नत्व है इसमें भी अभाव का प्रवेश है फिर जिज्ञासा होती हैं कि अभाव का क्या लक्षण है इससे एक अवच्छेदक नहीं हो सकता है प्रत्युत अनेक धर्म अवच्छेदक होते हैं । उत्तर । भिन्नाभिन्नत्व अखण्डोपाधि हैं जिसका स्वरूप से भान हों उसे अखण्डोपाधि कहते हैं यथा तार्किकोंने अभावत्व को अखण्डो-पाधि माना है तथा भिन्नाभिन्नत्व अखण्ड उपाधि है वह चेतनाचेतन भिन्नाभिन्न ब्रह्म इस ज्ञान का विषयतावच्छेदक हैं । जाति और अखण्डोपाधि से भिन्न पदार्थ का भान किञ्चित् धर्म प्रकारक है यहाँ पर भिन्नाभिन्नत्व अखण्डोपाधि है उसका स्वरूप तो भान होता है इस प्रकार से "सर्वं खल्विदं ब्रह्मतज्जलानीति । इन वाक्यों का भी अर्थ जान लेना उचित है

इति श्रीवेदान्तरत्नमञ्जूषामे वाक्यार्थसंग्रहरूप द्वितीयकोष्टिका
का भाषानुवाद समाप्त हुआ ॥

अथ वेदान्तरत्नमञ्जूषायां
तृतीयः कोष्ठः

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

एवं तावत् पूर्वस्मिन् ग्रन्थे प्रथमप्रकरणे तत्त्वमादिपदार्थाः संग्रहेण निरूपिताः द्वितीये च भेदपराणामभेदपराणां भेदनिषेधविषयकाणाम् । अस्थूलादीनां वाक्यानांचाविरोधविधिना समन्वयप्रक्रियापूर्वकं स्वार्थे प्रामाण्यं प्रतिपादितम । अथेदानीं साधनानि विधीयन्ते । तानि च कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिगुर्वाज्ञानुवृत्तियोगभेदात्पञ्चविधानि । तत्र कर्मयोगस्त्रिविधः । नित्यनैमित्तककाम्यभेदात् । तत्राहरहः सन्ध्यामुपासीत, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिना नित्यकर्त्तव्यतया विधीयमानानि सन्ध्योपासानजपस्नानतर्पणादीनि नित्यानि । एवं यज्ञदानाध्ययनानि द्विजात्र्यासाधारणानि । तेषां त्रयाणां तु ।

कुञ्चिका

पूर्वोत्तरग्रन्थयोरेकवाक्यताप्रतिपत्तये प्रथमकोष्ठद्वितीयकोष्ठयोरर्थं संक्षिप्यानूद्यते । एवं तावदित्यादिना । तृतीयकोष्ठार्थं कथयति अथेदानीमिति । तेषाम् = यज्ञदानाध्ययनानाम् । यज्ञदानाध्यायनाः फलकामनाविरहेणानुष्ठिताः सन्तः नित्यत्वेन व्यवह्रियन्ते । अन्यथा तु तेषांवृत्तित्वमित्याह । निष्कामतयेति ।

भाषानुवाद

पूर्व कोष्ठ में तत् और त्वं पदार्थ का प्रतिपादन किया द्वितीय कोष्ठ में भेद और अभेद भेद निषेधक वचनों का अविरोध पूर्वक अर्थ निरूपण बतलाया। अब तृतीय कोष्ठ में साधन वर्णन करते हैं कर्म और ज्ञान भक्ति प्रपत्ति श्रीगुरुदेव की आज्ञा का पालन यह साधन पाँच विभागों में विभक्त हैं इनमें कर्मयोग त्रिविध हैं। एक नित्य दूसरा नैमित्तिक तीसरा काम्य कर्म है। प्रतिदिन सन्ध्या वन्दन अग्निहोत्र ये नित्य कर्म हैं। सन्ध्योपासन और स्नान जप तर्पण और यज्ञ दान अध्ययन ये सब कर्म ब्राह्मण और क्षत्रिय वैश्यों के हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

निष्कामतयाऽनुष्ठाने नित्यत्वं सकामतयाऽनुष्ठाने च वृत्तित्वमिति-विभागः । तच्च याजनादिनापि यावद्देहयात्रामात्रमेवादानम् । अधिकन्तु प्रतिग्रहः । अन्यथाऽऽदानस्य तृतीयस्य वैयर्थ्यात् । अतएव षट्कर्मकत्रिकर्म-कद्विजातिविभागः । ब्राह्मणस्य षट्कर्मकत्वं क्षत्रियवैश्ययोस्त्रिकर्मकत्वंचेति । अथेन्द्रियनिग्रहतीर्थसेवनोपवासफलाहारदेहशोषणान्नदानादीनि सर्वसाधारणानि--कर्तृत्वाद्यभिमानशून्यैर्मुमुक्षुभिरनुष्ठितानां तेषां मनःशुद्धिपरम्परया ज्ञानभक्ति-जनकत्वेन मोक्षसाधकत्वम् । सकामत्वेनानुष्ठीयमाने च काम्यकर्मकोटावन्तर्भाव-इतिविवेकः । अथ केनचित् कालादिविशेषनिमित्तेन विधीयमानं श्राद्धादिकं कर्म नैमित्तिकम् । स्वर्गकामो यजेतेत्यादिना सकाममधिकृत्य विधीयमानानि काम्यानि ।

कुंचिका

तच्चेति । वृत्तित्वञ्चेत्यर्थः । विपक्षेबाधकतर्कमाह । अन्यथेति । शरीरनिर्वाह-मात्रादधिकस्यादानस्यादानपदवाच्यत्व इत्यर्थः । अतएव=आदानस्य वैयर्थ्याभावादेव, अन्यथा षट्कर्मकत्रिकर्मकद्विजातिविभागो व्याहन्येत इतिभावः । द्विजातीनां कर्माणि निरूच्य सम्प्रति सर्वसाधारणानि कर्माण्याह । अथेत्यादिना । नित्यकर्माणि निरूप्येदानीं-नैमित्तिकं दर्शयति । अथ केनचिदिति । काम्यस्य स्वरूपमाह । स्वर्गकाम इति ।

भाषानुवाद

यज्ञ दान और अध्ययन ये तीनों कामना का परित्याग करके अनुष्ठान करने से नित्य कर्म कहलाते हैं। कामना से यज्ञ आदि कर्म का अनुष्ठान करें तो यज्ञादि कर्म वृत्ति कहलाते हैं यह अवश्य जानना चाहिये । यज्ञादि कराकर इतना ही लेना चाहिये जिससे देह का पोषण हो जाय, अधिक ग्रहण करने से प्रतिग्रह हो जाता है । यदि देह निर्वाह से अधिक दान ग्रहण करोगे तो याजन कथन करने से आदान का ग्रहण हो जायेगा फिर तृतीय आदान कर्म को पृथक् कहना व्यर्थ हो जायेगा इससे सिद्ध हो चुका कि याजन के द्वारा उतना ही धन ग्रहण करना जिससे अपने देह का निर्वाह हो जावे । अतएव द्विजाति दो विभागों में विभक्त हैं एक छै कर्म करने वाले दूसरे तीन कर्म करने वाले हैं । ब्राह्मण षट् कर्म करने वाले हैं और

क्षत्रिय वैश्य तीन कर्म के कर्ता हैं। यहाँ पर्यन्त ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के कर्म दिखलाये अब आगे सब वर्णों के साधारण कर्म दिखलाते हैं। इन्द्रियों को विषयों से रोककर रखना इन्द्रिय निग्रह कहलाता है श्रीगंगा श्रीयमुनादि तीर्थों का सेवन करना एकादशी जन्माष्टमी आदिकों का उपवास करना फलों का आहार देह शोषण अन्नदान ये सब मनुष्य मात्र को करने चाहियें। यदि मुमुक्षु भी कामना का परित्याग कर उक्त कर्मों का अनुष्ठान करे तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर ज्ञानभक्ति के कारण होने से ये मोक्ष के उपयोगी हो जाते हैं। किसी काल विशेष के निमित्त से विहित कर्म को नैमित्तिक कहते हैं। जैसे श्राद्धादि, स्वर्ग आदि की कामाना से किये हुए कर्म को काम्य कहते हैं।

वेदान्तरत्न-मंजूषा

तत्र काम्यानां निषिद्धवत्संसारहेतुत्वाविशेषान्मुमुक्षुभिस्तानि हेयान्येव। नित्यनैमितिकानि च स्वस्ववर्णाश्रमाधिकारानुसारेण भगवदाज्ञापालनात्मकत्वभजनरूपत्वादावश्यकतयानुष्ठेयानि तत्र त्रैवर्णिकैर्वैदिकानि एकजातिना स्वानुरूपाणि पौराणिकतर्पणान्नदानादीनीतिविशेषः। तथाच गीयते श्रीमुखेन— ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः। स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभतेनरः।

कुञ्चिका

यथा मुमुक्षुणा निषिद्धानि सुरापेयादीनि त्याज्यानि तथा काम्यकर्माण्यपि हेयान्येवेत्याह। तत्र काम्यानामिति "तत्र" तेषु। तेन नित्यनैमित्तिकानिकर्माण्यवश्यं-कर्त्तव्यानित्याह। नित्येति। त्रैवर्णिकानां वैदिककर्मस्वधिकारः शूद्रस्य पौराणिकेष्वित्याह। तत्रेति। उक्तार्थं श्रीमुखवाक्येन प्रमाणयति। तथाचेति। हेपरन्तप! ब्राह्मणादीनां कर्माणि प्रकर्षेण विभक्तानि इतरेतराविभागेन स्थितानि। कैः स्वभावजैर्गुणैः। तथाहि ब्राह्मणस्य स्वभावप्रभवो रजस्तमोऽभिभवेनोद्रिक्तसत्त्वगुणः। क्षत्रियस्य स्वभावप्रभवस्तमः-सत्वाभिभवेनोद्रिक्तोरजोगुणः। वैश्यस्य स्वभावप्रभवस्तमउपसर्जनउद्रिक्तो रजोगुणः वैश्यस्य स्वभावप्रभवस्तुरजउपसर्जन उद्रिक्तस्तमोगुणः। एवमेतैः स्वभावप्रभवैर्गुणैश्चतुर्णां वर्णानां प्रविभक्तानि कर्माणि शास्त्रेषु प्रतिपादितानि मया वक्ष्यमाणानित्वमव—

भाषानुवाद

मुमुक्षु पुरुष को निषिद्ध कर्म के तुल्य काम्य कर्म भी त्याज्य हैं और मुमुक्षु पुरुष

को अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुसार नित्य नैमित्तिक कर्म भगवत् आज्ञापालनात्मक भजन रूप होने से मुमुक्षु को अवश्य करने चाहियें। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को वैदिक कर्म करने चाहियें एक जाति शूद्र को अपने अधिकार के अनुसार पुराणोक्त तर्पण अन्नदानादि कर्म कर्तव्य है। यह विशेष हैं। यह कर्म का विषय भगवान् ने श्रीमुख से स्वयं कहा है 'ब्राह्मणक्षत्रियेति' ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य शूद्रों के कर्म विभक्त करके शास्त्र में उन्हों के स्वभाव के अनुकूल सत्वादि गुणों के द्वारा कथन किये हैं। अपने अपने धर्म में रत होने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होते हैं वह प्रकार श्रवण कीजिये।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा गच्छति तच्छृणु। यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव इत्यादिना। किञ्च वर्णाश्रमत्यागस्याश्रौतत्वात्साम्प्रदायिकैर्मुमुक्षुभिराश्रमित्वेनैव भाव्यम्। तथाच स्मर्यते वैष्णवपुराणे।

कुञ्चिका

धारयेत्यर्थः। एवं नियतस्वस्यवर्णाश्रमादिकर्मणः पुरुषार्थोपायत्वमित्याह। स्वेस्व इति। यथोदितवर्णाश्रमोद्देश्येन विहिते कर्मणि अभिरतः सम्यगनुष्ठानपरः, नरो मनुष्यः संसिद्धिं सम्यग्ज्ञानयोग्यतां लभते। सर्वेपि स्वकर्मनिरताः प्रायो ज्ञानवन्तः कथं न भवन्तीत्यत आह। स्वकर्मणि नितरां रतः श्रद्धयानुष्ठानं कुर्वन् यथा येन प्रकारेण सिद्धिं ज्ञाननिष्ठां विन्दति लभते तत्तत्प्रकारं शृणु। तमेवाह। यत इति। यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः भगवतोहेतोर्भूतानां ब्रह्मादिकीटान्तानां प्राणिनां प्रवृत्तिरुत्पत्तिश्चेष्टा वा भवति येनैकेन सर्वमिदं जगत् ततं व्याप्तं स्वकर्मणा स्वाभाविकेन वैदिकेन लौकिकेनापि तमभ्यर्च्य फलकर्मत्वसमर्पणेन पूजयित्वा मानवः तत्प्रसादात सिद्धिं तत्वज्ञाननिष्ठालक्षणां विन्दति लभते। इतिश्लोकार्थः। उक्तार्थं पुराणवचसा द्रढयति तथाचेति।

भाषानुवाद

सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् ईश्वर से ही प्राणिमात्र की प्रवृत्ति उत्पत्ति होती हैं यह सकल जगत् जिस भगवान् से व्याप्त है उसका स्वानुष्ठित कर्म के द्वारा पूजनकर मनुष्य श्रीहरि के अनुग्रह से सिद्धि को प्राप्त होता है। वर्णाश्रम धर्म का त्याग श्रुति

को अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुसार नित्य नैमित्तिक कर्म भगवत् आज्ञापालनात्मक भजन रूप होने से मुमुक्षु को अवश्य करने चाहियें। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य को वैदिक कर्म करने चाहियें और एक जाति शूद्र को अपने अधिकार के अनुसार पुराणोक्त तर्पण अन्नदानादि कर्म कर्तव्य है। यह विशेष हैं। यह कर्म का विषय भगवान् ने श्रीमुख से स्वयं कहा है 'ब्राह्मणक्षत्रियेति' ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य शूद्रों के कर्म विभक्त करके शास्त्र में उन्हों के स्वभाव के अनुकूल सत्वादि गुणों के द्वारा कथन किये हैं। अपने अपने धर्म में रत होने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होते हैं वह प्रकार श्रवण कीजिये।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा गच्छति तच्छृणु । यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव इत्यादिना । किञ्च वर्णाश्रमत्यागस्याश्रौतत्वात्साम्प्रदायिकैर्मुमुक्षुभिराश्रमित्वेनैव भाव्यम्। तथाच स्मर्यते वैष्णवपुराणे ।

कुञ्चिका

धारयेत्यर्थः। एवं नियतस्वस्यवर्णाश्रमादिकर्मणः पुरुषार्थोपायत्वमित्याह। स्वेस्व इति। यथोदितवर्णाश्रमोद्देश्येन विहिते कर्मणि अभिरतः सम्यगनुष्ठानपरः, नरो मनुष्यः संसिद्धिं सम्यग्ज्ञानयोग्यतां लभते । सर्वेपि स्वकर्मनिरताः प्रायो ज्ञानवन्तः कथं न भवन्तीत्यत आह। स्वकर्मणि नितरां रतः श्रद्धयानुष्ठानं कुर्वन् यथा येन प्रकारेण सिद्धिं ज्ञाननिष्ठां विन्दति लभते तत्तत्प्रकारं शृणु । तमेवाह। यत इति। यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः भगवतोहेतोर्भूतानां ब्रह्मादिकीटान्तानां प्राणिनां प्रवृत्तिरुत्पत्तिश्चेष्टा वा भवति येनैकेन सर्वमिदं जगत् ततं व्याप्तं स्वकर्मणा स्वाभाविकेन वैदिकेन लौकिकेनापि तमभ्यर्च्य फलकर्मत्वसमर्पणेन पूजयित्वा मानवः तत्प्रसादात सिद्धिं तत्वज्ञाननिष्ठालक्षणां विन्दति लभते । इतिश्लोकार्थः । उक्तार्थं पुराणवचसा द्रढयति तथाचेति।

भाषानुवाद

सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् ईश्वर से ही प्राणिमात्र की प्रवृत्ति उत्पत्ति होती हैं यह सकल जगत् जिस भगवान् से व्याप्त है उसका स्वानुष्ठित कर्म के द्वारा पूजनकर मनुष्य श्रीहरि के अनुग्रह से सिद्धि को प्राप्त होता है। वर्णाश्रम धर्म का त्याग श्रुति

में नहीं कहा है अतएव उसका परित्याग मुमुक्षु जनों को नहीं करना चाहिए। उक्त अर्थ को विष्णु पुराण के वचन द्वारा प्रामाणित करते हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाश्रमी। परिव्राट् च चतुर्थोऽत्रपञ्चमो नोपविद्यते। वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् त्वत्तोषकारणमितिवैष्णवे और्वः नाचारहीनं प्रपुनन्ति वेदा इति सनत्सुजातवचनात्। किंच श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं वर्णाश्रमविभागजम्। उलङ्घ्य ये प्रवर्त्तन्ते स्वेच्छया कूटयुक्तिभिः। विकर्माभिरताः मूढा युक्तिप्रागल्भ्यदुर्मदाः। पाखण्डिनस्ते दुःशीला नरकार्हा नराधमा इति विष्णुधर्मे किंच वर्णाश्रमधर्मस्य वैष्णवलक्षणत्वविधानादप्यावश्यकत्वम् "तत्रैव यमगीतायाम्। वैष्णवलक्षणे। न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे। न हरति न च हन्ति किंचिदुच्चैः स्थिरमनसं तमवेहि विष्णुभक्तमिति। वर्णपदश्चात्राश्रमोपलक्षणार्थं तयोः साहित्यनियमात् विपक्षे वैष्णवत्वहानिप्रसङ्गः। स च स्मर्यते स्वयमेव" श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे—

कुंचिका

वर्णाश्रमेति। नान्यः विष्ण्वाराधनलक्षणश्रुतिस्मृतिविहितस्वधर्मत्यागेन केवलतद्व्रतधारणश्रवणकीर्तनादिः तत्तोषकारको न भवतीत्यर्थः। वि० पु० तृ० अंश। अ० ८॥ तस्मात्सदाचारवतापुरुषेण जनार्दनः। आराध्यस्तु स्ववर्णोक्तधर्मानुष्ठानकारिणा। इति तत्रैव।

भाषानुवाद

ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यासी ये चार आश्रम हैं पंचम कोई आश्रम नहीं है। वर्णाश्रमाचारवान् पुरुष ही भगवान् श्रीविष्णु का आराधन कर सकता है और दूसरा कोई मार्ग भगवान के संतोष का कारण नहीं है। आचार हीन पुरुष को वेद पवित्र नहीं कर सकता है यह सनत्सुजात का वचन है। श्रुति तथा स्मृतियों में उपदिष्ट वर्णाश्रम के धर्म को अपनी मिथ्या तर्कों से खण्डन कर अपनी इच्छा से प्रवृत्त होते हैं वे मूढ जन कुत्सित कर्म करने से नरक गामी होते हैं। यमगीता में कहा है कि वर्णाश्रम धर्म की वैष्णव लक्षण में गणना की है। जो कदापि अपने वर्ण धर्मसे चलायमान न हो, शत्रु मित्र में जिसकी समबुद्धि हो, पर के धन को मन के द्वारा हरण न करे और

प्राणिमात्र की हिंसा न करे जिस पुरुष का मन सदा हरि में लगा रहा उस पुरुष को विष्णु का भक्त जानना चाहिये। यहाँ पर वर्णपद आश्रम का भी बोधक है क्योंकि वर्ण आश्रम साहित्य हैं यदि ऐसा नहीं माना जाय तो वैष्णव लक्षण की हानी हो जावैगी श्रीभगवान् ने श्रीमुख से स्मृतियों में कहा है कि श्रुति तथा स्मृति मेरी आज्ञा हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

ममैवाज्ञे य उल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते। आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णव इति। तथाभूतत्यागस्य तामसत्वविधानात्। नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्यपरित्यागस्तामसः परिकीर्तितः। इतिदैत्य-भागत्वप्रतिपादनाच्च। तथा हरिवंशे श्रीवामनोक्तिर्बलिं प्रति वेदोक्तं ये परि-त्यज्य धर्ममन्यं प्रकुर्वते। तत्सर्वं तव दैत्येन्द्र मत्प्रसादाद् भविष्यतीति। आश्रमादिधर्मत्यागेन नग्नत्वप्रसङ्गः स्मर्यते वैष्णवे ऋग्यजुः सामसंज्ञेयं त्रयीवर्णावृती द्विज। एतामुज्झति यो मोहात् स नग्नः पातकी स्मृत इति कलिधर्मे व्यासोक्तेश्च नास्तिकपरमाश्चैव केचिद्धर्मविलोपकाः। भविष्यन्ति नरा मूढा मन्दाः पण्डितमानिन इति।

कुञ्चिका

न चलतीति उच्चैरतिशयेन। सितं स्वच्छं रागादिरहितं मनो यस्य तं विष्णुभक्तं विद्धि मनस्स्वच्छत्वविज्ञेयत्वात्तस्यज्ञापकचिन्हान्याह। न चलतीति। विष्णोरियमाज्ञेत्येवं हि क्रियमाणस्स्वधर्मो विष्णुं प्रीणयंस्तत्त्वशुद्धिद्वारात तद्भक्तिहेतुः। अतःस्वधर्मनिष्ठास्तद्भक्तिचिन्हं शुद्धसत्वस्य च रागाद्यभावाद्आत्मनः सुहृत्पक्षे विपक्षपक्षे-ऽपि सममतित्वं परस्वहरणादिनिवृत्तिश्च तस्य चिन्हम्। इत्यर्थः॥

भाषानुवाद

जो पुरुष श्रुति और स्मृति नहीं मानता है वह पुरुष मेरी आज्ञा का उच्छेदन करने वाला है वह मेरा द्वेषी है। वह पुरुष मेरा भक्त भी क्यों न हो वह वैष्णव नहीं है। अतएव नित्य कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये जो पुरुष मोहवश से नित्य कर्म का त्याग करता है वह त्याग तामस कहा जाता है। वेदोक्त निज धर्म त्याग को राक्षस भाग प्रतिपादन किया है। श्रीहरिवंश में श्रीवामान भगवान् ने श्रीबलिराजा के प्रति कहा है कि जो पुरुष वेदोक्त धर्म को त्यागकर स्वेच्छाचारी है उसका धर्माचरण

तुम्हारे विभाग में विभक्त हैं और वर्णाश्रम धर्म त्यागी को विष्णु पुराण में नग्नकोटि में कहा कि हे मैत्रेय ऋक्वेद यजुर्वेद और सामवेद यह तीनों वेदत्रयी कहलाती हैं वह वर्णाश्रम का आवरण हैं जो वर्णाश्रम को मोह के वश से त्याग करता है वह नग्नपात की कहलाता है और कोई नास्तिक धर्म परायण वैदिक धर्म के लोप कर्ता मूढ और मन्दमति पंडितमानी कलियुग में होंगे यह कलिधर्म में श्रीव्यासाचार्य ने कहा है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

ननु सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यादिना सर्वकर्मत्यागविधानस्यापि साक्षाद्गानात् कथमिव नित्यनैमित्तिकानामवश्यकर्त्तव्यतेति सत्यम् । त्यागशब्दस्य फलकर्तृत्वादित्यागपरत्वात् । स्वस्य कर्तृत्वाभावदार्ढ्यभावनया त्यागस्य मुख्यत्वमेव सिद्धेः। तथाच तत्रैव त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते । इत्यादि तत्रैव कर्मकर्त्तव्यत्वहेयत्वयोर्निर्णयः स्वयमेवोक्तः श्रीमुखेन । एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वाफलानि च ।

कुञ्चिका

चरमश्लोके सर्वधर्मत्यागस्य विहितत्वात् कथं नित्यनैमितिकानुष्ठानस्यावश्यकत्वमित्याशङ्कते । नन्विति । उक्तार्थं श्रीमुखवचनेन द्रढयति । तथाचेति । एतेन निष्कामस्य ज्ञानिनः पूर्वकर्मविनाश उक्तः । इदानीं क्रियमाणकर्मणामश्लेषमाह । त्यक्त्वेति । कर्मणि तत्फले चासङ्गं फलकर्तृत्वाभिमानं त्यक्त्वा नित्येन स्वरूपानन्देन तृप्तः निराश्रय देहाद्यर्थमाश्रयणीयरहितो यः स शास्त्री ये लौकिके वा कर्मणि आभिमुख्येन प्रवृत्तोऽपि किञ्चित्कर्म न करोति न तेन श्लिष्यत इत्यर्थः। मुमुक्षुणा सर्वकर्मत्याज्यमित्याशङ्क्याह। नहि देहभृता शक्यं त्युक्तं कर्माण्यशेषतः । इतिपूर्वार्द्धम । देहभृता उत्पन्नज्ञानेननानुत्पन्नज्ञानेन वा कर्मण्यशेषतस्त्यक्तुं नैव शक्यानि देहनिर्वाहहेतूनां भोजनाच्छादनाद्यर्थकर्मणामवर्जनीयत्वात् तस्माद्यस्तु कर्मफलत्यागी कर्मफलानपेक्षी स त्यागीत्यभिधीयते निरूप्यते । इत्यर्थः।

भाषानुवाद

यहाँ पर यह शंका होती है कि सर्व धर्मान् परित्यज्य इस श्लोक में सर्व धर्मों का परित्याग कर मेरी शरण में आना चाहिये यहाँ जब सामान्यत कर्ममात्र का

त्याग कथन किया है तब आप कैसे कहते हो नित्य नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान मुमुक्षु जन को करना चाहिये इस शंका का निवारण इस प्रकार है कि—

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तममिति । ननु प्रायश्चित्तरूपस्यापि कर्मणो विलक्षणत्वेन स्मरणात् कथमिव कर्मणां त्रैविध्यमिति चेन्न नैमित्तकेष्वन्तर्भावात् । पापनिवृत्यात्मक निमित्तेन विधीयमानत्वात् । नचैवं नित्यानामपि प्रत्यवायनिवृत्तिलक्षणनिमित्तेन विधेयत्वं कल्पयित्वा तेषामपितत्रैवान्तर्भावेन द्वैविध्यमेव किन्नस्यादिति वाच्यम् । तेषां प्रायश्चित्तत्वसाम्येऽपि नित्यपापानां प्रायश्चित्तत्वात् नित्यत्ववैशेष्यमितिभावः ॥१॥ अथज्ञानयोगः । पूर्वोक्तकर्मानुष्ठाननिर्मलमनस्कैर्जातशास्त्राधिकारकैर्मुमुक्षुभिरभ्यस्यमानच्छ्रवणादेर्जायमानः परब्रह्माख्यश्रीपुरुषोत्तमस्वरूपगुणशक्तिवैभवादिविषयकानुभवविशेषस्तत्प्रसादहेतुकसाक्षात्कारद्वारेण मोक्षहेतुः ॥२॥

कुञ्चिका

ननु मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैरितिकर्मणां बन्धनत्वाभिधानात् कथं तेषां पावनत्वमित्यत आह । एतानीति । यानियज्ञादीनि । कर्माणि पावनान्युक्तानि एतान्यपि सङ्गमहमेवं करिष्यामीत्यभिनिवेशं त्यक्त्वा फलानि चममैतत्फलसाधनानीतिफलोद्देशं विहाय केवलमीश्वराज्ञापालनात्मकतया कर्त्तव्य नि । हेपार्थेति । मे मम निश्चितमुत्तमं श्रेष्ठं मतम् । इत्यर्थः । प्रायश्चित्तात्मककर्मणो विद्यमानत्वात् कथं त्रिविधत्वोक्तिरितिशङ्कते नन्विति । निमित्तेन सम्पन्नं नैमित्तिकमितिव्युत्पत्याप्रायश्चितकर्मणोनैमित्तकेषु कर्मस्वन्तर्भावयन् परिहरति । नेति । प्रत्यवायनिवृत्तिरूपनिमित्तेन विधेयानां नित्यानां कर्मणामपि नैमित्तिकेष्वन्तर्भावत्वं भवत्वित्य शङ्कय परिहरति । नचेति । कर्मयोगं निरूप्य ज्ञानयोगं निरूपयति । अथेति ।

भाषानुवाद

प्रायश्चित्त रूप कर्म का नैमित्तिक कर्मों में अन्तर्भाव है क्योंकि पाप निवृत्ति रूप निमत्त से प्रायश्चित का विधान किया है । यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि नित्यकर्म भी प्रत्यवाय की निवृत्ति के लिये विहित है नित्य कर्मों का भी नैमित्तिक कर्म में अन्तर्भाव हो जायेगा कर्म योग दो प्रकार का कहना चाहिये एक नैमत्तिक दूसरा काम्य कर्म । इस प्रश्न का समाधान यह है कि नित्य कर्मों का प्रायश्चित्त रूप से

तुल्यता होने पर भी नित्य पापों का प्रायश्चित होना है अतएव नित्य कर्म नैमित्तिक कर्म से भिन्न है

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

अथभक्तियोगो नाम वार्षिकगङ्गाप्रवाहवदनवच्छिन्नाप्राणधारणादहरहः प्रवर्द्धमानो भगवत्स्मरणसन्ततिरूपानुभूतिविशेषः ॥ ३ ॥ प्रपत्तियोगोनाम शास्त्रोक्तज्ञानादिसर्वसाधनेषु स्वस्यासामर्थ्यमाकलय्य सदाचारोपदिष्टमार्गेण करुणावरुणालये रमाकान्ते भगवति श्रीवासुदेवे आत्मभारनिक्षेपणरूपः ॥४॥ गुर्वाज्ञानुवृत्तियोगो नाम प्रपत्तेरङ्गानामपि कालादिप्रतिबन्धकबाहुल्येनानुष्ठानाद्यशक्तेरसम्भवम् आत्मनि विचार्य्य श्रीगुरुमेव मोक्षाद्युपायं फलञ्च मत्वा तच्चरणारविन्दयोः सर्वात्मभावेनात्मभारं समर्प्याज्ञबालवत् तदुक्तमात्राचरणम् । ५॥ तत्र कर्मयोगः श्रीभगवच्चरणैराचार्य्यैः सदाचारप्रकाशे निर्णीतः । ज्ञानयोगश्चात्रैवग्रन्थे सङ्गृहीतः भक्तियागोऽपि निरन्तरश्लोके वक्ष्यते । प्रपत्तिगुर्वाज्ञानुवृत्तियोगौ चास्मिन् श्लोके प्रतिपाद्येते ।

कुंचिका

अष्टमश्लोकप्रतिपाद्यार्थं संक्षिप्य दर्शयति । प्रपत्तिगुर्वाज्ञानुवृतियोगाविति ।

वेदान्दरत्नमञ्जूषा

नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात् ।
भक्तच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥८॥

नान्यागतिरिति । तत्र, यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये । यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वा विद्यास्तस्मै गोपायतिस्म कृष्णः, तं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेत् । सर्वस्य शरणं सुहृत् । तावदार्तिस्तथा वांछा तावन्मोहस्तथाऽसुखम् । यावन्न याति शरणं त्वामशेषाधनाशनम् ।

कुंचिका

शरणागतिबोधकवाक्यान्युदाहरति । योब्रह्माणमिति सर्वस्येति शरणम् । रक्षकम् । "सुहृत" हितशंशी । तावदार्त्तिरिति प्र० अं० अ० ७ । आर्त्तिः शत्रुपीडा असुखं दुःखम् ।

भाषानुवाद

श्रीकृष्ण के चरणारविन्द के बिना जीवों की गति श्रुति स्मृति में नहीं देखी जाती हैं आपके चरणारविन्द को श्रीचतुर्मुख श्रीमहादेवजी प्रभृते सभी वन्दन करते हैं। भक्ती की इच्छा से प्रगट किया है सुचिन्त्य विग्रह जिन्होंने अर्जुन की इच्छा से विश्वरूप का प्राकट्य हुआ अचिन्त्य=तर्कना के अगोचर है तात्पर्य जिसका आपके तात्पर्य को ब्रह्मादिक देवता भी नहीं जानते हैं यह श्लोक का अर्थ है। जिसने सृष्टि के पहिले ब्रह्मा को उत्पन्न किया, उसके हृदय में वेदों का प्रकाश किया जो देव आत्मा बुद्धि का प्रकाशक उस भगवान् के शरण में मुमुक्षु प्राप्त होता हूँ। जिसने ब्रह्मा को आविर्भाव किया उसकी विद्या की रक्षा की उस परमात्मा की शरण में होता हूँ। यह दो मन्त्र शरणागति में प्रमाण हैं। श्रीहरि सब प्राणीमात्र के शरण=रक्षक है सर्व जन के सुहृत मित्र हैं। जीवों को पीड़ा वांछा मोह और दुःख जब तक होता है जब तक यह जीव सकल पाप के नाशक श्रीहरि की शरणा गत नहीं होता है।

वेदान्तरत्नमंजूषा

वृथैव भवतो जाता भूयसी जन्मसंततिः तस्यामन्यतरं जन्म सं चिन्त्य शरणं व्रज । अथ पातकभीतस्त्वं सर्वभावेन भारत विमुक्तान्यसमारम्भान्नारायणपरो भव। शरणं त्वां प्रपन्ना ये ध्यानयोगविवर्जिताः तेऽपि मृत्युमतिक्रम्य यान्ति विष्णोः परं पदम्। तमेव शरणं गच्छ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ।

कुञ्चिका

तमेवेति। सर्वभूतानां भ्रामको मायया अपि नियन्ता वात्सल्यकारुण्यसौहार्दादिगुणपारवश्येन त्वत्सारथ्यमङ्गीकृत्य त्वद्धितं चिकीर्षुस्त्वत्प्रशासिता तमेव सर्वभावेन सर्वात्मना शरणं गच्छ, तदुक्तं सर्वं निर्मायिकत्वेन कुरुष्व। हेभारतेति। सम्बोधनेन भरतवंश्येन त्वया सर्वशत्रुनिग्रहेण स्वकीर्तिख्यापनमुचितमिति सूचितम्। तस्मान्मदुक्तप्रकारेण युद्धाख्यं धर्मं कुर्वन् तत्प्रसादात्तस्य ममानुग्रहात् परां शान्तिं निःशेषाऽविद्यानिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दरूपां भगवद्भावापत्तिं शाश्वतं प्रकृतिकालकर्मसम्बन्धशून्यं नित्यैकरसं स्थानं परमपदविष्णुपदादिशब्दाभिधेयं धाम प्राप्स्यसि। इत्यर्थः। स्वशरणागतस्य सर्वपापक्षयकर्तृत्वेन स्वप्रपत्त्या द्रढयति। सर्वधर्मानिति। सर्वान्

धर्मान् यज्ञदानतपोऽग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादीन्नित्यनैमित्तिकान्साधनाङ्गफलसहितान्परित्यज्य एतैरेव मे।

भाषानुवाद

तुम्हारे बहुत जन्मों के समूह वृथा ही गये अब तू कोई जन्म की चिन्ता मत कर श्रीहरि की शरण हो। जो तू अतिपातकों से भीत है तो सर्व भाव से नारायण परायण हो। ध्यान यज्ञादि साधन से रहित होकर जो जीव आपकी शरण में आये वे जन भी मृत्यु को अति क्रमण कर श्रीहरि के धाम को प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन तू सर्व भाव से मेरी शरण हो मेरे अनुग्रह से नित्यपद को तू प्राप्त होगा। सब धर्म यज्ञ दान तपादि नित्य नैमित्तिक को त्याग कर मेरी शरण को प्राप्त हो मैं तुझको सर्व पापों से निर्मुक्त कर दूंगा तू शोक को मत कर इन वचनों से सिद्ध हो चुका कि जीवों को श्रीहरि की शरण होना आवश्यक हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम। ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः।

कुञ्चिका

श्रेयो भविष्यतीति तेष्वादरं विहाय तदनुष्ठानं कुर्वन्नकुर्वन्वा तत्करणाकरणयोर्गुणदोषबुद्धिमकृत्वा 'मामेकं शरणं व्रज" मां निखिलहेयगन्धशून्यं भगवन्तं ज्ञानशक्तिबलैश्वर्य्यतेजोवीर्य्यवात्सल्यकारुण्यदयाक्षमाद्यनन्तकल्याणगुणार्णवं सर्वनियन्तारं सर्वफलप्रदातारं सच्चिदानन्दमूर्तिमेकमतिशयसाम्यशून्यं ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिवन्द्यं सर्वमुमुक्षुभिरुपास्यं शरणं शरण्यं प्राप्यं रक्षकञ्च विज्ञायमदानुकुल्याद्याचरणाध्यवसायेन कर्मदेवादिनिरपेक्षाद्भगवदनुग्रहादेवाहं कृतार्थो भविष्यामीति विश्वासपूर्वकं स्वस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वाभिमानं विहाय स्वहिताहितं सर्वं मदधीनं निश्चित्य प्रेमप्रकर्षेण गङ्गाप्रवाहवदनवच्छिन्नचिन्तनेन प्रपद्यस्वेत्यर्थः। न चैवं सर्वधर्मानादरेण मम पापसम्बन्धः स्यादिति शङ्कनीयमित्याह। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामीति। अहं स्वतन्त्रः सर्वेश्वरः। स्वभक्तिमार्गसंरक्षणाय स्वीयाराधनधर्मप्रवर्त्तनाय स्वेच्छयैव भक्तानुग्रहाय यदुकुलेऽवतीर्णः मयि भक्त्यतिशयान्नित्यनैमित्तिककर्मानादरकारिणं मदेकशरणं त्वां सर्वपापेभ्योऽनेकजन्मस्व-

कृत्यकरणकृत्याकरणजनितानि वहुपापानि इह च प्रायश्चित्ताद्यकरणात्स्ववर्णाश्रमोचित-धर्मानादरणाच्च वन्धुवधादिनिमित्ताच्च जायमानानि प्राक्तनभविष्यद्वर्तमानानि पापानि तेभ्यः सर्वेभ्यो मोक्षयिष्यामि स्वसामर्थ्यादेव, अतो मा शुचः। प्रायश्चित्ताकरणात्स्व—

भाषानुवाद

जो जन मेरी शरण में आते हैं वे ही जन मेरी माया से उत्तीर्ण होते हैं। जो जन आपकी शरणागत होके हे प्रभो मैं तेरा हूँ एकवार भी याचना करता है। उस जन को मैं सब भूतों से अभय कर देता हूँ यह मेरा व्रत है। जो जीव श्रीहरि के शरण होते हैं उनको कदापि मोह नहीं होता है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

कर्तारमकृतंदेवं भूतानां प्रभवाप्ययम् य एवं संश्रयन्तीह भक्त्या नारायणं हरिम्। ते तरन्तीह दुर्गाणि नात्र कार्या विचारणेति। श्रुतिस्मृती-तीहासादिवाक्यानां निर्णीतोर्थः प्रतिपाद्यते प्रथमपादेन। नान्यागतिः कृष्ण-पदारविन्दादिति। श्रीकृष्णपदारविन्दाख्यागतिः क्षेत्रज्ञानां न संदृश्यते श्रुतिस्मृतिष्वित्यन्वयः। पुरुषान्नपरं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिरिति श्रुतेः।

कुंचिका

धर्मानादराद्बन्धुवधाच्च यानि मे पापानि तानि कथं तरिष्यामिति शोकं मा-कृथाः॥ इति चरमश्लोकार्थः। इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः, इत्यनेन वशीकार्यत्वाय रथादि-रूपितेषु शरीरादिषु। यानि येभ्यो वशीकार्यतायां प्रधानान्मुख्या अन्ते पुरुषपर, पुरुषा-न्नपरं किञ्चित् सा काष्ठाः सा परागति रितिविहितम्, तस्यायमर्थः तस्मादपिपरः सवान्तरात्मभूतोऽन्तर्याम्यध्वनः पारभूतः परमपुरुषोथथोक्तस्यात्मपर्य्यन्तस्य तत्सङ्कल्पा-यत्तप्रवृत्तित्वात् सखल्वन्तर्यामितयोपासकस्यापि प्रयोजकः। परात्तु तच्छ्रुते ब्र० १।३।४१ इति हिजीवात्मनः कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तम्, वशीकार्य्योपासनानिर्वृत्युपायकाष्ठाभूतः परमप्राप्यश्च सएवेति।

भाषानुवाद

जो देव स्वयं जन्म रहित प्राणी मात्र को उत्पन्न करने वाला है जो मानव उस नारायण के भक्ति पूर्वक शरण होता है वह मनुष्य सर्व पापों से विनिर्मुक्त हो जाता है इस अर्थ में विचार नहीं करना चाहिये उपदर्शित श्रुति स्मृति इतिहास पुराणादि वचनो का सारार्थ आचार्यचरण श्लोक के प्रथम पाद के द्वारा प्रतिपादन

करते हैं। नान्मा जाति रिति श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के चरणारविन्द के बिना जीवों की गति श्रुति स्मृति में नहीं दीख पड़ती है। परम पुरुष श्रीकृष्णचन्द्र पर और कोई नहीं है वह परम अवधि परम गति है। यह श्रुति उक्तार्थ में प्रमाण हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

गति र्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् अह मेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् त्वं हि लोकगतिर्ब्रह्मन् नकेचित् त्वां विजानते। नहि विष्णुं ऋते काचिद्गतिरन्या विधीयते। इत्येव सततं वेदा गायन्ति नात्र संशयः। अगतीनां गतिर्भवानित्यादिस्मृतेः। एवं करणव्युत्पत्त्या कर्मव्युत्पत्त्या चोपायोपेयपरोऽयं गतिशब्दः। तत्र गम्यतेऽनयेतिकरणव्युत्पत्त्या पुरुषार्थोपायभूतः श्रीभगवान्।

कुंचिका

गम्यत इतिगतिः फलम्, 'भर्ता'' पोषको धारयिता वा प्रभुर्नियन्ता। "साक्षी साक्षाच्छुभाशुभकर्मद्रष्टा। निवासः निवासस्थानम्, 'सुहृत्'' हितशंसो, अहमेवेति।

भाषानुवाद

उक्तार्थ को श्रीमुख के वचन द्वारा सिद्ध करते हैं। गतिरिति। गति शब्द का अर्थ फल है फल स्वरूप भगवान भर्ता=सबों का पोषक प्रभुः=नियन्ता साक्षी= शुभ अशुभ कर्म के द्रष्टा श्रीहरि है। निवासः=सबों का निवास स्थान हैं। शरणम्= इष्ट को दे के और अनिष्ट दूर कर रक्षा कर्ता भगवान् हैं। सुहृत् सबों का हित कर्ता। निष्काम कर्म करने वाले पुरुषों की मैं ही गति हूँ। हे ब्रह्मन्! लोकों की गति तुम हो तुमको कोई भी जन नहीं जान सकता है। श्रीविष्णु भगवान् के बिना जीवों की और गति नहीं है। इस प्रकार से सब आपके ही गुणों का गान करते हैं इस विषय में कोई भी संशय नहीं है। अगति जनों की गति तुम ही हो। गम्यते अनया इति करण व्युत्पत्ति से पुरुषार्थों के उपाय भूत श्रीहरि है। कर्म व्युतपत्ति से भी उपेयभूत श्रीकृष्ण चन्द्र गतिशब्दार्थः है।

वेदान्तरत्न-मंजूषा

कृष्ण एवेति गतिशब्दार्थः। तथैव गीयते च श्रीमुखेनैव, अनन्या- श्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्य-

हम्, अ० ९ श्लोक २२ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्, भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्, तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता। मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च

कुञ्चिका

अनन्याइति। न विद्यते ऽन्योमद्व्यतिरिक्तः प्राप्य उपास्यो वा। येषां तेऽनन्या मां परमप्राप्यं देवदेवं चिन्तयन्तो ये जनाः पर्य्युपासते। परिसर्वतो देहेन्द्रियान्तःकरणैः सेवते तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यमनवरतमादरेण मयि मनोऽभियुञ्जतां योगं मत्प्राप्तिपर्य्यन्तस्यसर्वपुरुषार्थस्य प्रापणं क्षेमं तत्संरक्षणं पुनस्तदपायशङ्कावर्जनमित्यर्थः। अहमेव वहामि प्रापयामीत्यर्थः। तेषामिति। अ० १२। श्लोक ७। तेषामुक्तप्रकारेण मय्यावेशित चेतसाम्। अहं वात्सल्यदयादिनिधिः मृत्योरपिमृत्युः स्वभक्तदुःखासहिष्णुर्मृत्युयुक्तात्संसारसागरादचिरेणैव समुद्धर्ता भवामि हेपार्थ उद्धृत्य च नित्यनिरतिशयानन्दरूपामात्मभावापत्तिं मुक्तिं ददामीत्यर्थः। तेषामेवेति अ० १०। श्लोक ११। तेषामेव प्रीतिपूर्वकं भजतामेवानुकम्पार्थमनुग्रहार्थम्। आत्मभावस्थो बुद्धिवृत्तौ स्थितः सन्नज्ञानजं प्राचीनकर्मरूपाज्ञानजं तमो धर्मभूतज्ञानावरणं भास्वता प्रकाशमानेन मद्विषयकज्ञानाख्येन दीपेन नाशयामीत्यर्थः। मन्मनाभव इति। मयि भगवति पुरुषोत्तमे चेतसः शुभाशये मनो यस्य स मन्मनास्तथाभव पराभक्तिलक्षणं सर्वदामद्ध्यानं कुर्वित्यर्थः।

भाषानुवाद

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता में कहा है कि जो पुरुष अनन्य होके मेरा चिन्तन और उपासना करता है नित्य अनवरत मेरे में मन को अर्पण करने वाले जन का योगक्षेम मैं करता हूँ। उन पुरुषो को मैं संसार सागर से उद्धार करता हूँ जिन्होंने मेरे में मन लगाया है जो जन प्रीति पूर्वक मेरा भजन करते हैं उन्हों के अनुग्रह कर उन जनों की बुद्धि वृत्ति में स्थित होके अज्ञान जन्यतम प्रकाश रूप ज्ञान दीपक द्वारा नाश करता हूँ। हे अर्जुन मेरे में अपने मन को लगाय और मेरा भक्त हो मेरा अर्चन कर मेरे को प्रणाम करना चाहिये। मेरे में जिन पुरुषों का चित्त लगा हुआ है मेरे ही में जिन्हों का प्राण विद्यमान है मेरा ही नित्य परस्पर में कथन बोधन करते हैं उसके द्वारा उन पुरुषों को सन्तोष लाभ होता है।

वेदान्तरत्नमंजूषा

मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच इत्यन्वयमुखेन सर्वारम्भपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणंव्रजेत्यादिव्यतिरेकेण च स्वस्यैवात्माऽनन्यशरणानां सर्वे पुरुषार्थत्वविधानात् ।

कुंचिका

तत्साधनमाह । मद्भक्तोभवेति । भद्भक्तिंकुर्वित्यर्थः । साचभगवदर्था क्रियैव "सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया" सैवभक्तिरितिप्रोक्ता यया भक्तिर्परा-भवेदिति वचनात् । तामेवोपदिशति । मद्याजीति । द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाइत्यादिनोक्तैः पञ्चयज्ञैः अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैः पञ्चकालोक्तमद्भजनैर्वामत्पूजनशीलोभवे-त्यर्थः । कृतस्य यजनस्य वैगुण्यपरिहारार्थमाह । मां नमस्कुरु । मां सर्वेश्वरं सर्वशक्ति वात्सल्यकारुण्यादिगुणार्णवं नियमेनाष्टाङ्गैः प्रणामइत्यर्थः एवं पञ्चविधाराधनेन निरन्तर-ध्याननिष्ठो भूत्वा मत्साक्षात्कारेण ब्रह्मरुद्रादिभिर्दुराराध्यं परमप्राप्यं परमानन्दघनं मामैवेष्यसि प्राप्स्यसि । एतत्सत्यं नप्रलम्भनमिति ते तुभ्यं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि । यतस्त्वं मे प्रियोऽसि प्रियस्यप्रलम्भनमनुचितमिति भावः । मच्चित्ता इति । मयि भगवति वासुदेवे चित्तं येषां ते मच्चित्ताः मद्गतप्राणाः । मामेवगताः प्राप्ताः प्राणाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि येषां ते । मद्रूपादिदर्शनाद्येकविषयीभूतचक्षुरादिव्यापारा इत्यर्थः । मद्भजनार्थैकजीवना इति वा । स्वसमानविद्वद्गोष्ठीषु परस्परमन्योन्यं युक्तिभिः ।

भाषानुवाद

मैं तेरे को सर्व पापों से छुटा दूंगा तू शोक मत करैं इस अन्वय मुख वाक्य से यह सिद्ध हो चुका कि भगवान् ही अनन्य पुरुषों का परम पुरुषार्थ है । सब धर्मों का परित्याग के जो भक्तिमान् वह जन मेरे को परम प्रिय हैं सर्व धर्म को त्याग कर मेरी शरण में आये इत्यादि व्यतिरेक वाक्य हैं इन वचनों के द्वारा श्रीभगवान ने अपने को ही सर्व पुरुषार्थ का साधन अनन्य भक्तों के लिये कथन किया ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तथैव गम्यत इति गतिः प्राप्योऽपि श्रीपुरुषोत्तमएवेति । तत्रैवान्वय-

व्यतिरेकाभ्यां गीयमानात् । यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।

कुञ्चिका

श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणैश्च मामेव बोधयन्तः जिगीषाद्यभावान्मत्स्वरूपगुणज्ञापनेन सौहार्दं कुर्वन्तः । स्वन्यून बोधेषु च मामेव कथयन्तः तत्कृपया मदीयान् गुणान् मदीयानतिमानुषान्यद्भूतानि कर्माणि च कथयन्तः सन्तस्तुष्यन्ति रमन्ति च । वक्तादौऽनन्यप्रयोजनेन श्रोतृप्रश्नेन तुष्यन्ति अनुमोदन्ते श्रोतारश्च तदद्भुतप्राणगुणकर्मश्रवणेन रमन्ति रमन्ते इत्यर्थः । सर्वारम्भइति अस्यपूर्वार्द्धम् । अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः । अनपेक्षः । यदृच्छाप्राप्तेष्वपि लौकिकपदार्थेषु स्पृहारहितः । 'शुचिः' । बाह्यान्तरशुद्धियुक्तः 'दक्षः' ज्ञातव्येषु शास्त्रीयेषु कर्त्तव्येषु च ज्ञातुं कर्त्तुञ्च समर्थः ' उदासीनः'' मित्राद्युद्देशेन पक्षपातविवर्जितः । 'गतव्यथः'' कुत्रचिद् समानोपेक्षणादिना या मानसीव्यथा तया शून्यः । परमार्थानुपयुक्तान्सर्वान् कर्मारम्भान् परित्यक्तुं शीलं यस्य एवम्भूतो यो मद्भक्तः स मे प्रिय इत्यर्थः । उक्तवचनैरन्ययव्यतिरेकमुखेन श्रीकृष्णस्यैवानन्यशरणानां भागवतानां सर्वपुरुषार्थत्वमभिधीयत इतिफलितार्थमाह अहं त्वामिति एतच्छ्लोकार्थः प्रागुपदर्शितः । परमप्राप्योपि श्रीकृष्ण एवेति गतिशब्दार्थं व्याकरोति । गम्यत इति 'तत्रैव' श्रीमद्भगवद्गीतायामेव तानि वचनान्युदाहरति । यान्तीत्यादिना ।

भाषानुवाद

गति शब्दकी कर्म व्युत्पत्ति से भी फल रूप भगवान् ही हैं जिसको जो प्राप्त होता है वह उसका गति है वह श्रीपुरुषोत्तम हैं । यह वार्ता श्रीमुख से अर्जुन के प्रति कहा हैं देवता के उपासक देवता को प्राप्त होते हैं । पितरोको उपासक पितरो को और भूतों के उपासक भूतों को प्राप्त होते हैं ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते । मम साधर्म्यमागताः । मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् । नाप्नुवन्ति

महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यत इत्यन्वयवाक्येभ्यः । आब्रह्मभुवनाल्लोकाःपुनरावर्तिनोऽर्जुन । नतु

मामभिजानन्ति तत्वेनातश्च्यवन्तिते । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततोयान्त्यधमां गतिमित्यादिव्यीतरेकवचनेभ्यश्च । उपलक्षणं चैतत् सर्वसम्बन्धाश्रयोऽपि स एव । माता पिता तथा भ्राता सर्वस्य शरणं सुहृदिति शरण्यस्यैव भगवतः सर्वसम्बन्धित्वश्रवणात् ।

कुञ्चिका

देवेष्विन्द्रादिषु व्रतं नियमोभक्तिर्वा येषां ते देवव्रताः अथवा तेष्वेवेज्यबुद्धयस्ते तानेव विशेषान् यान्ति प्राप्नुवन्ति । 'पितृव्रताः' पितृष्वग्निष्वात्तादिष्वेवेज्यबुद्धया नियमान्वितास्तानेव पितॄन्यान्ति । भूतेज्याभूतेषुयक्षरक्षोविनायकमातृगणादिषु इज्या-पूज्यबुद्धिर्येषां ते तथा तद्यजननिष्ठास्तानिभूतान्येवयान्ति मद्याजिनो मां साक्षाद्भगवन्तं यष्टुं शीलं येषां ते तु सात्विका दैवीसम्पद्माश्रिताः । मामेव यान्ति न पुनश्च्यवन्तीत्यर्थः अतोऽन्य देवभक्तेभ्यो मद्भक्तानां महान्विशेष इत्यर्थः । मामेवेति । एवमुक्तप्रकारेणात्मानं मनो मयि युक्त्वा मत्परायणो मदैकशरणः त्यक्तान्यप्रयत्न, सन् मामेव नित्यं सच्चिदा-नन्दं मुक्तप्राप्यं तद्भोग्यञ्चैष्यसि प्राप्स्यसीत्यर्थः । मामेवेति प्राग्व्याख्यातम् मद्भक्त इति । एतत् क्षेत्रयाथात्म्यं क्षेत्रज्ञस्य प्राप्त्युपायं क्षेत्रज्ञस्वरूपयाथात्म्यञ्च विज्ञाय मद्भावा-योपपद्यते । मम यो भावो जन्ममरणादिराहित्यं मत्प्राप्तये योग्यो भवतीत्यर्थः । ममसाध-र्म्येति इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्यानुष्ठाय मम साधर्म्यमागताः मत्साम्यं प्राप्ता इत्यर्थः मामुपेत्य इति मां सर्वेश्वरमानन्दघन प्राप्य पुनरखिलगर्भवासादिदुःखालयं दुःखगृहमशा-श्वतमस्थिरं जन्म प्राकृतदेहसम्बन्धं नाप्नुवन्ति यतो महात्मनः महाविवेकसम्पन्नान्तः-करणा अत्यर्थमतिप्रियत्वेन मत्प्रसादकारणानि मदैकाराधनानि कर्माणि कृत्वा मदनुग्रहादेव ।

भाषानुवाद

मेरी उपासना करने वाले मेरे को प्राप्त होते हैं । हे अर्जुन तू मत्परायण है मेरे में चित्त लगाय के मेरे को ही प्राप्त होवेगा मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ मद्भक्त मेरे तत्व को जान के मेरे को प्राप्त होके पुन दुःख का आलय अनित्य जन्म को प्राप्त नहीं होता है ।

कुञ्चिका

परमां सर्वोत्कृष्टां संसिद्धिं मद्भावात्मिकां गताः प्राप्ताः इत्यर्थः । मामुपेत्येति

न मां सर्वेश्वरं सत्यसंङ्कल्पं निखिलजगदुत्पत्तिकारणं दोषास्पृष्टमाहात्म्यं भगवन्तमुपेत्य प्राप्य ये निर्वृता हे कौन्तेय, तेषां जन्म न विद्यते, इत्यर्थः । मदनन्यभक्तिहीनांस्तु बिविधधर्मानुष्ठानाद्ब्रह्मलोकपर्य्यन्तं प्राप्ता अपि पुनरावर्त्तन्त इत्याह आब्रह्मेति आब्रह्म-भुवनात् ब्रह्मणो भुवनं ब्रह्मलोकस्तमभिव्याप्य सर्वेलोकास्तत्रस्था जनास्तद्भोगावसाने । पुनरावर्तिनो भवन्ति हे अर्जुन ! ।तेभ्यः स्वभक्तानां तुशब्देन महद्वैलक्षण्यं द्योतयति । "नतु मामभिजानातीति एवं सर्वकर्मकर्तृ देवताध्यक्ष मां ते सकामास्तु तत्त्वेन नाभिजानाति । अतः कर्मफलं भुक्त्वा तद्भोगान्ते च्यवन्ति, पुनर्देहग्रहणाय धूममार्गेण वर्त्तन्ते न तु साक्षान्मामेव तत्त्वेन देवतासु वा मामेवान्तर्यामिणं यजन्तश्चवन्तीतिभावः मामप्राप्यैवेति मां सर्वेश्वरं । सर्वकर्मफलदातारमप्राप्यैव गुरूशास्त्रोपदेशाभावेन, अस्ति परमेश्वरो भगवान्वासुदेवः सर्वाराध्य इतिज्ञानमप्राप्यैव ततो तद्विषयाज्ञानादधमां श्वशूकरादियोनिरूपां गतिं फलं यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । "एतत्" नान्यागतिः कृष्णपदार-बिन्दादितिकथनम् "सएव" पुरुषोत्तम एव, पितृमात्रादिशब्दैः जन्यजनकभावे । सम्बन्धाश्रयत्वं सर्वरक्षयितुः श्रीपुरुषोत्तमस्योक्तम् । शरणम् = रक्षकम् । सुहृत् = हितेच्छुः ।

भाषानुवाद

अतएव परम सिद्ध मेरे को प्राप्त होय के पुनर्जन्म नहीं होता है । हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोक पुनरावर्ति हैं जिन पुरुषो को मेरा यथार्थ ज्ञान नहीं होता है वे जन तत्त्व से भ्रष्ट हो जाते हैं मेरे को प्राप्त नही होके अधमगति को प्राप्त होते हैं । यहाँ पर गति शब्द उपलक्षण है सर्व सम्बन्ध का आश्रय श्रीकृष्णचन्द्र हैं । माता पिता और भ्राता सर्व का शरण सुहृद् भगवान् हैं । इन वचनों से यह सिद्ध हो चुका कि सर्व सम्बन्ध का आश्रय श्रीहरि है ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् । पितामहोऽस्य जगतो माता धाता पितामहः । त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव । त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव इत्यादि श्रवणाच्च । ममैवांशो जीवलोके मद्भक्त एतद्विज्ञाय ॥

कुंचिका

उक्तार्थं प्रमाणेन द्रढयति पितासिति । अस्य चरारस्य, लोकस्य पिता जनक-स्त्वमसि पूज्यश्चासि गुरुश्च शास्त्रोपदेष्टा अतो गरीयान्, गुरोरपि गुरुत्वेन पूज्यतमः ।

हे अमितप्रभाव यत एवम्भूतस्त्वं तस्मात्त्वत्समो लोकत्रये नास्ति यदि त्वत्सम एव नास्ति तर्हि अभ्यधिकः कुतोऽन्य.,त्वदधिकः कुतः स्यात । नास्तिनासीन्नभविष्यतीत्यर्थोवेत्यर्थः ४३ ममैवांश इति योऽयं जीवलोके वर्त्तमानो जीवभूतः प्राणोपाधियुक्तः स ममैवांशः शक्तिस्वरूपांश एव नतु स्वतन्त्रः अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीवभूतामित्युक्तत्वात् शक्तेः शक्तिमतः स्वरूपाभेदेऽपि पृथक्स्थित्यभावाद्भेदाभेदस्यैव सम्भवादित्यर्थः। मद्भक्त इति । ज्ञानसाधनं ज्ञानं ज्ञेयञ्च अनादिमत्परमित्यादिना हृदि सर्वस्याधिष्ठितमित्यन्तेन ज्ञेयस्यक्षेत्रज्ञस्य च तत्त्वं याथात्म्यं क्षेत्रज्ञस्य प्राप्त्युपायं विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते मम यो भावो जन्ममरणादिराहित्यं तत्प्राप्तये योग्यो भवतीत्यर्थः।

वेदान्तरत्नमंजूषा

योमद्भक्तः समे प्रियः प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः। प्रतिजानेप्रियोऽसि मे मम साधर्म्यं मागता इत्यादिना स्वस्यैव सर्वसम्बन्धत्वदृढ़ी करणाय तत्र तत्र षष्ठीप्रयोगस्य स्वयमेव श्रीमुखेनाभ्यस्यमानाच्च किश्चानेन प्रपत्तिस्वरूपमप्युक्तं भवति । अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः। त्वेमवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः। शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यतामिति लक्षणसमन्वयात् । सा च षड्विधा । आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्ज्जनम् ।

कुश्चिका

योमद्भक्त इति एवम्भूतो यो भक्तिमान् स मे प्रिय इत्यर्थः। प्रियोहीति । हि यस्मात् ज्ञानिनोऽहमत्यर्थं प्रियः अनवधिकप्रीतिविषयः तथैवोक्तं विष्णुपुराणे प्रल्हादेन याप्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु श्रीपराशरोप्याह - "सत्वासक्तमतिः कृष्णो दृश्यमानो महोरगैः नविवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याल्हादसंस्थित इति स च ज्ञानी तथैव ममातिप्रियः' यथात्वं सह पुत्रैश्च तथा रुद्रो गणैः सह यथा श्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रिय इतिश्रुतेः "नान्यः भक्तात्प्रियतरो लोके कश्चन विद्यत इति मोक्षधर्मे नारायणवचनाच्चेत्यर्थः । उक्त वचनेभ्यः सिद्धं सर्वेषां नित्यसम्बन्धानामाश्रयः श्रीपुरुषोत्तम एव इत्याह स्वस्यैवेति परमात्मन एवेत्यर्थः। तत्र तत्र पितासि लोकस्य, अस्यजगतः ममैवांश इति प्रियोसिमे (मम साधर्म्यम्) इत्यादिषु षष्ठीप्रयोगात्सर्वसम्बन्धाश्रयत्वं परमात्मन इत्यर्थः। अनेनेति नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दादित्यभिधानेनत्यर्थः प्रपत्तेः स्वरूपमाह । अहमिति। शरणागत

लक्षणं निरूप्य तां विभजते साचेति।

भाषानुवाद

तुम चर और अचर लोक के पिता हो इस जगत् के पूज्य और गुरू श्रेष्ठ हो। हे अर्जुन इस जगत् का पिता माता धाता पितामह मैं ही हूँ। मेरे मातापिता तूं हैं। बन्धु गुरु परमार्थ का उपाय विद्या तुम हो। व्यवहार का साधन द्रव्य तुम हो मेरे सब सम्बन्धी तुम ही हों। मेरा अंश जीव है। मेरा भक्त मेरे तत्त्व को जान कर मेरे भाव को प्राप्त होता है। मेरा भक्त मेरे को अत्यन्त प्रिय हैं। ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ ज्ञानी मेरा अत्यन्त प्रिय है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुन के प्रति कहते हैं कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। और बहुत जीव मेरे समान धर्म को प्राप्त हुये। इत्यादि वचनों के द्वारा श्रीमुख से अपने को सर्व सम्बन्धकाश्रय दिखलाया ममैवांश और समे प्रियः इन सब वचनों में षष्ठ्यन्त प्रयोग का पुन पुन अभ्यास किया है। नान्यागतिः श्रीकृष्णपदारविन्दात् इस वचन में गति शब्द के प्रयोग से शरणागति का स्वरूप भी आचार्यपाद ने दिखलाया है। अब शरणागति का लक्षण प्रकाश करते हैं। अहमिति। मैं सर्व अपराधों का आधार हूँ। और अकिंचन हो अन्यगति हीन हूँ मेरा पुरुषार्थ उपाय तुम ही हो। इस प्रार्थना को शरणागति कहते हैं। वह शरणागति छै प्रकार की हैं। प्राणिमात्र के अनुकूल संकल्प। और प्रतिकूल का वर्जन। तीतृय विश्वास है। गोप्तृत्व वरण चतुर्थ अङ्ग है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिरिति भगवच्छास्त्रवचनात् तत्र सर्वात्मत्वं पुरुषोत्तमस्य निश्चित्य ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तप्राणिमात्रस्यानुकूल्याचाराध्यावसायः प्रथमोऽङ्गः। चराचराणि भूतानि सर्वाणि भगवद्वपुः अतस्तदानुकूल्यं मे कर्तव्यमिति निश्चयः। श्रुयतेहि सर्वात्मत्वं भगवतः। अन्तः प्रविष्ट शास्ता जनानां सर्वात्मा अहमात्मागुड़ाकेश सर्वभूताशयस्थित इत्यादिगानाच्च ॥ १ ॥ हिंसामात्सर्य्यादिपूर्वोक्तविपरीताचारत्यागः प्रातिकूल्यस्य वर्जनं द्वितीयम् तच्च विरोधिरूपनिर्णये वक्ष्यते। परापवादंपैशुन्यमनृतं योन भाषते। अनुद्वेगकरं चापि तोष्यते तेन केशवः। परपत्नीपरद्रव्यपरहिंसासु यो मतिं न करोति प्रमादं भूप तोष्यते तेन केशवः। न ताडयति नोहन्ति

प्राणिनोऽन्यांश्च देहिनः। यो मनुष्यो मनुष्येन्द्र तोष्यते तेन केशवः। सगरं प्रति और्वः।

कुञ्चिका

तत्र तेषु मध्ये तस्याः प्रथममङ्गं निर्वक्ति। सर्वेति उक्तार्थं प्रमाणेन द्रढ़यति चरेति। श्रीहरे, सर्वात्मत्वं श्रुतिमुखेनाह। अन्तेति। तस्याः द्वितीयमङ्गमाह हिंसेति। प्राणवियोगानुकूलव्यापारो हिंसा। परोत्कर्षासहनमात्सर्य्यम्। उक्तार्थं स्मृतिवचनैर्द्रढयति। परेति।

भाषानुवाद

और आत्म निक्षेप कार्पण्य यह छै अङ्ग शरणागति के हैं यह बचन भगवत् शास्त्र में प्रसिद्ध है। शरणागति का प्रथम अङ्ग का विवरण करते हैं सर्वेति। सब का आत्मा श्रीपुरुषोत्तम हैं ऐसा निश्चय कर ब्रह्मादि स्थावरान्त प्राणिमात्र के अनुकूल आचरण का निश्चय प्रथम अङ्ग हैं उक्त अर्थ को स्मृति के द्वारा प्रमाणित करते हैं। चरेति। चर और अचर प्राणिमात्र का अन्तर्यामी आत्मा भगवान् है अतएव सबों के अनुकूल रहना मेरा कर्तव्य है। भगवान् सबों का आत्मा है यह श्रुतियों में प्रसिद्ध है, अन्तः प्रविष्टेति। श्रीभगवान् सर्व जनों के भीतरमे प्रविष्ट है सर्व जनों को शासन कर्ता है। हे गुडाकेश सर्वभूतो के अन्तः स्थित में हूँ। अब शरणागति के द्वितीय अङ्ग की व्याख्या दिखलाते हैं। हिंसेति। प्राणीमात्र के अनुकूल आचरण के विपरीत हिंसा मात्सर्यादिक है उनों का परित्याग करना द्वितीय शरणागति का अङ्ग हैं। इसका स्वरूप निरूपण विरोधी रूप के बिचार में आगे करेंगे। उक्तार्थ को प्रमाण के द्वारा प्रमाणित करते हैं। परेति हे राजा सगर जो मनुष्य दूसरे का अपवाद। पैशून्य = चुगली और मिथ्या भाषण नहीं करता है और दूसरे जन को उद्वेग करने का बचन नहीं कहता है उस पुरुष मे भगवान् सन्तुष्ट होते हैं। जो पुरुष परपत्नी और पर द्रव्य पर की हिंसा में अपनी वुद्धि नहीं लगाता है उससे भगवान् तुष्ट होते हैं जो जन प्राणि मात्र को ताडन और हनन नहीं करता है उस पुरुष से भगवान् तुष्ट होते हैं।

वेदान्तरत्न-मंजूषा

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गर्जितः निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डवेति उभयत्र प्रमाणम् ॥२॥ वात्सल्यादिगुणरत्नाकरः सर्वशरण्य

प्रपन्नानस्मान् रक्षिष्यत्येवेतिनिश्चयो विश्वासः। (आत्मरक्षाविषयात्मकतद्रक्षि-वृत्त्वव्यवसायविशेष इति यावत्)। रक्षिष्यत्यनुकूलान्नइति या सुदृढा मतिः। स विश्वासो भवेच्छक्रसर्वदुष्कृतनाशन इति तृतीयम्। योगक्षेमं वहाम्यहम्। अहं त्वां सर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामि मा शुच इति भगवद्वचनात् ॥३॥ सर्वज्ञः सर्वरक्षासमर्थः कारुण्यवात्सल्यादिगुणसागरोऽपि पुरुषोत्तमः प्रार्थनाशून्यै-रात्मपराङ्मुखैरप्रार्थितो न गोपायति। अन्यथा सर्वमोक्षप्रसङ्गात्। शास्त्र-सेतुभङ्गापत्तेश्चेति।

कुञ्चिका

(मत्कर्मकृदिति। यत्किञ्चिद्वेदाध्ययनादिसर्वं कर्ममदाराधनरूपं यः करोति स मत्कर्मकृत्) तथा मत्परमः, अहमेव परमः प्राप्यभूतः पुरुषार्थो यस्य नतु स्वर्गस्त्री-पुत्रधनादिमत्कर्मफलं तथा सः अतएव मद्भक्तः मत्कीर्तनश्रवणध्यानार्चनादिमद्भजने-नैव कालक्षेपं यः करोति सः तथा मद्भक्तेतरसर्वसङ्गशून्यः। ।एवंमयि सर्वभूतेषु यो निर्वैरः, अपकारिजनेष्वपि द्वेषाभिनिवेशवर्जितो यः स मामेति। विश्वमायानिवृत्तिपूर्वक-मद्भावापत्तिमाप्नोति न स पुनरावर्त्तते, इत्यर्थः। उभयत्रेति आनुकूल्याचरणे, प्रातिकूल्य वर्जने च, तृतीयमङ्गमाह। वात्सल्यादीति। उक्तार्थं प्रमाणेन द्रढयति। रक्षिष्यतीति।

भाषानुवाद

जो पुरुष वेदाध्ययन रूप कर्म मेरा आराधन मान के कर्ता है और मत्परायण है औरभक्तेतर संग से वर्जित और सब भूतों में वैर रहित जो मेरा भक्त है वह मेरे को प्राप्त होता है यह श्रीमुख का कथन हैं॥ २॥ शरणागति का तृतीय अंग दिखाते हैं। 'वात्सल्येति' वात्सल्य आदि गुणों का सागर और सब का आधार सबों का शरण्य श्रीहरि हैं उसके प्रपन्न अर्थात् शरणागत हम सब जन हैं अतएव श्रीहरि हमारी रक्षा अवश्य करेंगे यह निश्चय विश्वास कहलाता है। अनुकूल जन की रक्षा भगवान् करेंगे इस दृढ निश्चय को विश्वास कहते हैं। यह विश्वास सब दुखों का नाशक है। भक्तों के योगक्षेम को मैं करता हूँ। हे अर्जुन तुमको मैं सर्व पापों से निर्मुक्त कर दूंगा। यह भगवद्वचन उक्त अर्थ में प्रमाण है। अब शरणागति का चतुर्थ अंग दिखलाते हैं। सर्वज्ञइति। सबों की रक्षा करने में समर्थ और कारुण्य वात्सल्य गुणों का सागर सर्वज्ञ भगवान् हैं तो भी प्रार्थनाशून्य वहिर्मुख जनों की प्रार्थना के विना रक्षा नहीं करते हैं। यदि जो यह वार्ता नहीं स्वीकार करेंगे तो सबों की मोक्ष हो जानी चाहिये और

शास्त्र की मर्यादा का भंग हो जायेगा। ऐसा निश्चय कर सदा प्रार्थना प्रावण्य को गोप्तृत्ववरण कहते हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

निश्चित्य बुद्धेः सदैव प्रार्थनाप्रावण्यं गोप्तृत्ववरणभूतश्चतुर्थः। आत्मरक्षाविषयात्मकतद्रक्षितृत्वव्यवसायविशेष इतियावत्। अप्रार्थितो न गोपायेदिति या प्रार्थनामतिः। गोपायिता भवत्येव गोप्तृत्ववरणं स्मृतम्। प्रार्थनास्वरूपं तु श्रीकृष्णरुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर। संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो। केशवक्लेशहरणनारायणजनार्दन। गोविन्दपरमानन्द मां समुद्धर-माधवेत्यादिमन्त्रैः स्पष्टं ज्ञायते। कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराऽच्युत शङ्खचक्रपाणे। भवशरणमुदीरयन्ति ये वै त्यज भट दूरतरेण तानपापानिति यमवचनाच्च। विष्णु पुराणे। अ० तृ० अ०। ९। श्लोक ३३।

कुञ्चिका

तन्नामकीर्त्तनं तदैकशरणताद्येकान्तभक्तिचिह्नमित्याह। कमलनयनेति। ईरयन्तीतिवचनादर्थज्ञानमन्तरेणापि नामोच्चारणमात्रमेव पापहरमिति सूचितम्। ईरणं श्रवणादेरप्युपलक्षणम्। इत्यर्थः।

भाषानुवाद

प्रार्थना के बिना श्रीहरि हमारी रक्षा नहीं करेंगे इससे सदा प्रार्थना करते रहना इस निश्चय को गोप्तृत्ववरण कहते हैं। अब प्रार्थना का स्वरूप दिखलाते हैं कि हे श्रीकृष्ण हे रुक्मिणीकान्त हे गोपीजन मनोहर मैं संसार सागर में डूबा जाता हूँ मेरा उद्धार कीजिये। हे केशव हे परमानन्द हे क्लेश हरण हे नारायण हे जनार्दन हे गोविन्द मेरा उद्धार करो यह गोपाल तापनी में कहा है। अब श्रीविष्णु पुराण के वचनों के द्वारा उक्तार्थ प्रामाणित करते हैं। कमलनयनेति। यह उक्ति श्रीयमराज की दूतों के प्रति है। हे कमलनयन हे वासुदेव हे विष्णो हे धरणीधर हे अच्युत हे शंख-चक्रपाणे आप मेरे रक्षक हैं इस प्रकार जो पुरुष प्रार्थना करते है उन पुरुषों के समीप तुम भूलकर भी नहीं जाना उन पुरुषों को दूर से परित्याग कर देना यह यमराज ने कहा है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

राजधर्मे भीष्मः त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे। यच्छ्रेयः

पुण्डरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरोत्तमेत्यादेश्च ॥४॥ प्रपत्तव्यस्य माधवस्यासाधारणप्रसादहेतुः प्रपत्तिरेवेति निश्चयेन तेन रक्ष्यमाणस्यात्मनोऽहंममत्वस्वाम्यादीनां भारस्य श्रीभगवति अर्पणमात्मनिक्षेपः । आत्माऽऽत्मीयभरन्यासो ह्यात्मनिक्षेपउच्यते इतिलक्षणवचनात् , उपरिचराख्याने च, आत्मा राज्यं धनं मित्रं कलत्रं वाहनानि च । एतद्भगवते सर्वमितितत्प्रोज्झितं सदेति, वाल्मीकीये भरतः । राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसीति । द्व्यक्षरन्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् । ममेति च भवेन्मृत्युर्नममेति चशाश्वतमिति भारतवचनात् ।

कुंचिका

आत्मनिक्षेपस्य स्वरूपमाह । प्रपत्तव्यस्येति ।

भाषानुवाद

शरण्य श्रीभगवान के अनुग्रह का मुख्य कारण प्रपत्ति हैं इस निश्चय के द्वारा आत्मा की अहंता ममता और फल स्वामिता का भार श्रीहरि में अर्पण कर देना इसको आत्म निक्षेप कहते हैं। उक्त अर्थ को स्मृति प्रमाण से सिद्ध करते हैं। आत्मेति। अपने आत्मा और आत्मीय अर्थात पुत्रकलत्रादिकों के भार को परमात्मा में त्याग कर देना इसको ही आत्म निक्षेप कहते हैं। यह वार्ता भारत में उपरिचर के आख्यान में कही है कि आत्मा राज्य धन और मित्र कलत्र वाहनादिक इन सबों को भगवान के अर्पण किया राज्य और मैं श्रीरामचन्द्रजी का हूँ यह धर्म कहने के योग्य है यह बाल्मीकि रामायण में श्रीभरतजी का वचन है। दो अक्षर मृत्यु है और तीन अक्षर अमृत है। यह मेरा है यही मृत्यु है यह मेरा नहीं है यह अमृत के समान है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामि माशुच इतिचरमोपदेशात् ॥५॥ उपायानामसिद्ध्या तद्विपरीतानामपायानां स्वतः प्राप्त्या च कर्तृत्वाद्यभिनिवेशरूपगर्वहानिः कार्पण्यम् । उपाया नैवसिद्ध्यन्तीत्यपायाविविधास्तथा इतियागर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते, इति वचनात् । एतेषु षट्सु आत्मनिक्षेपएवाङ्गीत्वान्मुख्यः । अन्ये च तत्सहकारिणस्तदङ्गभूता इति विवेकः । किञ्च, अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिरिति लक्षणवचनेनैवाकिञ्चनोऽगतिरत्राधिक्रियते, इत्युक्तम् । तच्च मुमुक्षुत्वादीनामप्युपलक्षणम् । एवञ्चाऽकिंचनोऽनन्यगतिः सात्त्विक

भगवत्प्राप्तिकामो मुमुक्षुः सार्ववर्णिकोऽज्ञः सर्वज्ञो वा निर्विण्णोऽत्राधिकारीति बोध्यम्। तत्राकिंचनत्वं नाम सर्वसाधनानुष्ठान सामर्थ्यादिविषयककर्तृत्वादि-रूपाभिमानादिसर्वस्वशून्यत्वम्, अगतित्वं चानन्यगतित्वम्,तच्च भगवद्व्यतिरि-क्तान्यसाधनफलसम्बन्धलक्षणगतिशून्यत्वम , तच्चोक्तम् अकिंचनोऽगतिरिति।

कुञ्चिका

शरणागतेः कोत्राधिकारीतिजिज्ञासायामाह। किञ्चेति। अकिञ्चनत्वं निर्वक्ति। तत्रेति।

भाषानुवाद

अब शरणागति के षष्ठ अंग कार्पण्य को दिखलाते हैं जो मैं साधन करता हूँ वह सिद्ध नहीं होता है और साधनों के नाशक प्रति बन्धकों की स्वतः प्राप्ति होती है ऐसा देखकर अपने कर्तृत्व गर्व के नाश को कार्पण्य कहते हैं। उक्त अर्थ को स्मृति के द्वारा प्रामाणित करते हैं। उपायानामिति। मेरे किये हुए उपाय सिद्ध नहीं होते हैं और नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं इस गर्व की हानि का नाम कार्पण्य है। इन छः अंगों में आत्मनिक्षेप मुख्य अंगी है पांच उसके अङ्ग हैं, अर्थात सहकारी कारण हैं। मैं सब अपराधों का आधार हूँ और मैं अकिञ्चिन हूँ मेरी और गति नहीं है इस लक्षण वचन से अकिंचन अगतिजन शरणागति का अधिकारो हैं। यहाँ पर गति शब्द मुमुक्षुत्वादिकों का उपलक्षण है कि अंकिञ्चन अनन्य गति सात्त्विक मुमुक्षु भगवत्प्राप्ति काम विरागवान् सार्ववर्णिक ज्ञानी अज्ञानी ये सब हरि शरणागति के अधिकारी हैं। इनके मध्य में सर्व धर्म के अनुष्ठान करने में असमर्थ कर्तृत्वादि अभिमान शून्य को अनन्य गति कहते हैं, श्रीहरि के अतिरिक्त अन्य साधन फल और सम्बन्ध लक्षण गति शून्य जो हो वह अनन्य गति हैं। इसमें अकिंचन अनन्य गति यह वचन प्रमाण है।

वेदान्तरत्नमंजूषा

मुमुक्षुत्वंच संसृतिमोक्षेच्छावत्त्वम्, मुमुक्षुर्वैशरणमहं प्रपद्ये, मुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेदितिमन्त्रवर्णात्। सात्त्विकत्वं भगवता गीतं सात्त्विकधृतिबुद्ध्या-दिमत्त्वं तत्र द्रष्टव्यं, सर्ववर्णादिसाधारण्यंच वैष्णवे और्वेणोक्तम्। वर्णाश्रमा-चारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्थाः नान्यत्तत्तोषकारणमिति। अज्ञसर्वज्ञसाधारण्यंच शौनकेनोक्तं जितमन्त्राख्याने, अज्ञसर्वज्ञभक्तानां गति-र्गम्योभवेदिति। किञ्च यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमित्यादिमन्त्राभ्यां

वेदमात्रार्थसंग्राहकाभ्यां ब्रह्मादिजनकत्वतदुपदेष्टृत्वसर्वबुद्ध्यादिप्रवर्त्तकत्वसर्वशरण्यत्वादिनिरूपणेन जगज्जन्मादिकारणं सर्ववेदान्तवेद्यश्चेतनाऽचेतनान्तरात्मा सर्वबुद्ध्यादिप्रवर्तकस्तत्प्रकाशको मुक्तप्राप्यो देवोऽस्याः प्रपत्तेः प्रतिपत्तव्यः ।

कुंचिका

मुमुक्षुत्वं निर्वक्ति । मुमुक्षुत्वञ्चेति । उक्तार्थं प्रमाणेन द्रढयति । मुमुक्षुरिति । सात्त्विकत्वं यदधिकारिणो विशेषणमुक्तं तं श्रीमुखवचनेन द्रढयति । सात्त्विकत्वमिति । सर्वव्यवहारासाधारणकारणभूतायाः बुद्धेः धृतेश्च गुणतस्त्रैविध्यमुक्तं तत्र सात्त्विकबुद्धिमाह । प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्येभयाभये वन्धं मोक्षञ्च यो वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी । अ० १६ । श्लोक ३० । धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी । अ० १८ । श्लोक ३३ । इत्यर्थः । यच्चोक्तं सार्ववर्णिकत्वं शरणागतिरधिकारिविशेषणं तं प्रमाणेन व्यवस्थापयति । सार्ववर्णादिरिति । श्लोकार्थस्तु प्राग्व्याख्यातः । अज्ञत्वं सर्वज्ञत्वमत्राधिकारिविशेषणमुपन्यस्तं तत्र मानमाह । अज्ञसर्वज्ञेति । कोवात्र त्रयाणां देवाना मध्ये प्रपत्तिविषय इतिजिज्ञासुमुपलभमानो ग्रन्थकारः सर्वकारणकारणं परात्परं पुरुषोत्तमं श्रीकृष्णं

भाषानुवाद

संसार से छूटने की इच्छावान् जन को मुमुक्षु कहते हैं। मुमुक्षु मेरी शरण होता है यह श्रुति उक्त अर्थ में प्रमाण हैं । सात्त्विक धृति वुद्धिसम्पन्न पुरुष को सात्त्विक कहते हैं। यह विषय गीता में निरूपण किया है वहाँ पर देख लेना चाहिये। शरणागति के अधिकारी सब वर्ण है इस विषय को श्रीविष्णुपुराण के वचन के द्वारा प्रामाणित करते हैं। वर्णाश्रमेति। वर्ण तथा आश्रम के धर्म को अनुष्ठान कर्ता पुरुष जो विष्णु भगवान् का आराधन करता है और वह मार्ग भगवान् के सन्तोष का कारण है। अज्ञ पुरुष तथा सर्वज्ञ पुरुष शरणागति के अधिकारी हैं। इस वार्ता को श्रीशोनकजी के वचन द्वारा प्रामाणित करते हैं। अज्ञइति। अज्ञ सर्वज्ञ और भक्तों की गति भगवान् है। चतुर्मुख की उत्पत्ति का कर्ता और ब्रह्मा को उपदेश करने वाला सर्व की बुद्धि का नियन्ता सर्व शरण्य जगत्कारण वेदान्तवेद्य चेतन अचेतन विश्व का अन्तरात्मा मुक्त प्राप्य श्रीवासुदेव श्रीकृष्णचन्द्र ही शरणागति का विषय है। यह विषय गायत्री की व्याख्या में कथन कर चुके हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

स च भगवान् कृष्णएवेति प्रतिपादितं तच्च पूर्वमेवगायत्रीव्याख्याने-

नोक्तम् । एवं श्रीकृष्णपदारविन्दादन्या साधनसाध्यसम्बन्धादिरूपा गतिर्जीवानां न संदृश्यते कुत्रापि श्रुत्यादिष्विति सिद्धम् । तस्य सर्वसाधनादिरूपत्वात् । ननु हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तत, विरञ्चो वा वजगद्विरचयति विदधातीति ब्रह्मा वाव विरञ्चः । एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च ।

कुंचिका

श्रुतिस्मृतिमानेन निर्णेतुमाह । विरञ्चत्यादिना, फलितार्थमाह । एवमिति हिरण्यगर्भ इति श्रुत्या सर्वप्रसिद्धया च एकत्वपूर्वकारणत्वप्रतिपादनाच्चतुर्मुख एकोः जगत्कारणमस्त्वित्याशङ्कते । नन्वेति । हिरण्यगर्भस्य चतुर्मुखस्य जगत्कारणत्वे श्रुतिमानमाह । हिरण्यगर्भइति । एकरुद्र इतिश्रुत्या शिवस्यैव जगत्कारणत्वं निश्चीयत इत्याशङ्कते । एको रुद्र इति ।

भाषानुवाद

इस पूर्वोपदर्शित कथन से यह सिद्ध हो चुका कि श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के चरणारविन्द के बिना साध्य साधन सम्बन्ध फल स्वरूप गति जीवों की नहीं हैं । अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सर्व भूतों का आदि कर्ता हिरण्यगर्भ ब्रह्मा सर्व के पहिले है उसका नाम विरञ्चि भी है क्योंकि वह सर्व जगत् का उत्पत्ति कर्ता है सृष्टि के पूर्व में देवताओं की उत्पत्ति का कारण एक अद्वितीय श्रीमहादेव ही था और सत् असत कुछ भी नहीं था एक केवल श्रीरुद्र ही रहा ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

न सन्नचासच्छिव एव केवलः । ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानामित्यादिना ह्यन्येषामपि जगत्कारणत्वाद्यैश्वर्ययोगश्रवणेन तेषामपि प्रपत्तव्यतारूपगतित्वसम्भवात् । किञ्च कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

कुञ्चिका

तत्र प्रमाणशङ्कायां श्रुति पठति । न सदिति, नसन्नचासच्छिव एव केवल इत्यन्यनिषेधपुरस्कारेण शिवस्य पूर्ववर्त्तित्वं केवलत्वञ्चोच्यते । तथैवहिरण्यगर्भस्याप्यवरत्वमपि हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानमिति । तस्यैव विश्वं प्रति कारणत्वं

भवत्वित्यर्थः। शिवस्य जगत्कारणत्वे मानमाह। ईशान इति। विधिशिवप्रतिपादकेषु पुराणेषु तयोरेवगतित्वमभिहितं जगत्कारणत्वञ्च कथं श्रीपुरुषोत्तमस्यैव गतित्वं निश्चिनुम इत्याह। ह्यन्येषामपीति। कर्मज्ञानादीनामुपायानां स्मृतिपुराणादिषु बोधनात् कथमुक्तं श्रीकृष्णादृतेऽन्यगतिर्जीवात्मनां नास्तीतीत्याह किञ्चेति। कर्मणैवेति। कर्मणा सहैव नतु कर्मत्यागेन ज्ञानित्वेन विख्याता जनकादयः ज्ञानस्य संसिद्धिं मोक्षाख्यामास्थिताः प्राप्ता इत्यर्थः। अत्र कर्मण उपायत्वं विहितम्। ज्ञानस्याप्युपायत्वमाह। नहि ज्ञानेनेति।

भाषानुवाद

इस अर्थ में हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं। उपदर्शित श्रुतियों में चतुर्मुख और श्रीमहादेवजी को जगत्कारण और ऐश्वर्य्य सम्पन्न कथन किया है इससे वे भी प्रपत्ति के विषय हो सकते हैं आपने केवल श्रीकृष्णचन्द्र को ही प्रपत्ति का विषय कैसे कथन किया कर्म और ज्ञान उपायों को भी स्मृतियों में प्रतिपादन किया है तब कैसे आपने कहा कि श्रीकृष्णचन्द्र साधन रूप हीं जीवों की गति है। उक्त अर्थ को श्रीगीताजी के वचन द्वारा प्रामाणित करते हैं कर्मणैवेति। श्रीजनकादिक कर्म के सहित ज्ञान के द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुवे इस वचन में कर्म को उपाय दिखाया। नहि ज्ञानेन सदृश इस वचन में ज्ञान को मोक्ष का साधन दिखाया है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा इत्यादिनोपायरूपगतेरपि दृश्यमानत्वात् कथमिव श्रीकृष्णादृतेरन्यगतेरभावत्वमिति चेत्तत्राह। ब्रह्मशिवादिवन्दितादिति। ब्रह्माशिवौ आदी येषां ते तथा तैर्वन्दितात् तेषां स्तुतिनमस्कारादिविषयभूतादिति यावत्।

कुंचिका

ज्ञानेन सदृशं पवित्रं पावनमिह जगति नहि विद्यत इत्यर्थः। ज्ञानरूपसाधनस्य फलं निर्वक्ति। ज्ञानाग्निरिति। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि प्रारब्धभिन्नानि पापपुण्यरूपाणि भस्मसात् कुरुत इत्यर्थः। विधिरुद्रेन्द्रादिभ्यः भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य परतमत्वं जगत्कारणत्वं श्रीकृष्णादृते रन्यगतेरभावत्वञ्च श्रुतिस्मृतिपुराणैः समर्थयति। तमेकमिति।

भाषानुवाद

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य्यचरण ब्रह्मा शिवादि वन्दितात् इस विशेषण के

द्वारा प्रदर्शन करते हैं। चतुर्मुख श्रीमहादेव देवता और ऋषिगण श्रीकृष्ण चरणारविन्दको वंदन करते हैं।

वेदान्तरत्नमंजूषा

यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोहं परमया स्तुत्या तोषयामीत्यादिश्रुतेः। तथाच वैष्णवे एते वयं वृत्ररिपुस्तथायं नासत्यदस्रौ वरुणस्तथैव इमे च रुद्रा वसवः ससूर्या समीरणाग्निप्रमुखास्तथान्ये सुरा समस्ताः सुरनाथकार्यमेभिर्मया यच्च तदीश सर्वं आज्ञापयाज्ञां प्रतिपालयन्तस्तथैव तिष्ठामः सदास्तदोषाः। अथसनत्सुजातः।

कुंचिका

उक्तार्थं श्रुतिप्रमाणेन द्रढयति। यं सर्वमिति स्पष्टम्। तमेकमिति। मुख्यं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम् श्रीवृन्दावने सुरभूरुहाः कल्पवृक्षास्तेषां तले आसीनम्। सततम्। अनवरतम्। मरुद्गणः सदेवगणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामीत्यर्थः। श्रीकृष्णचन्द्रो भगवान् देवतागणकर्तृकस्तुतिविषयः। अमुमर्थं विष्णुपुराणवचनेन द्रढयति। वैष्णवइति।

भाषानुवाद

सर्व देवगण मुमुक्षु और ब्रह्मवादि श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् को नमस्कार करते हैं। श्रीवृन्दावन के कल्पतरु के तले विराजमान सत्चित आनन्द विग्रह श्रीगोविन्द की मरुद्गण सहित मैं नित्य स्तुति करता हूँ यह श्रीगोपाल तापनी में कहा है। यह श्रुति उक्तार्थ में प्रमाण हैं। श्रीवृत्रासुर कहता है कि इन्द्र और ये अश्वनीकुमार वरुण रुद्र और वसु आदित्य अग्नि, वायु और समस्त देवता और मैं ब्रह्मा ये सब आपकी प्रार्थना करते हैं। जो कार्य हो उसकी आज्ञा दीजिये हम सब आपकी आज्ञा का पालन करते हुए सदा निरस्त दोष हम सब आपकी समीप में स्थित रहें।

वेदान्तरत्नमंजूषा

यदुक्तं महज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः तद्वै देवा उपास्यन्ते यस्मादर्को विराजते योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनं वैष्णवे अदितिः ब्रह्माद्याः सकलादेवा मनुष्याः पशवस्तथा विष्णुमायावर्त्तमोहांधतमसावृताः आराध्य त्वामभीप्सन्ते कामानात्मविशुद्धये तत्रैव बलभद्रः सेन्द्रैः रुद्राश्विवसुभिरादित्यैर्मरुदग्निभिः चिन्त्यसे त्वमचिन्त्यात्मन् समस्तैश्चैव योगिभिः।

उक्तार्थं सनत्सुजातवचनेनापि द्रढयति । यदुक्तमिति ।

श्रीभारत के उद्योग पर्व में श्रीसनत्सुजात कहते हैं कि अत्यन्त प्रकाशमान महान् ज्योतिस्वरूप श्रीभगवान् निज धाम में विराजमान है। जिसका यश जगत् में फैला हुआ है उसकी सब देवता उपासना करते हैं । वह एक जगत्कारण है, जिसके प्रकाश से सूर्य प्रकाश करता है उस सनातन भगवान् को योगिजन देखते हैं। विष्णुपुराण में, श्री अदितिजी का वचन है कि ब्रह्मादिक देवता मनुष्य और पशु ये सब विष्णु की माया रूप महावर्त में पड़े हुए हैं। मोह रूप महा अन्ध से आवृत हैं। हम सब वांछित फल की इच्छा करते हुए अपनी आत्मा की शुद्धि के लिये आपकी आराधना करते हैं। विष्णुपुराण में श्रीवलभद्रजी की यह उक्ति है कि आपका स्वरूप अचिन्त्य है इन्द्र सहित सब देवगण और योगी आपका ध्यान करते हैं।

वेदान्तरत्नमंजूषा

तत्रैव नागपन्त्यः ज्ञातोऽसि देवदेवेश सर्वज्ञस्त्वमनुत्तमः । नसमर्थाः सुराः स्तोतुं यमनन्यभवं विभुम् । तत्रैव कालियः ब्रह्माद्यैरर्च्यते दिव्यैर्यश्चपुष्पानुलेपनैः नन्दनादिसमुद्रभूतैः सोऽर्च्यते वा कथं मया । तत्रैव यमःअहममरगणार्चितेन धात्रा यम इत्यादि सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः । कस्माच्चतेन नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे । स्वस्तित्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिरिति श्रीभगवद्गीतायाम् अर्ज्जुनः ! राजधर्मे वैशम्पायनः—ततस्ते व्यास सहिताः सर्व एव महर्षयः । ऋग्यजुः सामसंयुक्तैर्वचोभिः कृष्णमर्चयन् । नारायणीये श्रीकृष्णः । ऋषिभिर्ब्रह्मणाचैव विबुधैश्च तत्रैवेति विष्णु पुराणे पं० अं० अ०७ श्लोक ४२ ।

कुञ्चिका

ज्ञातोऽसीति । न विद्यते उत्तमो यस्मादनुत्तमः । देवदेवेश इति । देवानामिन्द्रादीनां देवा उत्कृष्टाः चतुर्मुखरुद्रास्तेषामीशः नियन्ता श्रीपुरुषोत्तम इत्यर्थः । अनेन भगवतोविधिशिवादिभ्यः परतमत्वं वोध्यते । तत्रैवेति । विष्णुपुराणे पं० अ०अ० । श्लोक ६६ । विधिशिवादिपूज्यत्वमाह । ब्रह्माद्यैरिति । तत्रैव यम इति तृ० अं० । अ० ८ । श्लोक १५ । अहममरगणार्चितेनेति । धात्रा ईश्वरेण हिताहिते हितप्रवर्त्तने अहितनिवर्त्तने च । अत्राप्यमरगणार्चितेनेतिविशेषणेन चतुर्मुखादिपूज्यत्वोक्त्या विष्णुरेव

देवतानां गतिरिति ध्वनितम्। लोकहिताहिते, इत्यनेन च न वैष्णवानां प्रभुरिति-स्फोरितम्। नियुक्तइत्युक्त्या स्वस्य पारतन्त्र्यमुक्तं भवतीतिभावः । उक्तार्थं श्रीमुखवच-नेनापि द्रढयति । सर्वे नमस्यन्तीति । सिद्धानां, तपोमन्त्रादिसिद्धिप्राप्तानां सङ्घाः समूहाः नमस्यन्तीत्यर्थः।

कस्मादिति। हे महात्मन् ते तुभ्यं महर्षिसिद्धसङ्घाः कस्मान्ननमेरन्। नमस्कारं न कुर्युः। कथम्भूताय ते ब्रह्मणोहिरण्यगर्भस्यापि गरीयसे गुरुतमाय आदिकर्त्रे ब्रह्मणोऽपि जनकाय हे अनन्त त्रिविधपरिच्छेदशून्य, देवेश. सर्वदेवाधीश, जगन्निवास सर्वचेतनाचेतनजगदाश्रय, इत्यर्थः। स्वस्तीति। महर्षिसङ्घा जगद्विनाशायनिमितानि वक्त्राण्यग्निज्योतिषिमहोल्कानीवोपलक्ष्य जगतः स्वस्तिभूयादित्युक्त्वा सर्वलोकरक्षणाय त्वां पुष्कलाभिर्महदर्थयुक्ताभिः स्तुतिभिर्भगवन्माहात्म्यप्रतिपादिकाभिर्वाग्भिः स्तुवन्तीत्यर्थः। श्रीवेदव्यासप्रमुखैर्निखिलमाहर्षिभिश्चतुर्भिर्वेदवचनै रर्च्यत्वं श्रीकृष्णएवार्च्यते इति।

भाषानुवाद

विष्णु पुराण में नागपत्नियोंजी ने कहा कि हे देव हे देवेश तुमको जाना तुम से उत्तम दूसरा कोई नहीं है आपकी स्तुति करने में देवता गण भी समर्थ नहीं हैं आपका कारण कोई नहीं है तुम व्यापक हो। वहाँ पर श्रीकालियनाग ने कहा सब देवता नन्दन वन के दिव्य पुष्प और चन्दनादि के द्वारा आपकी पूजा करते हैं। मैं आपकी सेवा कैसे कर सकता हूँ विष्णु पुराण में धर्मराज ने कहा कि देवगण करके अर्चित जो श्रीहरि उन्होंने मेरे को लोको के हित और अहित विचार करने के लिये नियुक्त किया सब सिद्धों के संघ तुझको नमस्कार करते हैं। इससे सिद्ध हो चुका कि चतुर्मुख प्रभृति देवगण से पूज्य भगवान् है वह देवताओं की गति है,लोक के हित और अहित की निवृत्ति में मेरे को नियुक्त श्रीहरि ने किया इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि मैं सर्वथा परतन्त्र हूँ। और जगत् सब चतुर्मुख से गुरुतर हो और आदि कर्ता हो अतएव स्वस्ति अर्थात् मङ्गल हो ऐसे उच्चारण करते हुये महर्षि और सिद्धों के समूह तुम्हारा स्तुति करते हैं। यह श्रीमद्भगवत् गीता में श्रीअर्जुन का वचन है। राज धर्म में वैशम्पायन ने कहा कि श्रीवेदव्यास सहित सर्व महर्षि ऋगादि वचनों के द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् का अर्चन करते हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

सुपूजितः । उवाच देवमीशानमीशः स जगतोहरिरित्यादिस्मृतिभ्यश्च आदिना श्रीसनत्कुमारनारदकश्यपादिमुनीन्द्रादयो गृह्यन्ते। तत्र ब्रह्मा ओंनमो-

विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे। विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दायनमो नमः। इत्यादि मन्त्रेभ्यः। अथ वैष्णवे सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृतागुणाः। सशुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु।

कुञ्चिका

वैशम्पायनवचनेन द्रढयति। राजधर्मेइति। उक्तार्थेश्रीकृष्णस्यवाक्यमुदाहरति। नारायणीय इति। उक्तवचनैः श्रीकृष्णस्य ब्रह्मशिवादिवन्दितपदत्वं समर्थितमेतावता प्रबन्धेनेतिभावः। ब्रह्मशिवादिवन्दितपदादित्यत्र यदादिपदमुपन्यस्तं तं व्याचष्टे। आदिनेति चतुर्मुखेन वन्दितो भगवानित्याह। तत्रब्रह्मेति। तेषु।

प्र ६ अं० अ० ६। श्लोक ४४

सत्त्वादय इति सत्त्वादिप्राकृतगुणशून्यत्वम् अतः सर्वभूतेभ्यः शुद्धइत्यर्थः।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तत्रैव नमामः सर्वं सर्वेशमनन्तमजमव्ययम्, लोकधामधराधारमप्रकाशमभेदिनम्। यत्र सर्वं यतः सर्वमुत्पन्नं सत्पुरःसरम् सर्वभूतश्चयोदेवः पराणामपि यःपरः॥

नमामीति सर्वं सर्वरूपं सर्वेशं, सर्वेश्वरञ्च अव्ययमपक्षयादिविकाररहितम् लोकधामधराधरं लोकानां पृथिव्यादीनां धाम्नामण्डानां धराणां प्रभाववतामिन्द्रादीनामाधारम्। इन्द्रादीनां प्रभावो यदाश्रय इत्यर्थः, अप्रकाशम् सर्वस्य न प्रकाशम्। नाहं प्रकाशः सर्वस्येति श्रीमुखवचनात। अभेदिनम् भेदानर्हमित्यर्थः। प्र० अं० अ० ६ श्लोक ४०॥

भाषानुवाद

श्रीनारायणीय आख्यान में श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के वचन हैं कि चतुर्मुख समस्त ऋषि और देवताओं से पूजित सब जगत् ईश श्रीहरि ने श्रीशिवजी के प्रति कथन किया है। उपदर्शित श्रुति स्मृति वचनों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका कि श्रीकृष्णचन्द्र भगवान ही सबों की गति है। शिवादि इस श्लोक में आदि पद से श्रीसनत्कुमार नारद कश्यप अदिति और इन्द्र आदिकों का ग्रहण हैं। ब्रह्मा का वचन यह है कि तुम विश्व रूप हो विश्व की उत्पत्ति स्थिति संहार के कारण विश्व के ईश्वर गोविन्द को नमस्कार है। विष्णु पुराण में श्रीब्रह्माजी का वचन है सत्त्वादय इति। प्रकृति के गुण रजोगुण तमोगुण ये ईश्वर में नहीं रहते हैं। अतः सर्वभूतों से शुद्ध श्रीहरि हैं।

कुंचिका

यत्र सर्वमिति अ० अं। अ० ६ श्लोक ४२॥ यत्रैति यच्छब्दानां स आद्य पुमान् प्रसीदत्वितितृतीयेनान्वयः यत् सर्वं विश्वमुत्पन्नं प्रादुर्भूतम् अनेन जगत्कारणत्वमुक्तं भवति पराणामक्षरादीनामपि यः परः पुरुषः तथाश्रुतिः इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परइत्यर्थः।

भाषानुवाद

सब रूप सर्वेश्वर सर्व नियन्ता और जन्म नाश विकार शून्य श्रीहरि है। और पृथिवी धाम=सर्व ब्रह्माण्ड इन्द्रादि देवतागणों का आधार है। श्रीहरि का प्रकाश सबों को नहीं होता है अभेदिनम्=भेद के अनर्ह है श्रीहरि में जगत है। जगत् की उत्पत्ति का कारण सबों से उत्कृष्ट भगवान् हैं। योगिजन और मुमुक्षु उसको चिन्तन करते हैं उसको नमस्कार है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

योगिभिश्चिन्त्यते योऽसौ मुक्तिहेतुर्मुमुक्षुभिः। पुनस्तत्रैव नमोनमस्तेऽस्तु सहस्रमूर्ते सहस्रबाहो बहुवक्त्रपाद। नमोनमस्ते जगतः प्रवृत्तिविनाशसंस्थानकराऽप्रमेयः। तत्रैवासुरजिताः। आराधनाय लोकानां विष्णोरीशस्य यां गिरम्

कुश्चिका

परः परस्मात पुरुषात् परमात्मस्वरूपधृक् इति योगिभिरित्यस्य पूर्वार्द्धम्।

अस्यार्थः पर इति। तस्मात् परस्मादव्यक्तात् तत्प्रेरकात कारणात्मनः पुरुषादपि य. परः यतः परमात्मैव स्वरूपधृक् मूर्तिधारी अतएव योगिभिश्चिन्त्यते योऽसाविति।

भाषानुवाद

भगवान् के हजार मूर्ति और हजार भुजा बहुत मुखचरणारविन्द है। और जिसके द्वारा जगत् की उत्पत्ति स्थिति संहार हो जाता है। विष्णु पुराण में कहा है कि जगत् के ईश्वर श्रीविष्णु भगवान् के आराधन के लिये जिस बाणी को मैं कथन करूँगा उस वाणी के द्वारा सब के आदिम भगवान् प्रसन्न हों।

वेदान्त-रत्न-मञ्जूषा

वक्ष्यामो भगवानाद्यस्तथाविष्णुः प्रसीदतु। यतो भूतान्यशेषाणि प्रसूतानि महात्मनः। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति कस्तंस्तोतुमपीश्वरः। पुनस्तत्रैव

यस्य प्रसादादहमच्युतस्य भूतः प्रजासृष्टिकरोऽन्तकारी क्रोधाच्चरुद्रः स्थितिहेतुभूतो यस्माच्चमध्ये पुरुषः परस्तात् अथ हरिवंशे नृसिंह-चरित्रे, भगवन् वेद विश्वात्मा पुरुषः शाश्वतोध्रुवः । नमो वृषभध्वजाय इतिमन्त्रवर्णात् हरिवंशे वाणबन्धने-कृष्णकृष्णमहाबाहो जाने त्वां पुरुषोत्तमम् । लोकानां त्वं गतिः देव त्वत्प्रसूतमिदं जगत् । वन्देऽहं त्वां जगन्नाथ जगतामीश्वरं हरिम् ॥ तत्रैव कैलासयात्रायाम् । यत्तत्कारणमाहुस्त्वां साङ्ख्याः प्रकृतिसंज्ञकम् त्रिधाभूतं जगद्योनि प्रधानं कारणात्मकम् पुनस्तत्रैव । नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय वेधसे यस्य भासा जगत्सर्वं भासते नित्यमच्युत अथ ।

कुंचिका

स्पष्टम् ।

भाषानुवाद

जिस भगवान् से सर्वभूतो की उत्पत्ति और प्रलय होता है उस भगवान को कौन स्तुति कर सकता है । जिस भगवान के अनुग्रह से मैं सृष्टि का कर्ता ब्रह्मा हुआ जिसके क्रोध से जगत् के संहार कर्ता श्रीमहादेवजी हुये श्रीहरि पुरुष रूपो से जगत् का पालन करते हैं ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

सनकादयोहरिवंशे, अस्तुवन् भक्तिनम्रास्तं सनकाद्या मुनीश्वरा जयदेव जगन्नाथ भूतभावन भावन । नताःस्म भूतादीनामादिदेवमजं जनित्रं सकलस्य जन्तोः । परावरेशं वरदं वरेण्यं नमोनमः सत्यपते जगत्पते । वैष्णवे च, जयेश्वराणां परमेश केशव प्रभो गदाशङ्खवरासिचक्रधृक् । प्रसूतिनाशस्थिति हेतुरीश्वरस्त्वमेव नान्यत् परमं च यत्पदम् । हरिवंशे नारदः । नमः कृष्णाय हरये वेधसे भूतधारिणे । देवदेव जगन्नाथ नमस्ते चक्रधारिणे ।

कुंचिका

स्पष्टम् ।

भाषानुवाद

हरिवंश में नरसिंह स्तोत्र में कहा है कि सांख्य और योग में तत्त्व अर्थ में परिनिष्ठावाली जो बुद्धि होती है उसको हे भगवन् आप जानते हो, क्योंकि आप सर्व के

आत्मा परिपूर्ण सदा एक रस निश्चल हो। श्रीहरि को शिव वृषभध्वज नमस्कार करते हैं। हरिवंश में बाणासुर बन्धन के प्रकरण में, हे कृष्ण! हे कृष्ण!! हे महाबाहो!!! तुमको मैं पुरुषोत्तम जानता हूँ, आप ही जगत् की उत्पत्ति और गति हों। आप ही इस जगत् के स्वामी और नियन्ता हो, मैं आप को वन्दन करता हूँ, कैलाशयात्रा में कहा कि जिस हरि को जगत् का कारण प्रकृति कहते हैं त्रिविध जगत् के अभिन्न निमित्तोपादान तुम ही हो। जगत् के कर्ता वासुदेव हैं, जिसके प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है। हे अच्युत! तुमको नमस्कार है। भक्तिपूर्वक श्रीसनकादि श्रीहरि की स्तुति करते हैं कि सर्व भूतों के आदिकारण जन्मादि विकार रहित और सबके जनक सबके ईश सबों को वरदाता जगत् और सत्य के पति हो, आपको नमस्कार है। विष्णु पुराण में, हे ईश हे केशव शङ्ख गदा खड्ग चक्रधारी हे ईश्वर जगत् की उत्पत्ति स्थिति नाश के कारण श्रीहरि हैं आपकी स्तुति हम सब करते हैं। श्रीहरिवंश में, श्रीनारदजी का वचन है दुःखों के हर्ता भक्तों के धारण कर्ता देवों के देव जगन्नाथ चक्रधारी श्रीकृष्णचन्द्र को नमस्कार है।

वेदान्तरत्नमंजूषा

नम ॐ ङ्काररूपाय त्रिरूपाय विष्णवे सोऽसि देव जगन्नाथ यो दृष्टो ब्रह्मवादिभिः यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते योगिनो यतचेतसः। वैष्णवे। प्रल्हादः नमस्ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते पुरुषोत्तम नमोऽस्तु विष्णवे तस्मै नमस्तस्मै पुनः पुनः यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वः सर्वसंश्रयः। तत्रैव ध्रुवः भूतादीनां समस्तानां गन्धादीनां च शाश्वतः। बुद्ध्यादीनां प्रधानस्य पुरुषस्य च यः परः। तं ब्रह्मभूतमात्मानमशेषजगतः परम् प्रपद्ये शरणं शुद्धं त्वद्रूपं परमेश्वर तत्रैव प्रचेतसः।

कुञ्चिका

सर्वात्मत्वं सङ्क्षेपतः स्मरन् प्रणमति ओंमिति यत्र सर्वं प्रलये तस्मै नमः यतः सर्वं सृष्टौ तस्मै नमः। यः सर्वं स्थितौ पुनः तस्मै नमः अतएव तस्य यः संश्रय आधार आत्मा तस्मै नमः इत्येवं नमस्यावस्थाभेदात् नमस्कारावृत्तिरित्यर्थः।

भाषानुवाद

ओंकार स्वरूप और वेदत्रयी रूप सर्व व्यापनशील हो, इस प्रकार ब्रह्मवादी आपको देखते हैं। जिस श्रीहरि को प्राप्त होय के फिर लौट के योगी संसार में नहीं

आते हैं,विष्णुपुराण में श्रीप्रल्हादजी का वचन है। हे पुण्डरीकाक्ष हे पुरुषोत्तम तुमको बार बार नमस्कार है सर्व जगत् के कारण और सबके आधार सर्व रूप आपको नमस्कार है, विष्णुपुराण में श्रीध्रुवजी का बचन है,पृथिवी आदि सकल महाभूतऔर गन्धादि और पुरुष प्रधान इनसे परे हो सकल जगत् के आत्मा हो। और ब्रह्मस्वरूप शुद्ध हो, ऐसे आपके स्वरूप को मैं शरणागत होता हूँ। विष्णु पुराणमें प्रचेताओं का वचन।

वेदान्तरत्नमंजूषा

नताःस्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती। तमाद्यं तमशेषस्य जगतः परमं विभुम् तत्रैवादितिः। नमस्ते पुण्डरीकाक्ष भक्तानामभयङ्कर। प्रणेतर्मनसो बुद्धिरिंद्रियाणां गुणात्मकः। हरिवंशे कश्यपः ओं नमो भगवते वासुदेवाय ओंप्रणवात्मने सपक्षग नमोऽस्तुते। वैष्णवे सोमः। पारं परं विष्णुमपारपारः परः परेभ्यः परमार्थरूपी स ब्रह्मपारः परपारभूतः परः पराणामपि पारपारः।

कुंचिका

नता स्म इति। वि० अं०।१। अ० १४। श्लोक। २३।

जगद्वितततया तंनत्वा चित्ररूपतया ततः शुद्धरूपप्रमाणेन दृष्टो विष्णुः प्रचेतसाम्। तत्र प्रथमं जगत्कारणतया प्रणमन्ति, नताःस्मेत्यादि। वचसां यत्र प्रतिष्ठा सम्बन्धः। वाच्ये हि वचसां प्रतिष्ठा प्रवृत्तिनिमित्तमात्रं हि सर्वं वस्तुजातं वचसां न-तु प्रधानतया वाच्यम्। यथा गुणजात्यादिकम् आद्यन्तं करोतीत्याद्यन्तम्। अतएव परमञ्च प्रभुञ्चेत्यर्थ.। प्रणेत इति। प्रणेताकर्ता। गुणात्मकः। कल्याणगुणात्मकः। बुद्धेरिन्द्रियाणाञ्च प्रणेतृत्वं स्मर्यत। सपक्षगइति। पक्षेन सह गच्छतीतिसपक्षगः भक्तानां पक्षपातीत्यर्थः। यद्वा सपक्षग गरुडगामी।

पार परमिति। पारं परं संसाराध्वनः। परं पारम्। अतः "सोऽध्वनः पारमाप्नोति यमध्वनः परमुशन्ति योगिनः" इतिश्रुतिपुराणाभ्याम् यद्वा परंपरया गुरुसम्प्रदायाविच्छेदेनोपदेश्यं रहस्यं वस्तु। यथाच्छान्दोग्ये। 'तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः" इति। एवं परम्पराप्राप्तमिदं राजर्षयो विदुः इति। च। अपारपारः। पारं तीरकर्मसमाप्ताविति धातोः यद्वक्तुं नैवपार्यत इत्यादौ शक्यार्थे प्रयोगदर्शनाल्लक्षणया पारः शक्तिः। अपारपारः। अनन्तशक्तिरित्यर्थः। "परास्यशक्तिर्विविधैवश्रूयते इतिश्रुतेः यद्वा पारं यस्य नास्ति सोऽपारपारः, अपरिमितप्रमाण इति वन्निर्देशः। न ते विष्णोः जायमानो न जातो देवमहिम्नः परमं तमाप इति श्रुतेः। अथवा अपार-

स्यासमाप्तस्यापूर्णस्य यज्ञादिकर्मणः पारः स्वकीर्तनस्मरणादिना पारयिता समापक-पूरको "वा विष्णुवै यज्ञस्य दुरिष्ठं पाति" इत्यादि "विदुः कृष्णं ब्राह्मणास्तत्वतो ये तेषां राजन् सर्वयज्ञाः। समाप्तः सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव" इत्यादि च। परः परेभ्यः कारणत्वनिरतिशयानन्दत्वादिना परेभ्यः ब्रह्मादिभ्यः परः परमार्थरूपी ब्रह्मादिवन्नविनाशिविग्रहः अपितु सर्वशक्त्याश्रयपरमार्थदिव्यविग्रहः। परप्रयोजनानन्दस्वरूपो वा ब्रह्मपारः ब्रह्मणः प्रधानस्य पारः। अवसानभूमिः। आर्षोलिङ्गव्यत्ययः यद्वा स ब्रह्मणः स वेदान् वैदिकान् पारयतीतिः स ब्रह्मपारः ग्लयोरभेदः परपारभूतः। प्रधानापेक्षया परः समष्टिपुरुषः तस्य पारभूतः। प्रधानपुंसोरजयोः कारणम्। उभावेतौ लीयते परमात्मनि "इतिच दर्शनात्। यद्वा परेषां परस्परभिन्नानां वस्तूनां पारभूतः। असंकरकृन्मर्यादाभूतः। एष सेतुर्विधारणमितिश्रुतेः। परः पराणां परेभ्यो नित्यमुक्तेभ्यः नित्यमुक्तत्वजगद्योनित्वांशित्वादिभ्यः परः। पारपारः सर्वहेतुभूतः कालस्यापि पारः अवसानभूमिः। कालं स पचते इति यद्वा पुरकाणां व्योमादिविभुद्रव्यादीनां पारः पूरयिता पृपालनपूरणयोरितिधातोः। णिजन्तात्पचाद्यच्। तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमिति। अथवा पालानां पालः रलयोरभेदः। एष हीदं। सर्वं गोपायतीति। नहि पालनसामर्थ्यमृते सर्वेश्वरता,हरेरित्यर्थं।

भाषानुवाद

विष्णु पुराण में प्रचेताओं के वचनों.का सव बचनों का नित्य सम्बन्ध श्रीहरि में है और सर्वं जगत् के आदि कारण सर्व के आदि सबके प्रभु और सर्व से परम श्रेष्ठ आप ही हो आपको नमस्कार है। विष्णु पु० अदितिजी का कथन हैं कि हे पुण्डरीकाक्ष हे भक्तो को अभय प्रदान करने वाले और मन बुद्धि इन्द्रियों के नियन्ता कल्याण गुणों का आश्रय श्रीहरि को नमस्कार है। हरिवंश में श्रीकश्यपजी का वचन प्रणव स्वरूप भक्त पक्ष पाती गरुड़गामी वा श्रीवासुदेव भगवान् को नमस्कार हैं। विष्णु पुराण में चन्द्रमा का वचन संसार मार्ग से पार श्रीहरि है और प्रकृति पुरुष से पर है जिसका पारावार नहीं हैं। अर्थात अनन्त शक्तिमान् है चतुर्मुखादि को से भी पर, उत्कृष्ट है परमार्थ स्वरूप श्रीहरि है। ब्रह्मपारः=चतुर्मुख के अवसान भूमि है। परपार भूत=। प्रधान की अपेक्षा से पर समष्टिपुरुष उसके पारभूत है अर्थात प्रकृति पुरुष के कारण है। परः परणामिति। नित्य मुक्तो से भी श्रीहरि पर है। पार पार इति। सर्व के कारण जीवकालादि उन्हों के भी अवसान भूमि श्रीहरि हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तत्रैवेन्द्रः। सकलभुवनसूतेर्मूर्त्तिरम्या तु सूक्ष्मा सकलविदितवेदैर्ज्ञायते यस्यनान्यैः। तमजमकृतमीशं शाश्वतं स्वेच्छयैनं। जगदुपकृतिमर्त्यं को विजेतुं समर्थः। तत्रैव पृथिवी। त्वामाराध्य परं ब्रह्म याता मुक्तिं मुमुक्षवः। वासुदेवमनाराध्य को मोक्षं समवाप्स्यति राजधर्मे। धर्मपुत्रः। नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिन्दम। त्वमेकमाहुः पुरुषं त्वामाहुः सात्वतां पतिम्। योनिस्त्वमस्य प्रलयश्चकृष्ण त्वमेव चेदं सृजसि विश्वमग्रे विश्वञ्चेदं त्वद्वशे विश्वयोने नमोऽस्तुते शार्ङ्गचक्रासिपाणे॥ हरिवंशे दुर्वासाः।

कुंचिका

त्वामाराध्येति। वि० पु० अ० अं० ४ श्लोक १८ दिवोकसामपि मुमुक्षुणामपि त्वमेव भजनीय इत्याह त्वामिति एवं परं सर्वेभ्य उत्कृष्टं ब्रह्मपुरुषोत्तममाराध्य,मुक्तिं प्राप्ताः व्यतिरेकेणाह वासुदेवमिति अनेन वासुदेवस्यैव मोक्षप्रदत्वमुक्तं भवतीत्यर्थः। जगदुत्पत्तिस्थितिलयकर्तृत्वं श्रीपुरुषोत्तमकृष्णस्यैवेत्याह योनिस्त्वमिति।

भाषानुवाद

विष्णुपुराण में इन्द्र की स्तुति है कि सकल भुवन की उत्पत्ति का कारण श्रीहरि का दिव्य मंगल विग्रह अति रमणीय सूक्ष्म है। उसको सकल वेदवेत्ता जानते हैं और कोई नहीं जान सकते हैं। जन्म विकार शून्य सर्व का ईश्वर सदा एक रस श्रीहरि अपनी इच्छा से लोवो के उपकारार्थ प्रकट होते हैं, उसको कोई भी पराजय नहीं कर सकता है। वहाँ पर पृथिवी का वचन परब्रह्म तुमको आराधन कर मुमुक्षु पुरुष मुक्ति को प्राप्त होते हैं। आपके आराधना के बिना किसी भी पुरुष की मुक्ति नहीं होती है। राजधर्म में श्रीयुधिष्ठिरजी का वचन यह है कि हे कमलनयन! बारम्बार आप शत्रुओं का नाश करते हो तुमका नमस्कार है। परम पुरुष और यादवों के पति आपको कहते हैं, जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय के कर्ता तुमही हो, हे विश्वयोने! हे धनुष चक्र खड्गधारी! यह सकल जगत् आपके आधीन है तुमको नमस्कार है। हरिवंश में दुर्वासाजी का वचन है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

वेदान्ते प्रथितं तेजस्तच्चेदं विचार्यते। ये च विज्ञानतृप्तास्तु योगिनो

वीतकल्मषाः पश्यन्ति हृत्सरोजे हि तवैवेदं वपुः प्रभो। वेदैर्यद्गीयते तेजो ब्रह्मेति प्रतिपाद्यते। तदेवेदं विजानेऽहं रूपमैश्वरमीश्वर। तत्रैव परशुरामः विष्णो कृष्ण हृषीकेश वासुदेव जनार्दन। जगदादि जगत्पूज्य जगदीश महेश्वर। कृष्ण सर्वस्य लोकस्य शृणु मे नैष्ठिकं वचः। तत्रैव देवी—जाने त्वां सर्वभूतानां स्रष्टारं पुरुषोत्तमम्। पद्मनाभं हृषीकेशं लोकानामादिसम्भवम् नाऽहंसे देव हन्तुं वै वाणमप्रतिमं रणे। प्रयच्छ ह्यभयं वाणे जीवपुत्रत्व मेव चेति। मोक्ष धर्मे उशनाः। नमस्तस्मै भगवते देवाय प्रभविष्णवे। यस्य पृथ्वीतलं तात साकाशं बाहुगोचरे वैष्णवे पराशरः। अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने। सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे राजधर्मे भीष्मः। नमस्ते भगवन्विष्णो लोकानां निधनोद्भव। त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्त्ता चाऽपराजितः। विश्वकर्मन्नमस्तेस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव। अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थित इति॥

कुञ्चिका

कारणत्वाविधानतः प्रसक्तं विकारित्वं निरस्यति अविकारायेति अनेनाचेतनाद्व्यावृत्तिः। न जायते म्रियत इति श्रुतेः। प्रत्यगात्मनोऽपि समानमविकारित्वमिति तद्व्यावृत्तिमाह शुद्धायेति। शुद्धिः क्लेशकर्मादिराहित्यम् अशुद्धास्तेसमस्तास्त्विति हि वक्ष्यति। ईदृशी शुद्धिर्मुक्तस्याप्यस्तीति तद्व्यावृत्तिमाह नित्यायेति। शुद्धत्वाकारेण नित्याय अविकारित्वशुद्धत्वनित्यशुद्धत्वादीनि नित्यसूरीणामपिसाधारणानीत्यत आह। परमात्मनइति। परो यस्मान्नास्ति सपरमः। अपराधीननियन्तृतया सर्वस्य व्यापनादात्मानित्यसूरयस्तेन परवन्तः।

अतोपदचतुष्टयेन प्रधानाद्यचेतनब्रह्मरुद्रादिभ्यो व्यावृत्तं परमस्वरूपं शोधितम्। अथज्ञानशक्त्यादिवदसाधारणं तद्वदेव सर्वविलक्षणं स्वानुरूपं ज्योतिर्मयमादित्यवर्णं 'हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते विद्युतः पुरुषादधि" इति उपनिषत्सिद्धं स्वरूपमाह "सदैकरूपरूपायेति प्रथमोरूपशब्दः स्वभाववाची। द्वितीयरूपशब्दो विग्रहवाचकः। सर्वव्याप्तिलक्षणमैश्वरं गुणं ख्यापयन्विशेष्यं निर्दिशति। विष्णवइति। चिदचिद्व्याप्त्या प्रसक्तं दोषं परिहरति सर्वजिष्णवइति अं० १। अ० २। ७। जयो हि परस्य स्ववशे स्थापनं ताच्छील्यप्रत्ययेन व्याप्तिजयौस्वाभाविकावितिदर्शयतीत्यर्थः।

भाषानुवाद

वेदान्त में विस्तृत रूप से तेज का प्रतिपादन किया है। विचार करने से यह

निश्चित् होता है कि वह तेज श्रीहरि का ही है। जिन योगिजनों का पाप दूर होगया अतएव अनुभव जन्य ज्ञान से तृप्त हो गये हैं वे, योगिजन हृदय कमल में आपके दिव्य मंगलविग्रह को साक्षात देखते हैं। हे प्रभो! बेदों ने जिस तेज को गायन किया है और ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन किया है वह रूप आपका ही है, हे ईश्वरेश्वर ऐसा मैं जानता हूँ। हरिवंश में श्रीपरशुरामजी का वचन है, हे विष्णो! हे कृष्ण! हे हृषीकेष! हे वासुदेव। हे जनार्दन! हे जगत् के आदि! हे जगत्पूज्य! हे जगदीश! हे महेश्वर! हे श्रीकृष्ण! आप सर्वलोक के स्वामी हो, मेरे यथार्थ वचन को श्रवण कीजिये। हरिवंश में देवी का वचनहै, सर्वभूतो के रचयिता पुरुषोत्तम है, मैं इस प्रकार तुमको जानती हूँ जिसके नाभि कमल से चतुर्मुख उत्पन्न हुआ और इन्द्रियगण के नियन्ता सब लोकों के आदि कारण हो आप बाणासुर को मारने के योग्य नहीं हो, मेरे पुत्र को जीवनदान देकर अभय कीजिये। मोक्ष धर्म में शुक्राचार्य का वचन प्रभावशाली प्रकाश स्वरूप भगवान को नमस्कार है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

ननु नमस्ते शितिकण्ठाय नीलग्रीवाय वेधसे इत्यादिभि श्रीभगवता कृतस्यापि शिवस्तवस्य प्रसिद्धत्वात् कथं ब्रह्म शिवादिवन्दनीयः श्रीकृष्ण एवेति, नान्य इति चेन्न। एतस्याः शङ्कायास्तत्रैव शिवेनैव निराकृतत्वादेव तथाहि श्रीभगवति तपस्यति सति इन्द्रादयो देवाः सर्वे महर्षयश्च तेन संशयेन ग्रस्ताः सन्तस्तत्रगत्वा तपस्तपन्तं शिवार्चनादिकुर्वन्तं श्रीभगवन्तं दृष्ट्वा परम विस्मयं प्राप्ताः इत्याह वैशम्पायनस्तत्रैव। तत इन्द्र स्वयं तत्र आरुह्य गजमुत्तम्।

कुञ्चिका

नमस्ते शितिकण्ठाये त्यादिवचनैः श्रीविष्णु कर्तृका स्तुतिः रुद्रस्य कचित् श्रूयते अतः शिवस्यैवपरत्वं वक्तव्यं तथा सति ब्रह्मशिवादिवन्दितत्वं भगवतो विरुद्धेतेति शङ्कते,नन्विति तादृशशङ्कानिरसनाय तत्रत्यामाख्यायिकां दर्शयति तथाहीत्यादिना

भाषानुवाद

श्रीपराशर के वचन वि० पु० परमात्मा शुद्ध नित्य और विकार रहित सदा एक रस व्यापनशील सर्व के जय करने वाले हैं। राजधर्म में श्रीभीष्म का वचन है हे भगवन्! हे विष्णो! जगत के कर्ता लोको की उत्पत्ति नाशकर्ता इन्द्रियों के नियामक शत्रु सब के संहार कर्ताओं को जय कर्ता विश्व के करने वाले विश्व के आत्मा तुमको

नमस्कार है, प्राकृत इन्द्रियों के विषय श्रीभगवान् नहीं हैं। श्रीहरि ही सब प्राणियों की मोक्ष हैं। यहाँ पर यह शङ्का उपस्थित होती है कि श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने श्रीमहादेवजी की शितिकण्ठ नील ग्रीव को नमस्कार इत्यादि स्तोत्र के द्वारा स्तुति करी है और पुत्रोत्पत्ति के लिये श्रीमहादेव का आराधन भी उन्होंने किया, यह कथा हरिवंश में कैलाश यात्रा प्रकरण में प्रसिद्ध है,इससे शिव परम उपास्य हैं कैसे आपने कहा कि कृष्ण के बिना और गति नहीं है। इस शंका का निवारण उस ही प्रकरण में श्रीमहादेवजी ने स्वयं किया है। वह यह है कि जब भगवान् तप करने लगे तब इन्द्रादि देवतागण और महर्षि गणों के हृदय में बड़ा संशय हुआ उसको दूर करने के लिये जहाँ पर भगवान् तप करते रहे वहाँ पर देवतागण गये और देखा कि श्रीशिव का आराधन श्रीहरि कर रहे हैं। यह कथन वैशम्पायन का राजा जन्मेजय के प्रति है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

द्रष्टुं सर्वेश्वरं विष्णुं तपस्यन्तं समाययौ। ततो यमस्तु भगवानारुह्य महिषं वरम् किन्नरैश्च स्वयंसाक्षादाययौनगमुत्तमम् प्रचेता हंसमारुह्य वारुणैश्च समन्वितः। श्वेतच्छत्रसमायुक्तः श्वेतव्यजनवीजितः। ययौ कैलाशशिखरं द्रष्टुं केशवमञ्जसा अन्येचापि तथा देवा आदित्या वसवस्तथा। रुद्राश्चैव तथा राजन् द्रष्टुं केशवमाययुः। सिद्धाश्च मुनयश्चैव गन्धर्वायक्षकिन्नराः। पर्वतोनारदश्चैव, तथान्ये मुनिसत्तमाः। विस्मयास्थितलोलाक्षाः सर्वे देवगणास्तथा। आश्चर्यं खलुपश्यध्वं न भूतं न भविष्यति। योगिध्येयः स्वयं कृष्णो यक्षत्यति गुरुः स्वयमिति। पुनश्च शिवागमनस्तवनादेः पश्चात्तेषां भगवद्विषयकासम्भावना विपरीतभावना बाहुल्ययोगं दृष्ट्वा श्रीभगवताऽन्यपूजनादेरयथार्थत्वम्" अन्यैश्च भगवत्पूजनादेर्याथात्म्यं दर्शयँस्तेषामसम्भावनादिनिवृत्तये प्रथमं भगवन्तं शिवः स्तौति। इत्याह वैशम्पायनः। इत्युक्त्वा पुनराहेदंयाथात्म्यं दर्शयन्निव। मुनीनां श्रोतुकामानां याथात्म्यं तत्र सत्तमः।

भाषानुवाद

ऐरावतहस्ति पर चढ़ के देवताओं का राजा इन्द्र तप में स्थित भगवान् को देखने के लिये कैलाश में आया। किन्नरगण सहित यमराज और वरुण आदित्य वसु प्रभृति देवगण श्रीकेशव भगवान् के दर्शन करने के लिये वहाँ पर उपस्थित हुये सिद्ध किन्नरगधर्व पर्वत मुनि श्रीदेवर्षि श्रीनारद और मुनि श्रेष्ठ कैलाश में श्रीहरि के दर्शनार्थ

आये ये सब विस्मय युक्त होके बोले कि यह बड़ा भारी आश्चर्य है कि जो पूर्व में न हुआ न होगा कि सब योगियों के ध्येय जगद्गुरु भगवान् तप करते हैं, पश्चात् श्रीशिवजी प्रगट हुये उन्हों की स्तुति श्रीहरि ने की उसको देख के जब देवतागणों के मन में असंभावना विपरीत भावना उत्पन्न हुई, तब उन्हों के विपरीत भाव को श्रीमहादेवजी ने जाना देवतागण और ऋषि मुनिगणों की विपरीत भावना की निवृत्ति करते हुये, श्रीमहादेवजी ने श्रीभगवान् की स्तुति करी। इस वार्ता को वैशम्पायन कहते हैं।

वेदान्तरत्नमंजूषा

अंजलिं संपुटं कृत्वा विष्णुमुदिश्य शङ्करः। उमया सार्द्धमीशानो याथात्म्यं वक्तुमैहत। हरेकुर्वति तत्रैवमंजलिं कुरुसत्तम। मुनयो देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सहकिन्नरैः। अंजलिं चक्रिरे विष्णौ देवदेवेश्वरे हरौ मयि अंजलिवद्धे एतैरप्यंजलि कृता। मया स्तूयमाने भगवति तेषां शंसयादिनिवृत्तिः स्वतएव भविष्यतीतिनिश्चित्य स्तौति महादेवो भगवतः पुरुषोत्तमत्वं प्रकाशयन् यत्तत्कारणमाहुस्तत्साङ्ख्याः प्रकृतिसंज्ञकमित्यारभ्य नमस्करोमि सर्वात्मन्नमस्तेऽस्तु सदा हरेइत्यन्तेन स्तोत्रेण। किंचैवमपि तेषामसम्भावनाद्यनिवृतिं दृष्ट्वा तन्निवृत्तये मुनीनुपदिष्टवान्। इत्युक्त्वा देवदेवेशं मुनीनाह पुनः शिवः। एवं जानीत हेविप्रा ये भक्ता द्रष्टुमागताः एतदेवपरं वस्तु नैतस्मात्परमस्ति वः। एतदेव विजानीध्वमेतद्वः परमं तपः। एतदेव सदा विप्रा ध्येयं सततमानसैः। एतद्वः परमं श्रेयः एतद्वः परमं धनम्। एतद्वो जन्मनः कृत्यमेतद्वस्तपसः फलम्।

भाषानुवाद

पार्वती के सहित श्रीमहादेवजी अपने दोनों करकमलों की अञ्जलि कर भगवान् को उद्देश कर भगवत्तत्त्व को यथार्थ प्रकाश करने की इच्छा करी। श्रीशङ्कर की अञ्जलि को देख के मुनि देव गन्धर्व सिद्ध किन्नर इन सबों ने भी अञ्जली करी। श्रीशङ्करजी का यह अभिप्राय रहा कि मैं जब श्रीहरि की स्तुति करूँगा तब इन्हों का संशय स्वतः निवृत्त हो जायेगा, यह निश्चय करके श्रीमहादेवजी ने श्रीभगवान् की स्तुति करी श्रीशङ्कर श्रीपुरुषोत्तम को प्रकाश करने लगे कि साङ्ख्याचार्य श्रीहरि को प्रकृति अर्थात् जगत्कारण कहते हैं। यहाँ से आरम्भ कर हे सर्वात्मन् में आपको नमस्कार करता हूँ इत्यन्त स्तोत्र के द्वारा श्रीमहादेवजी ने श्रीहरि की स्तुति करी। तब भी देवगण की असंभावना

की निवृत्ति नहीं हुई, उसकी निवृत्ति के लिये श्रीमहादेवजी ने मुनि गण को साक्षात् उपदेश किया, कि हे विप्रा जिस श्रीहरि के दर्शनार्थ आप सब आये हो वह परात् पर वस्तु श्रीकृष्णचन्द्र है, इससे परे कोई वस्तु नहीं हैं। परम इसको ही तुम जानो यह तुम्हारा तप है हे मुनिगण एकाग्रमन होके अनवरत इन्हीं का ध्यान करना चाहिये यह श्रीहरि तुम्हारा परम श्रेय और परमधन परम फल है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

एष वः पुण्यनिलय एष धर्मसनातनः। एष वो मोक्षदाता च एषमार्ग उदाहृतः। एतदेव प्रशंसन्ति विद्वांसो ब्रह्मवादिनः एष ब्रह्म विदां मार्गः कथितो वेदवादिभिः। एवमेव विजानीत नात्र कार्या विचारणेति अध्यायेन शिवमुखादेव श्रीभगवतो निरतिशयपरत्वश्रेयोरूपत्व तप आदिकर्मफलत्व पुण्याधिष्ठानत्व मोक्षप्रदातृत्व मोक्षसम्प्रदायप्रवर्तकत्वादियोगं श्रुत्वा नष्टसंशयविपर्य्यया बभूवुरित्याह वैशम्पायनः। एवमुक्ता स्ततः सर्वे मुनयः पुण्यशालिनः। यथावदुपगृह्णाना निरसन् संशयं नृप। एवमेवेति। तं विप्राः। प्राहुः प्राञ्जलयो हरम्। छिन्नो नः संशयः सर्वो गृहीतार्थः स तादृशः। एतदर्थं समायाता वयमद्य तवालयम्। सङ्गमाद्युवयोः सर्वो नष्टो मोहो महानिह यथाह भगवान् रुद्रोयतामः सततं हरौ।

भाषानुवाद

श्रीहरि के स्थान सनातन धर्म और मोक्ष के दाता शास्त्र प्रमाण के द्वारा प्रतिपाद्य हैं। विद्वान् ब्रह्मवादी श्रीहरि की प्रशंसा करते हैं, ब्रह्मवादियों ने श्रीहरि को ब्रह्म वेत्ताओं का मार्ग कथन किया, इन्हीं को ही परम तत्त्व तुम जानो इसमें संशय नहीं करना इस प्रकार एक अध्याय के द्वारा श्रीमहादेवजी ने अपने मुखारविन्द से निरतिशय परत्व श्रीकृष्णचन्द्र का वर्णन किया है। उनको ही परश्रेय स्वरूप तप आदि को का फल और पुण्य का आश्रय मुक्ति के दाता मोक्षसम्प्रदाय के प्रवर्तक कहा है, भगवान का परतमत्व सुन के मुनिगण और देवताओं का संशय दूर हुआ, यह सम्वाद श्रीवैशंपायन ने राजा जन्मेजय से कहा कि इस प्रकार श्रीशिवजी के उपदेश को श्रवण कर सकल मुनिगण और देवताओं ने भगवत तत्त्व को यथार्थ ग्रहण कर संशय परित्याग किया, वे सब अञ्जलि कर श्रीशिवजी से कहने लगे कि अब हमारा संदेह निवृत्त

हुआ और भगवद्विषयक यथार्थ तत्त्व को जाना, इस ही प्रयोजन से आपके स्थान में हम सब आये थे, आपके सङ्ग से हमारा मोह नष्ट हुआ, आपने जो आज्ञा करी उसका हम सब पालन और भगवान् के विषय में यत्न करेंगे।

वेदान्तरत्नमंजूषा

इति ते मुनयः प्रीताः प्रणेमुः केशवं हरिमिति किञ्च तेषामसम्भावनादि निवृत्तावपि विष्णुरूद्रयोः साम्यबुद्धे स्तादवस्थ्यं ज्ञात्वा द्वितीयस्तोत्रेण श्रीभगवतो निरस्तसाम्यातिशयत्वं विवृण्वँस्तं निराकरोति इत्याह वैशम्पायनः ततः स भगवान् रुद्रः सर्वान् विस्मापयन्निव स्तुत्या प्रचक्रमे स्तोतु विष्णु विश्वेश्वरं हरिम् अर्थ्याभिः श्रु तियुक्ताभिमु नीनां शृण्वतां तदा। नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय धीमहि यस्य भास' जगत्सर्वं भासते नित्यमच्युत इत्यारभ्य भूयो भूयो नमस्तेऽस्तुपाहि लोकान् जनार्द्दन इत्यन्तेनस्तोत्रेण स्तोत्रफलकथनेनाप्यु पदिष्टवान्। ये चेमं धारयिष्यन्ति स्तवं पापविमोचनम तेषां प्रीतः प्रसन्नात्मा पठतांशृण्वतां हरिः श्रेयो दास्यति धर्मात्मा नात्र कार्या विचारणा ॥ अवश्यं मनसा ध्यातः केशवं भक्तवत्सलम्। श्रेयः प्राप्तु यदिच्छन्तो भवन्तः संशितव्रता इति।

भाषानुवाद

मुनिगण सकल देवता प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण भगवान् को प्रणाम करने लगे। श्रीकृष्ण विषय में असंभावना विपरीत भावना नष्ट हो गई। परन्तु श्रीकृष्ण और मेरे में इन्हों की साम्य बुद्धि है ऐसा श्रीशिवजी ने अपने मन में विचार किया कि उन्हों की साम्य बुद्धि के दूर करने के लिये श्रीशिवजी ने द्वितीय स्तोत्र के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र का अतिशय साम्य शून्य महात्म्य वर्णन किया, जिससे मुनि और देवताओं की श्रीकृष्णचन्द्र श्रीशिवजी में बराबर बुद्धि थी उसकी निवृत्ति करी, यह प्रसंग वैशंपायनजी कहते हैं कि उसके अनन्तर श्रीशिवजी सर्व देवता और मुनिगण को आश्चर्य कराते हुये सबों को श्रवण कराने के लिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को पुन स्तुति का श्रीशिवजी ने आरम्भ किया। भगवान् वासुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ, इन्हों का ही ध्यान मैं करता हूँ जिन्हों की भासा के द्वारा यह समस्त जगत्‌ प्रकाशित होरहा है, इस श्लोक के द्वारा और अन्त में यह कहा कि बार बार आपको मैं नमस्कार करता हूँ पश्चात् स्तोत्र की फलस्तुति में यह उपदेश किया कि इस पाप मोचन स्तोत्र को धारण

जो करेगा उस पर भगवान् प्रसन्न होंगे श्रोता और पाठकों को मुक्ति की प्राप्ति होयगी। इसमें विचार नहीं करना यदि तुम अपना कल्याण चाहो तो भक्त वत्सल श्रीकृष्णचन्द्र जी का ध्यान कीजिये इस प्रकार श्रीशिवजी के बारंबार उपदेश से मुनियों का संशय नष्ट हुआ कृतार्थ हुये।

वेदान्त-रत्नमंजूषा

एवमुपदेशपौनःपुण्येन निःशेषनष्टसंशयादिकास्तेकृतार्था बभूवुरित्याह ततस्ते मुनयः सर्वे परांनिर्वृत्तिमाययुः। तमेव परमं तत्वं मत्वा नारायणं हरिम्। विस्मयं परमं गत्वा मेनिरे स्वकृतार्थतामिति। तस्मात् कैलासयात्राख्यानं श्रीभगवतो निरतिशयविषयकमेवेति बोध्यम्। किञ्च दानधर्मेऽपि श्रीकृष्णस्य साम्यातिशयशून्यत्वं शिवेनैव निर्णीतम्। ऋषीन् प्रति पितामहादेः पितरः शाश्वतः पुरुषो हरिः। कृष्णो जाम्बुनदाभासी व्यभ्रः सूर्यइवोदितः॥ श्रीवत्साङ्को हृषीकेशः सर्वदैवतपूजितः। ब्रह्मातस्योदरभव स्तथाहञ्च शिरोभवः। सर्वज्ञः सर्वसंश्लिष्टः सर्वगः सर्वतोमुखः। परमात्मा हृषीकेशः सर्वव्यापी महेश्वर न तस्मात् परमंभूतं त्रिषु लोकेसु किञ्चनेत्यादि। किञ्च नारयणीयेऽप्याख्यानेऽर्जुन।

कुंचिका

कैलासयात्राख्यानेन भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य विधिशिवादिभ्यः परमतत्वं तेभ्योऽर्चनीयत्वं वन्दनीयत्वञ्च सिद्धिमिति निगमयति तस्मादिति नारायणीयोपाख्यानेनाप्युक्तार्थं द्रढयति। किञ्चेति।

भाषानुवाद

यह कथा वैशम्पायन ने जनमेजय के प्रति कथन की, पश्चात् सब मुनिगण सब देवता परम आनन्द को प्राप्त हुये, और श्रीकृष्णचन्द्र को परमतत्त्व निश्चय कर अपने को कृतार्थ मानने लगे। इस कथा के द्वारा यह सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् निरतिशय परतत्व और उन्हीं के सम अन्य नहीं है। और दान धर्म में भी श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं भगवान् का साम्यातिशून्य ऐश्वर्य वर्णन शिवजी ने ऋषियों के प्रति किया है। वह यह है कि श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ब्रह्मादि को का पिता सदा एकरस सदा पूर्ण और भक्तों के दुःख हर्ता सुवर्ण से अधिक देदीप्यमान कान्तिमान है। और

मेघ रहित आकाश में सूर्य के समान उदय जिनों का है। और श्रीवत्स का चिन्ह आपके वक्षस्थल में विराजमान है। इन्द्रियों के नियामक सब देवताओं के पूज्य श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् हैं जिनों के उदर से चतुर्मुख और मैं उनों के मस्तक से उत्पन्न हुआ। और सर्वज्ञ सर्व का आधार सर्वत्र विद्यमान सर्वत्र उन्हों का मुखारविन्द है। और सर्वत्र व्यापक सबों से बड़े श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् है, उन्हों से अधिक कोई न हुआ न होगा इत्यादि निरूपण दान धर्म में हैं। और नारायणीय उपाख्यान में श्रीअर्जुन के प्रश्न का समाधान श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने स्वयं किया है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

इममेव संशयं श्रीकृष्णं पृष्ट्वा तन्मुखेनैव निर्णयं कारयामास। तथाहि भवान् सर्वेश्वरः सर्वसेव्यो जगत्कारणभूतः। कस्माद्रुद्रमपूजयदिति पृष्टे श्रीकृष्ण उवाच। अहमात्माहि लोकानां विश्वानां पाण्डुनन्दन। तस्मा-दात्मानमेवाग्रे रुद्रं सम्पूजयाम्यहम्। यद्यहं नार्चयेएनमीशानं वरदं शिवम्, आत्मानं नार्चयेत् कश्चिदिति मे भावितात्मनः। मयाप्रमाणंहि कृतं लोकस्त-दनुवर्त्तते। इति सञ्चित्य मनसा पुराणं रुद्रमीश्वरं पुत्रार्थमाराधितवानहमात्मा-नमात्मना। नहि विष्णुः प्रणमति कस्मैचिद् विबुधाय च। ऋते आत्मान-मेवेति ततोरुद्रं भजाम्यहम्। सब्रह्मकाः सरुद्राश्च सेन्द्रा देवा महर्षयः। अर्च-यन्ति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम्। भविष्यतां वर्तताञ्च भूतानांचैव भारत। सर्वेषामग्रणीर्विष्णुः सेव्यः पूज्यश्च नित्यशः। इति। एतदुक्तं भवति रुद्रस्य पूजायामात्मानमेवाहमपूजयं नतु रुद्रम्। ममविष्णोर्विश्वात्मत्वात् शिवस्यापि विश्वान्तःपातित्वेन मदात्मकत्वाविशेषात् विश्वस्मिंश्च मदात्मीये व्याप्ये च मम व्यापकत्वात् लोकसंग्रहार्थं तत्र तत्र स्वात्मानमेव पूजयामि, तदेव व्यनक्ति ह्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां श्रीविष्णुरात्मानम् ऋतेऽन्यं न प्रणमतीति व्यतिरेकः सब्रह्मकाः।

कुंचिका

उक्तार्थं स्पष्टयति एतदुक्तं भवतीत्यादिना यत् उक्तं तत्। एतद्भवतीत्यर्थः।

भाषानुवाद

अर्जुन का प्रश्न आप सर्व के कारण सर्वेश्वर सब जगत के पूज्य हो, आपने श्रीरुद्र का आराधन क्यों किया, उसका उत्तर श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने दिया है कि

हे पाण्डव ! मैं सब भूतों का आत्मा हूँ अतएव श्रीरुद्र का भी आत्मा मैं हूँ, रुद्र की पूजा प्रवृत्ति के लिये लोक संग्रहार्थ मैंने रुद्र का आराधन किया मेरे कर्त्तव्य को सब प्रमाण मानते हैं, इससे पुत्र के उद्देश से मैंने रुद्र पूजा की सकामी जनों का श्रीरुद्र पूजा में अधिकार है, मुमुक्षु पुरुषों का अधिकार नहीं इस वार्ता को प्रसिद्ध करने के लिये मैंने सकामियों का अनुकरण किया। और रुद्र की पूजा में मैंने अपनी पूजा करी रुद्र की नहीं क्योंकि रुद्र मेरा आत्मीय है। विष्णु भगवान् अपने बिना अन्य को नमस्कार नहीं करते हैं। और ब्रह्मा रुद्र और इन्द्र सहित सब देवता सब ऋषि भगवान् को आराधन और प्रणाम करते हैं। यह अन्वयव्यतिरेक द्वारा अतिशय साम्य शून्य ऐश्वर्य श्रीकृष्णचन्द्र भगवान का निरूपण किया श्रीभगवान् जो अन्य देव का आराधन करें तो देवताओं के अन्तर्यामी श्रीहरि है इसकी पूजा करते हैं अन्य देवता की नहीं करते हैं, और नर लीला मात्र मे अन्य पूजा लोक संग्रह के अर्थ हैं जैसे नारदादि महर्षि की पूजा है यह सिद्धान्त हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

सरुद्राःसेन्द्राः सर्वर्षयश्च सर्वे देवाः श्रीविष्णुं प्रणमंति अर्चयन्ति,तस्य सर्व श्रेष्ठत्वेन, अतिशयसाम्यानर्हत्वेन च सर्वपूज्यत्वादित्यन्वयः । तस्माद्भगवतान्य-पूजनं लीलामात्रं लोकसंग्रहार्थत्वात् । नारदादिपूजावदिति सिद्धान्तः । ननु यद्येवं तर्हि लोकसङ्ग्रहार्थ मेव तदन्यभक्तैरपि अवश्यं करणीयतया प्राप्तमितिचेन्न श्रुतिस्मृतिनिषिद्धत्वात् । अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मि न स वेद यथा पशुः । यो वै स्वां देवतामतिजयति परस्वायै देवतायै च्यवते न परां प्राप्नोति पापीयान् भवति तमेवैकं विजानथ आत्मानमन्यावाचो विमुञ्चथ इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

कुञ्चिका

भगवत्कर्तृकशिवपूजनं नरलीलामात्रं लोकसंग्रहार्थत्वादित्युपपादयन्नुपसं-हरति। तस्मादिति। यदि लोकसङ्ग्रहार्थमेव तत्र भगवतः प्रवृतिः तदाप्रपन्नानामपि तदर्थं शिवपूजनमवश्यमनुष्ठेयमितिप्राप्तमितिशङ्कते । नन्विति । अनन्यभक्तैर्नैत-दभिधेयंश्रुतिस्मृतिनिषिद्धत्वादितिपरिहरति। नेति ॥ अनन्यभक्तानां श्रीपुरुषोत्तम व्यतिरिक्तदेवतोपासननिषिद्धत्वमिति दर्शयितुं श्रुतिं पठति अथ योऽन्यामितिश्रुत्यर्थ-स्तूपरिष्टात्स्वयं वक्ष्यति।

भाषानुवाद

यहाँ पर यह शंका होती है कि यदि लोक संग्रहार्थ श्रीभगवान् ने श्रीरुद्र की आराधना करी, तब अनन्य भक्तों को भी श्रीरुद्र का पूजन करना चाहिये, इस शङ्का का समाधान् यह है, कि अनन्य भक्तों को अन्य देव का आराधन नहीं करना चाहिये क्योंकि वह श्रुति और स्मृति के द्वारा निषिद्ध हैं । अथयोऽन्या देवतेति इस श्रुति का अर्थ ग्रन्थकार ने स्वयं दिखलाया है वह यह है कि सर्वेश्वर शास्त्रैक प्रतिपाद्य जगत् कारण मोक्ष दाता श्रीपुरुषोत्तम से अन्य ब्रह्म रुद्र इन्द्र आदि देवताओं की उपासना इस प्रकार से करते हैं, ये ब्रह्म रुद्रादि देवता अन्य है ईश्वर इन्हों से भिन्न हैं मैं जीव भी देवताओं से पृथक् हूँ, इस भाव से जो उपासना करते हैं वह तत्त्व को नहीं जानते हैं, वह पुरुष पशु के समान हैं जो मनुष्य अपने इष्टदेव का आराधन नहीं करके अन्य देवताओं का आराधन करते है. वह परतत्व को प्राप्त नहीं होते प्रत्युत अत्यन्त पाप युक्त होते हैं, तुम एक भगवान् को ही जानो अन्य वाणी को छोड़िये यह श्रुति उक्त अर्थ में प्रमाण हैं। जब अन्य विषयक वानी निषिद्ध है और यह जो अन्य देव विषयक ध्यान अर्चनादि निषिद्ध है यह तो कहना ही क्या है, यह कह कैमुत्य न्याय सूचनार्थ उक्ति श्रुति में बाक शब्द का प्रयोग किया है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति तस्यतस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् । स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते । लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् । अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्। देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपीति भगवद्वचनात् तस्मात् ।

कुञ्चिका

उक्तार्थं श्रीमुखवचनेनापि द्रढयति । योयोइति। अन्यदेवताभक्तानां मध्ये यो यो भक्तः यां यां तनुं देवतामूर्तिं श्रद्धया अर्चितुमिच्छति तदर्थं प्रवर्त्तते तस्य तस्य कामिनो भक्तस्य तामेवदेवताविषयां श्रद्धां पूर्ववासनानुरूपामचलां दृढं विदधामि साधयामि तत्रैव नियोजयामि, नतु स्वविषयां श्रद्धां कारयामीत्यर्थः। सतयेति स कामी भक्तस्तया मद्विहितयादेवताविषयया श्रद्धया युक्तस्तस्यादेवतातन्वाराधनमीहते करोति ततो देवतातन्वाः सकाशात्कामानभिलषितान् विषयान्पूर्वसङ्कल्पितान् लभते च मयैव-विहितानिति । सर्वकर्मफलद्रव्यदात्रा तत्तद्देवताऽन्तर्यामिणा मयैव विहितांस्तदनुरा-

धनानुसारं निर्मितान् नहि देवतानां स्वातन्त्र्येण फलदाने शक्तिः। हिप्रसिद्धमेतच्छास्त्रे। कर्माध्यक्षः 'सर्वभूताधिवास' इति वेदे "एकस्त्वमस्य लोकस्य स्रष्टा संहारकस्तथा ; अध्यक्षश्चानुमन्ता च गुणमायाविवर्जितः" लोकयात्रा प्रसिद्ध्यर्थं। सृष्टब्रह्मादिरूपिणे।

भाषानुवाद

उक्त अर्थ को श्रीमुख के वचन द्वारा भी प्रमाणित करते हैं। योय इति जो जो भक्त श्रद्धा पूर्वक अन्य देवता के अर्चन में प्रवृत्ति होते हैं। उन सकामी भक्तो की तत्तत्देव विषयक श्रद्धा को पूर्ववासना के अनुसार मैं दृढ़ करता हूँ ? देवतान्तर का भक्त सकामी उस देवता का श्रद्धा से आराधन करता है, उसको फल की प्राप्ति मेरे द्वारा ही होती है। देवतान्तर भक्त मन्दप्रज्ञ है, उन्हों को जो फल प्राप्त होते हैं, वह फल कुछ काल में नष्ट होजाते है। देवताओं के भक्त देवता को प्राप्त होते हैं मेरे भक्त मेरे को प्राप्त होते हैं। इससे सिद्ध हो चुका कि देवान्तर के आराधन से भगवान् का आराधन अत्यन्त श्रेष्ठ हैं।

वेदान्तरत्नमंजूषा

समस्तशक्तीनामाधारे तत्र चेतसः। कुर्वीत संस्थितिं सा तु विज्ञेया शुद्धधारणेति भगवतो विष्णोर्ध्यानविषयत्वं विधाय, अन्ये च पुरुषव्याघ्र चेतसो ये व्यपाश्रयाः अश्रद्धास्ते समस्तास्तु देवाद्याः कर्मयोनय इति वैष्णवपुराण-वचनाच्च। अस्यार्थः यः पुमान् श्रीभगवतः सर्वेश्वरात् शास्त्रयोनेर्जगज्जन्मादि-कारणान्मोक्षदातुः पुरुषोत्तमादन्यां ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिरूपां देवतामुपास्ते। उपा-सनप्रकारमाह। असौ ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिः देवोऽन्य ईश्वरः अहमन्योजीव इतिभावेन स न वेद तत्त्वतो न जानाति।

कुंचिका

इज्याफलात्मने तुभ्यमित्यादिसात्वततन्त्रे। सकलफलप्रदो हि विष्णु" रित्यादिशास्त्रे भगवत एव फलप्रदत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः। अन्तवत्त्विति। तुशब्दो महद्विशेषं दर्शयति। अल्पमेधसां मन्दप्रज्ञत्वेन तत्वविवेचनेऽकुशलानां तेषां तत्तद्देवताभक्तानां तदेव विशेषाराधनजंफलमन्तवद्विनाश्येवभवति देवयजस्तानेवान्तवतः कालविद्रुतान् देवान् यान्ति। मद्भक्तास्तु अपिशब्दात्प्रथमंमत्प्रसादात्कामानपि प्राप्नुवन्ति पश्चात्मद्भजनप्रभावान्निष्कामा भूत्वा मामनन्तस्वरूपगुणमहिमानं यान्ति प्राप्नुवन्ति अतःसकामा अपि मद्भक्ता अन्यदेवताभक्तवन्न संसरन्तीतिमहान्विशेष इत्यर्थः।

निखिलकल्याणसागरस्य श्रीपुरुषोत्तमस्यैव भक्तिर्विधेया नान्यस्येति बोधयन्नु-पसंहरति तस्मादिति। देवतान्तराराधनापेक्षया श्रीभगवदाराधनस्य निरतिशयत्वादेवे-त्यर्थः। अथ योऽन्यां देवतामितिप्रागुदाहृतस्यार्थमाह अस्यार्थ इत्यादिना।

वेदान्तरत्नमंजूषा

तेषां भगवदाराधनजन्यप्रसादलभ्यपरिच्छिन्नैश्वर्यवत्त्वेऽपि सर्वेश्वरत्व जगत्कारणत्वसर्वनियन्तृत्वमोक्षप्रदातृत्वाद्ययोगेन निरतिशयैश्वर्याश्रयत्वाभा-वेन च जीवत्वाविशेषात्। तथाह श्रीपराशरः। अशुद्धास्ते समस्तास्तु देवाद्या कर्मयोनय इति। तत्र दृष्टान्तः यथा पशुरिति ज्ञानहीनत्वात् ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समाना इति वचनात्। स्वां देवतां स्वेनार्चनीयां विश्वात्मभूतां श्रीपुरुषोत्तमाख्यां अतियजति परस्यै देवतायै ब्रह्मरुद्रादिरूपायै भगवन्तमतिक्रम्य निरीश्वरं यजति स पापीयान् पतिदेवताया युवत्याः स्वपतीतरदर्शनादिवत्। पातिव्रतभङ्गलक्षण-दुःसहमहदपराधत्वात्। तस्य तत्फलमाह च्यवते। न परां प्राप्नोति स्वधर्मादनन्यवैष्णवत्वरूपाद् हीयते। श्रीपुरुषोत्तममप्राप्य संसरतीत्यर्थः। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततोयान्त्यधमां गतिमितिभगवदुक्तेः॥ अन्यदप्यन्वय-व्यतिरेकवाक्यमाह तमेवैकमिति।

भाषानुवाद

अतः सकल शक्ति के आधार श्रीपुरुषोत्तममे मन की संस्थिति करनी चाहिये उसको शुद्ध धारणा कहते हैं, हे पुरुषव्याघ्र श्रीभगवद् व्यतिरिक्त देवतान्तर में मन स्थिति को अशुद्ध धारणा कहते हैं यह वचन विष्णुपुराण का है। 'योऽन्यां देवतामुपास्ते' इस श्रुति का अर्थ यह है कि जो पुरुष श्रीपुरुषोत्तम से भिन्न चतुर्मुखादि देवता की अराधन करते हैं वह पुरुष ज्ञानहीन होने से पशु के समान हैं। और वह पुरुष अन्य देवता के आराधन से पापीयान् होता है, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति से भिन्न पुरुष को देखती है उसका पतिव्रत भङ्ग हो जाता है। तद्वत् उसकी अनन्यता भङ्ग हो जाती है। और अपने वैष्णव स्वरूप से च्युत हो जाता है, श्रीहरि को प्राप्त न हो कर संसारी हो जाता है। वह जन मेरे को प्राप्त न होके अधमगति को प्राप्त होता है यह श्रीमुख का कथन है। तमेकमेव विजानीत यह श्रुति भी उक्त अर्थ में प्रमाण है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तच्छब्दो वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मात्ममदादिशब्दाभिधेयं परब्रह्मभूतं भगवन्तमभिदधाति एवैकशब्दौ साम्यातिशयव्यवच्छेदकपरौ । अन्या अन्यदेवताविषया वाच इति । यद्यप्यन्यविषया वागपि निषिद्धत्वेन हेया तर्हि अन्यविषयध्यानार्चनादिकं हेयमिति किं वक्तव्यमितिकैमुत्यन्यायपरोऽयं वाक्शब्दः । तद्भवत्यल्पमेधसामित्यल्पमेधःशब्दोऽपि पशुशब्दवज्ज्ञानहीनत्वविधायकः । स्पष्टमन्यत् । किञ्च "आलिङ्गनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम् । न सङ्गःशल्ययुक्तानां नानादेवोपसेविनामित्यादिवचनादन्यदेवोपासकानां सङ्गोपि महान्निषिद्धः किंपुनस्तदुपासनमित्यलं विस्तरेण । तत् सिद्धं ब्रह्मादिवन्दितचरणारविन्दः श्रीपुरुषोत्तम एवेति । ब्रह्मशिवादिसेव्यत्वे हेतुमाह । अचिन्त्यशक्तेरिति । इयत्तावच्छेदेन चिन्तयितुं योग्याः चिन्त्या तर्कगोचरेति यावत् । न चिन्त्या तर्कागोचराशक्तिर्यस्य सोऽचिन्त्यशक्तिस्तस्मात् ।

भाषानुवाद

तमेकमेवश्रुतिमेनिवष्टतच्छब्दका अर्थ वेद प्रसिद्ध ब्रह्म भगवान् है और एक शब्द का अर्थ यह है कि भगवान् के समान और उन्हों से अधिक दूसरा कोई नहीं है। यहाँ पर वाक् शब्द कैमुत्यन्याय का प्रदर्शक है। सर्प का तथा सिंह का आलिङ्गन और जल जन्तु ग्राहादिको के आलिङ्गन को मैं श्रेष्ट मानता हूँ, परन्तु शल्य युक्त नाना देवता के उपासक जनों का सङ्ग करना नहीं चाहिये, क्योंकि सर्प आदिकों के सङ्ग से देह पात मात्र दुःख होता है, और अन्य देव उपासक को सङ्ग से चौरासी लाख योनि की प्राप्ति रूप दुःख भोगना पड़ता है अतः सर्प के सङ्गसे अन्य देवता के उपासक के सङ्ग में अत्यन्त भेद हैं। इन वचनों से यह सिद्ध हो चुका कि अन्य देवताके उपासकोंका सङ्ग जब निषिद्ध है अन्य देवता की उपासना सर्वथा परित्याज्य हैं। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म शिव आदिकों से वन्दित श्रीपुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र ही उपास्य है। अब चतुर्मुख शिव आदि के सेव्य भगवान् हैं इसमें हेतु प्रदर्शन करते हैं। अचिन्त्य शक्ते रिति। श्रीहरि की शक्ति अचिंत्य है अर्थात् भगवान की इतनी ही शक्ति है ऐसा चिन्तन नहीं कर सकते हैं वह तर्क के अगोचर हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

उपलक्षणञ्चैतज्ज्ञानैश्वर्यादीनाम् । स्वरूपवद्यावदात्मभाविविचित्रा

अपरिच्छिन्ना असङ्ख्याताः स्वाभाविक्योऽघटघटनापटीयस्यः शक्तयः ज्ञानादयश्च यस्य स तथा तस्मादिति । "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाचेत्यादि श्रवणात् शक्तयः सर्वभावनामचिन्त्याज्ञानगोचराः । शतशो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याभावशक्तयः ।

कुंचिका

सर्वभावनामिति सर्वेषां भावानां मणिमन्त्रादीनां शक्तयः वह्नेरोषण्यमिवस्वाभाविक्यः शक्तयः तर्कैरचिन्त्याः अतो ब्रह्मणोऽपि । परास्य शक्तिरितिश्रुतिसिद्धा जगत्सर्गादिनिमित्तभूता भावशक्तयः स्वाभाविकसामर्थ्याः सन्ति अतोलौकिककर्तृत्ववैलक्षण्येऽपि सर्गादिकर्तृत्वं युक्तम् । सर्गाद्या इति सृज्यतेऽनयेतिसर्गः । अकर्तरि च कारके इति करणे घञ् सृष्ट्यादिकारणभूता इत्यर्थः । तपतांश्रेष्ट इतिसम्बुद्धिः । ब्रह्मणः दिव्यमङ्गलविग्रहवत्वमभ्युपगम्य शक्तिमत्वात् कर्तृत्वमुक्तम् । सर्वभावानां स्वकार्योत्पादनशक्तयः स्वप्रमाणसिद्धत्वादन्यानन्यत्वविकल्पैरविचारणीयाः सन्ति । यथाग्नेर्दाहकत्वशक्तिः । एवं ब्रह्मणो जगत्सर्गादिहेतवः स्वाभाविक्यः शक्तयः शन्तीति । नच पर्य्यनुयोगोऽस्ति वक्तुं शक्तेःकथञ्चन । अग्निर्दहति नाकाशं कात्रपर्य्यनुयोज्यता आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतर इत्यादि । इति तदर्थः ।

भाषानुवाद

ज्ञान ऐश्वर्य का उपलक्षण अचिन्त्यशक्तिपद हैं । स्वरूप के समान नित्य स्वाभाविक विचित्र अपरिच्छन्न असंख्यात स्वाभाविक अघट घटना के योग्य अनन्त शक्ति और ज्ञान ऐश्वर्यादिक श्रीकृष्णचन्द्र में विद्यमान है । श्रीहरि में नाना शक्ति ज्ञान बलसाहित क्रिया विद्यमान है । हे मैत्रेय परमात्मा की अचिन्त्य ज्ञान गोचर सर्व भावों की कारण भूत असंख्यात शक्ति हैं । जैसे अग्नि में उष्णता शक्ति है यह स्वाभाविक धर्म में दृष्टान्त है । यह स्मृति उक्त अर्थ में प्रमाण हैं ।

वेदान्तरत्नमंजूषा

भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णतेति । अनेन भगवच्छब्दोऽपि व्याख्यातः समग्रातिशयसाम्यानर्हताज्ञानशक्त्यादियोगविधानात् । ऐश्वर्यस्य स्वमग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना !

कुञ्चिका

इदानीं भगइत्यक्षरद्वयात्मकस्य पदस्यार्थमाह – ऐश्वर्यस्येति । अं० ६। अ० ५।

श्लोक ७६। समग्रपदं सर्वत्र सम्बद्धयते भगः षाड्गुण्यं तद्वान् भगवानित्यभिप्रायः भगइतीरणा संज्ञेत्यर्थः ।

भाषानुवाद

अचिन्त्य शक्ति शब्द से भगवत् शब्द का अर्थ भी दिखलाया सब ऐश्वर्य्य सब धर्म सब यश समग्रज्ञान सर्व विराग इन षट् धर्मोको भग कहते हैं यह धर्म विद्यमान हैं, अतः भगवत्पदवाच्य श्रीहरि हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तद्ब्रह्म परमं धाम तद्ध्येयं मोक्षकाङ्क्षिणा श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्। तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः। वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः।

कुंचिका

तद्ब्रह्मेति विष्णु०। अं० ६ । अ०। ५। श्लोक ६८ धाम तेजोमयम्। तद्विष्णोः परमं पदम्" इति श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तत्परं ब्रह्मैव स्वेच्छयाऽविष्कृतं षाड्गुण्यं परमेश्वराख्यं मोक्षकाङ्क्षिभिर्ध्येयमित्यर्थः। उक्तगुणविशिष्टं तदेव ब्रह्म भगवच्छब्दवाच्यमित्याह। तदेवेति इदं वचनं ध्यानक्रियाभ्यां "भगवान्सर्वव्यापी च नारायण- भगवान् प्रजापतिः" वासुदेवाय धीमहि ' ओमित्यात्मानं युञ्जीत 'नमो रुचाय ब्राह्मये इत्यादि वेदान्तसारोद्धाररूपं द्वादशाक्षरचिन्तकाइतिपूर्वमुक्तमन्त्रविशेषमभिप्रेत्यमभिहितम् । सकलहेयप्रत्यनीककल्याणगुणात्मकं जगत्कारणं परविद्याधिगम्यमुक्तं परब्रह्मैव भगवच्छब्दवाच्यं नान्यदित्यवधारयति तदेवेति। मनुरपि "तत्स्वयंभूर्भगवान्" इत्यादिना जगत्कारणमेव भगवच्छब्दवाच्यमित्याह, अथ ब्रह्मणस्स्वरूपगुणवैभवैरनन्यस्य याथात्म्यवचनसमर्थोयंशब्द इत्याह वाचकइति।

भाषानुवाद

उक्त गुण सम्पन्न वह ब्रह्म है, सोई परमधाम और मुमुक्षुजन उसका ही ध्यान करते हैं, वही विष्णु का परम पद है, ज्ञानादि उक्त षट् गुण विशिष्ट ब्रह्म है वह भगवत् शब्द का वाच्य परमात्मा का स्वरूप है, उसका वाचक भगवत् शब्द है।

वेदान्त-रत्न-मजूषा

शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि वर्त्तते मैत्रेय भगवच्छब्दः सर्वकारणकारणे। विष्णु० अं। ष्ठ० ६। अ०। ५। श्लो० ॥७२॥

कुञ्चिका

परमकारणे परे ब्रह्मणि शब्दोऽयमनुच्चारतः शक्यत इत्याह शुद्ध इति। शुद्धिर्मलप्रत्यनीकत्वम्। महाविभूत्याख्ये महाभूतिसंज्ञे महाविभूतिर्हि ब्रह्मणः अन्यत्र मुख्यत्वासम्भवज्ञापनार्येत्यर्थः।

भाषानुवाद

हे मैत्रेय भगवत् शब्द सर्व कारणों के कारण महाविभुति सम्पन्न शुद्ध पर ब्रह्म में वर्तमान है। अर्थात् भगवत् शब्द जो है स्वनिष्ठ वाचकता निरूपित वाच्यता सम्बन्ध से परब्रह्म में वृत्ति है। स्वशब्द से भगवत् शब्द का ग्रहण है शब्द वाचक है, उसका अर्थ वाच्य हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

एवमेष महाञ्छब्दो भगवानिति सत्तम। परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नात्यगः ज्ञानशक्तिवलैश्वर्य्य वीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि-विना हेयादिभिर्गुणैरित्यादिस्मृतिभ्यः। एतेनानिर्वचनीयशक्तिवादः-प्रत्युक्तः। अचिन्त्यस्वाभाविकभावादिशब्दवाच्यत्वाभिधानात्।

कुंचिका

एवमिति वि० पु० ६। अं०। अ०। ५। श्लोक ७६॥

एवमेषशब्दो वासुदेवस्य वाचकः नत्वन्यस्येत्यर्थः। भश्चासौ गश्च वश्च भगवानित्यक्षरसाम्यान्निरुक्तिः षाड्गुण्यं भगसंज्ञं तद्वान् भगवानित्यनुषङ्ग एवेत्यर्थः। ज्ञान-शक्तीति। अशेषतः। अशेषैः स्वविस्तारभूतैर्गुणान्तरैःसह, नकारस्यार्थमाह—विना हेयैरिति गुणादिभिः त्रिगुणतत्कार्यक्लेशादिभिर्निखिलहेयप्रत्यनीकत्वं समस्तकल्याण-गुणात्मकत्वञ्च उभयलिङ्गं कृत्स्नं भगवच्छब्दवाच्यमित्यनुसन्धेयम्। एवं भगवत्प्राप्तिसाधनपरविद्याङ्गत्वेनोक्तः श्रीमद्द्वादशाक्षरमन्त्रे भगवच्छब्दो निरुक्त। वेदशाखाभेद प्रकरणे प्रणवार्थ उक्त इत्यर्थः' एतेन" भगवच्छब्दनिर्वचनेन।

भाषानुवाद

भगवान् यह महत् शब्द जो है वह पर ब्रह्म वासुदेव का वाचक है और अर्थ का वाचक नहीं है। ज्ञान शक्ति बल ऐश्वर्य और वीर्य तेज ये षट् गुण भगवत् शब्द के वाच्य हैं हेय = त्याज्य गुणों के बिना। यह विष्णु पुराण के वचन का अर्थ है। उपदर्शित कथन से अनिर्वचनीय शक्ति वादि का खण्डन हो चुका क्योंकि श्रुति स्मृति में सर्वत्र अचिन्त्य स्वाभाविकशक्ति का प्रतिपादन किया है।

वेदान्तरत्नमंजूषा

नन्वेवं यदि ब्रह्मशिवसनकादिवन्दनसम्प्रदानभूतचरणो निरतिशयैश्वर्यादिगुणाश्रयः श्रीभगवान् पुरुषोत्तमस्तर्हि दीनानां तत्र प्रवेशस्याप्यसम्भवात् सर्वशरण्यत्वासिद्धिरिति चेन्न तस्यवात्सल्यकारुण्यादिगुणसागरत्वेन भक्तपारतन्त्र्यस्वभावत्वादित्याह। भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादिति । भक्तानामिच्छा भक्तेच्छा तयोपात्तोऽयक्तीकृतो विश्वरूपादि सुचिन्त्योविग्रहोयेन स भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहस्तस्मात् । यथार्जुनादीच्छया विश्वरूपादिव्यक्तिः तथाहि । एवमेतद्यथाऽऽत्थत्वमात्मानं परमेश्वरः द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम इत्यर्जुनेन प्रार्थितः श्रीभगवान् कृष्णः ।

कुंचिका

यदि विधिशिवशनकादिभिर्वन्दनीय पदारविन्दः श्रीभगवान् पुरुषोत्तमस्तदा तदितरेषां जघन्यानां तत्रप्रवेष्टु मशक्यत्वात्कथं सर्वशरण्यत्वं तस्य सिद्धयतीत्याशङ्कते नन्विति । अहं भक्तपराधीनोह्यस्वतन्त्रइव द्विज इत्यादिवचनेन भक्ताधीनस्वभावत्वात् । तस्य सर्वशरण्यत्वमुपपद्यत इत्याशयेन परिहरति नेति । तथाहीति भक्तेच्छया विश्वरूपादिव्यक्तिं दर्शयतीत्यर्थः । एवमेतद्यथेति यथायेन प्रकारेण निरतिशयैश्वर्य्यमात्मानं त्वमात्थ ब्रवीषि—एवमेव तत् त्वद्वचसि मे विश्वासो नास्ति तथापि हे पुरुषोत्तम। तवैश्वरं शक्तिबलवीर्य्यतेजोभिः सम्पन्नमद्भुतं रूपं द्रुष्टुमिच्छामीत्यर्थः ।

भाषानुवाद

यहाँ पर यह शङ्का होती है, जब श्रीकृष्णचन्द्र भगवान के चरणारविन्द को ब्रह्मा शिव आदि वन्दन करते हैं वह निरतिशय ऐश्वर्य का आश्रय है तब दीन जनों का प्रवेश वहाँ कैसे हो सकता है। अतः सर्व शरण्यत्व भगवान् में कैसे सिद्ध होता है। इसका उत्तर यह है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र वात्सल्य कारुण्य आदि गुणों के सागर है अतएव भक्तों के पारतन्त्र्य आपका स्वभाव है इससे उक्त दोष की प्रसक्ति नहीं हैं इस आशय से भक्तेच्छयोपात्त यह विशेषण का प्रदान किया भक्तों की इच्छा से प्रगट किया विग्रह जिसने जैसे अर्जुन आदि की इच्छा से विश्वरूप की अभिव्यक्ति हुई है। अर्जुन ने प्रार्थना करी कि मैं आपके विश्वरूप का दर्शन करना चाहता हूँ। यह अर्जुन की प्रार्थना सुनि के श्रीभगवान् बोले कि मेरे सौ हजार रूपों को हे अर्जुन तू दृष्टि गोचर कर।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथसहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि चेति प्रतिज्ञायार्जुनस्यैतेन चक्षुषा तद्रूपदर्शनानर्हतां मत्वा 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरमिति चक्षुः प्रदाय विश्वरूपं दर्शयामासेत्याह सञ्जयः–'एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः। दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।

कुंचिका

हे पार्थ पृथापुत्र शतशोऽथ सहस्रशोऽपरिमितानि "नानाविधानि" अनेकप्रकाराणि दिव्यान्यलौकिकानि नाना नीलपीतादयोवर्णा आकृतयश्चावयवसंस्थानविशेषा येषां तानि नानावर्णाकृतीनि मम रूपाणि पश्य, दर्शनयोग्यो भव तस्यदुर्दर्शत्वादित्यर्थः। प्राकृतस्वचक्षुषा मामप्राकृतं द्रष्टुं त्वं न समर्थः। अतः दिव्यमप्राकृतरूपदर्शन क्षमं चक्षुस्ते तुभ्यं ददामि तेन ममासाधारणंयोगं सामर्थ्यमैश्वरमीश्वरासाधारणं पश्येत्यर्थः। हे राजन्! एवमुक्तप्रकारेणोक्त्वामहाँश्चासौयोगेश्वरश्च हरिः पार्थाय परमं दिव्यमैश्वरं रूपं दर्शयामासेत्यर्थः।

भाषानुवाद

मेरे रूप नाना प्रकार के हैं और दिव्य अलौकिक नील पीत हरितादि वर्ण जिन्हों में विद्यमान हैं। और जिन्होंके आकार अर्थात् अवयव संस्थान की रचना भी विचित्र है। ऐसी प्रतिज्ञाकरी अर्जुन के विद्यमानचक्षु के द्वारा उस रूप के दर्शन की योग्यता नहीं हैं अतः श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने अर्जुन के लिये दिव्य चक्षु का प्रदान किया। यह कथा सञ्जय ने धृतराष्ट्र के प्रति कही है। हे राजन्! धृतराष्ट्र। महायोगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने अपने परम ऐश्वर्य युक्त बिश्वरूप को दिखलाया।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्। अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्। दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्। सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं बिश्वतोमुखम्। दिविसूर्यसहस्रस्यभवेद्युगपदुत्थिता। यदिभाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः। तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।

कुञ्चिका

तदेवरूपं विशिनष्टि द्वाभ्यामनेकेति। अनेकानिवक्त्राणि नयनानि च यस्मिन् तत् अनेकानाद्भुतानां दर्शनं यस्मिन् तत् अनेकानिदिव्यान्याभरणानि यस्मि स्तत् दिव्यान्यनेकान्यायुधानि यस्मिन् तत् इत्यर्थः।

दिव्यानि माल्याम्बराणि च धारयति तथा दिव्यगन्धानुलेपनं यस्य तत सर्वाश्चर्य्यमयम्,अनेकाश्चर्य्यप्रचुरं देवं द्योतनात्मकमनन्तं'त्रिविधपरिच्छेदशून्यम्,सर्वतोमुखानि यस्य तदित्यर्थः अ० ११। देव इत्युक्तं कीदृशी तस्य दीप्तिरित्यपेक्षायां तस्या अद्भुतोपमामाह दिवीति। दिवि आकाशे सूर्यसहस्रस्य युगपदुत्थितस्य युगपदुत्थिता भाः प्रभा यदि भवेत्तदा सा तस्य महात्मनो विश्वरूपस्य भासः प्रभाया सदृशी उपमा स्यात अन्योपमा तु नास्त्येवेत्यर्थः। एवञ्चैकदा दिवि सूर्य्य सहस्रस्योत्थानमसम्भावितं तदभावे तत्सादृश्याभावइत्यभूतोपमया निरुपमत्वमेव व्यक्तिकृतमित्यर्थः। तत्रेति देवदेवस्य शरीरे एकत्रस्थितम्, अनेकधा प्रविभक्तं चेतनाचेतनात्मकं कृत्स्नं जगत् दिव्यचक्षुः पाण्डवोऽर्जुनोऽपश्यदित्यर्थः।

भाषानुवाद

जिस रूप में अनेक मुख अनेक नयन अनेक अद्भुत दर्शन अनेक दिव्य आभरण विद्यमान हैं और दिव्य अनेक आयुध दिव्य पुष्प वस्त्रधारी दिव्य गन्ध लेपन सर्व आश्चर्य मय दिव्य अपरिच्छिन्न सर्व तरफ मुख सम्पन्न अनन्त देव को अर्जुन ने देखा स्वर्ग में एकबार हजार सूर्य्य का उदय हो उसकी प्रभा के द्वारा कथंचित उस रूप की उपमा हो सकती है यह अद्भुत उपमा हैं। उसके एक देश में स्थित अनेक रूप से विभक्त चेतन और अचेतन रूप समस्त जगत् को देव देव श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के शरीर में अर्जुन ने देखा।

वेदान्तरत्न-मंजूषा

किंच पश्यन्स्वयमप्याहार्जुनः, पश्यामि देवाँस्तवदेव देहे सर्वांस्तथा भूत विशेषसङ्घान्। ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुर गाँश्च दिव्यान्। अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्। नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपमित्यादिना। किञ्च विश्वरूपं पश्यन् दृष्ट्वा।

कुंचिका

पश्यामीति । हे देव देव तव देहे सर्वानिन्द्रवस्वादीन्देवान् सर्वान् भूतविशेषाणां स्थावरजङ्गमात्मकानां सङ्घान् समूहान् चतुर्मुखं शङ्करं सर्वान् भृगुमरीच्यादीनृषीन् तथोरगान् वासुकि प्रभृतीन्सर्पान् पश्यामीत्यर्थः । अनेकेति । अनेकानि वाहूदरवक्त्र-नेत्राणि यस्य तमनन्तरूपं त्वां सर्वतः पश्यामि । हे विश्वेश्वर विश्वनियन्तः हे विश्वरूप यतस्त्वमनन्तः अतस्तव नान्तमवसानं मध्यं नपुनरादिं पश्यामीत्यर्थः ।

भाषानुवाद

ऐसा स्वरूप देखिके अर्जुन बोला कि हे देव तुम्हारे देह में सर्व देवता और भूतों के संघात को देखता हूँ । कमलासनमें विराजमान ब्रह्मा और शिव समस्त ऋषि और दिव्य सर्प मैं देखता हूँ। उसमें अनेक वाहु उदर मुख नेत्र अनन्त विश्व को मैं देखता हूँ उसका आदि अन्त मध्य मैं नहीं देखता हूँ ।

वेदान्तरत्नमंजूषा

हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमश्च विष्णो इतिभीतः आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तुते देववर प्रसीद विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि ।

कुञ्चिका

एवम्भूतं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा, प्रकर्षेण व्यथितान्तःकरणोऽहंधृतिं देह धारणं न विन्दामि न लभे । शमं चेन्द्रियाणां शान्तिञ्च न लभे । हे बिष्णो वाह्या-भ्यन्तर व्यापक मम वाह्याभ्यन्तरव्यथांत्वं जानासीत्यभिप्रायः । उग्ररूपोऽतिकरालाकृतिः को भवानीति मे मह्यमनुग्रहाय आख्याहि कथय ते तुभ्यं नमोऽस्तु, हे देववर प्रसीद प्रसन्नो भव भवन्तमाद्यं पुरुषं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि ननु त्वत्प्रार्थनयैव मयैतदैश्वरं रूपमाविष्कृतं स एव वासुदेवोऽस्मि कथं पुनः को भवानिति पृच्छसीत्यत आह न हीति । हि यतस्तव प्रवृत्तिं न जानामि एवं संहर्त्तृरूपेण किं कर्त्तुं प्रवृत्तोऽसि मदनु-ग्रहायैश्वररूपप्रदर्शने प्रवृत्तस्यघोररूपाविष्करणे कोऽभिप्राय इस्यर्थः ।

भाषानुवाद

अर्जुन विश्व रूप को देख के मेरा धैर्य और शम नष्ट हो गया ऐसे भयभीत हो के अर्जुन पूछने लगा कि तुम उग्ररूप कौन हो हे देव तुमको नमस्कार है आप प्रसन्न हो मैं तुमको जानना चाहता हूँ तुम्हारी प्रवृत्ति मैं नहीं जानता हूँ ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तव प्रवृत्तिमिति स्वरूपप्रवृत्तिजिज्ञासुश्च ज्ञात्वा आश्वास्य स्वरूपप्रवृत्तिं ज्ञापयामास। 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्त इत्यादिना पुनश्च भगवतः कालस्वरूपंसर्वसेनासंहारार्थं।

कुंचिका

एवं प्रार्थितः स्वस्य घोररूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तं ज्ञापयन् श्रीभगवानुवाच कालोऽस्मीति कलयति गणयति लोकानामवसानमिति कालः सोऽहमस्मि। अतएव लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः स्वशक्तिसामर्थ्येन वृद्धिं गतः। किं कर्त्तुं तव प्रवृत्तिरित्यस्योत्तरमाह लोकान् दुर्योधनादीन् जनान्समाहर्त्तुं भक्षयितुमिहास्मिन् समये प्रवृत्तोऽस्मि इत्यर्थः।

भाषानुवाद

अर्जुन इस प्रकार भगवान् के स्वरूप और प्रवृत्ति की जिज्ञासा करने लगा भगवान् उसको जिज्ञासु जान के अपनी स्वरूप प्रवृत्ति को कहने लगे कि मैं काल हूँ लोकों के नाश करने के लिये मैं वृद्धि को प्राप्त हुआ हूँ, पश्चात् भगवान् काल स्वरूप है सर्व सेना के संहारार्थ इनकी प्रवृत्ति है।

वेदान्त-रत्न-मञ्जूषा

प्रवृत्तिं ज्ञात्वा पूर्वकृतापराधं सप्रणामपि स्थाने हृषीकेश इत्यारभ्यनमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते सखेति त्मवा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति। अजानता महिमानं। तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वाऽपि। यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु। एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।

कुंचिका

वाय्वादिरूपस्त्वं सर्वजनकः पितामहस्त्वं एवं सर्वात्मभूतोऽसि तस्मात्ते तुभ्यं सहस्रकृत्वः सहस्रबारान्नमोनमोऽस्तु पुनश्च भूयोऽपि नमोनमः त्वन्माहात्म्यापरिज्ञानाद्यत्ते वहुशो मयापराधाः कृतास्तन्निवृत्तये इदानीं परमकारुणिकं त्वां क्षमापयामीत्याह सखेति द्वाभ्याम्। इदं सर्वगरीयस्त्वं ब्रह्मादिकर्तृत्वसर्वनमस्कार्यत्वादिकं तव महिमानमजानता मयाप्रमादान्मोहात्प्रणयेन स्नेहेन वा सखेति त्वं मम समानवय इति मत्वा प्रसभं विनयापेतं हठेन वा हे कृष्ण हे यादव। हे सखेति यदुक्तं।

यच्चावहासार्थं परिहासार्थं विहारशय्यासनभोजनेषु सहकृतेषु मयाऽसत्कृतोऽसि तिरस्कृतोऽसि एकः सखीन्विहाय रहसि स्थितः । अथवा तत्समक्षं तेषां परिहसतां सखीनां समक्षं साक्षात् हे अच्युत । सर्वदा नित्यैकरस । तत्सर्वमपराधजातं त्वामप्रमेयमचिन्त्यप्रभावं क्षामये क्षमापये, इत्यर्थः ।

भाषानुवाद

यह निश्चय कर नमस्कार कर अपना अपराध क्षमा कराने लगा । हे कृष्ण हे यादव मेरा सखा यह मान के जो मैंने कहा और हे हृषीकेश इत्यादि श्लोक के द्वारा पश्चात् नमो नमस्ते इत्यादि श्लोक के से बारम्बार नमस्कार करी तुम्हारि महिमा को मैं नहीं जान के प्रमाद से अथवा स्नेह के द्वारा आपका परिहास किया विहार शय्या आसन भोजन समय एकान्त में अथवा सखों के समक्ष में जो अपराध किया उसको क्षमा कीजिये ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् । न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः । तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादयेत्वामहमीशमीड्यम् । पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुमिति स्तुति नतिसम्बन्धं ।

कुंचिका

अप्रमेयत्वमुपपादयति—पितेति । अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता जनकस्त्वमसि पूज्यश्चासि । गुरुश्च शास्त्रोपदेष्टा अतो गरीयान् गुरोरपि गुरुत्वेन पूज्यतमः । हे अमितप्रभाव । यत एवम्भूतस्त्वं तस्मात्त्वत्समो लोकत्रये नास्ति । यदि त्वत्सम एव नास्ति । तर्हि अभ्यधिकः कुतोऽन्यः, त्वदधिकः कुतः स्यात् । नास्ति नासीन्नभविष्यत्येवेत्यर्थः । एवं सर्वोत्तमत्वेन संस्तुत्य पूर्वपरिचितसौम्यदर्शनाकाङ्क्षया लोकसिद्धप्रियसम्बन्धनिदर्शनेन भगवन्तं प्रसादाभिमुखीकरोति । तस्मादिति यस्मात्त्वं सर्वस्य पिता गुरुतमः पूज्यश्चातिशयसाम्यरहितश्च तस्मात् प्रणम्य कथं प्रणिधाय कायं भूमौ दण्डवन्निपत्य ईशं सर्वलोकस्वामिनमीड्यं स्तुत्यं त्वामहं प्रसादये मद्विषयानुग्रहाभिमुखं कामये । हे देव । सर्वसम्बन्धिरूपेण दीव्यति व्यवहरतीति तथा कृतापराध ।

भाषानुवाद

आपका प्रभाव अचिन्त्य है आप सचर और अचर लोक के पिता और

पूज्य गुरु शास्त्र के उपदेशा हो अतएव गरीयान् हो अर्थात गुरु से भी गुरुत्व होने से पूज्यतम हो आपके समान कोई भी नहीं है, तो आपसे अधिक कौन हो सकता है आपके प्रभाव की उपमा नहीं है अतः भूमि में दण्डवत् अपने शरीर को गिराकर आप सर्वों की स्तुति के योग्य हो मैं तुमको प्रसन्न कराना चाहता हूँ। पिता पुत्र के अपराध को क्षमा करता है और मित्र मित्र का प्रिय मति प्रिया के अपराध वो सहन करते हैं तद्वत् मेरे अपराध को आप सहन करने को योग्य हो।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

व्यञ्जयन् नानापराधक्षमापनपूर्वकं तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवासेति। चतुर्भुजरूपदिदृक्षया प्रार्थितः श्रीभगवान् मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

कुंचिका

स्यापि पुत्रस्य पितेव सख्युः सखेव प्रियायाः प्रिय इव प्रणामपूर्वकं प्रार्थितः सर्वापराधं सोढ्वा प्रसीदति तथा ममापराधं सोढुमर्हसि। प्रियः प्रियार्हसीत्यत्रेवशब्दस्य लोपः सन्धिश्चार्ष इत्यर्थः। हे अर्जुन ! किमिति त्वं भीतोऽसि यतो मया प्रसन्नेन त्वत्प्रसादार्थं तेजोमयं विश्वं सर्वात्मभूतमनन्तमन्तरहितमाद्यं कृत्स्नस्यादिभूतं यत्वदन्येन केनापि न दृष्टपूर्वं तदिदं परं श्रेष्ठतरं रूपं तव आत्मयोगात् आत्मनः सत्यसङ्कल्पत्वयोगाद्दर्शित मित्यर्थः।

भाषानुवाद

इस प्रकार स्तुति नमस्कार और अपराध को क्षमा कराकर सर्व सम्बन्ध को दिखलाते हुए चतुर्भुज रूप दर्शन की प्रार्थना अर्जुन करने लगा कि हे जगदाधार मेरे पर यदि आप प्रसन्न हो तो उस चतुर्भुज रूप का दर्शन करायें। यह अर्जुन की प्रार्थना सुनि के श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् बोले कि हे अर्जुन मैं प्रसन्न होय के अपने स्वभाव सामर्थ्य से यह विश्वरूप आपको दिखलाया।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वमिति स्वप्रसादस्यैवात्मदर्शनासाधारणहेतुत्वं न वेदयज्ञाध्ययनैर्नदानैर्नच क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः। एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीरेति। अन्येषां साधनानांमव्यभिचारित्वंप्रपञ्चय।

कुञ्चिका

एतद्रूपदर्शनं मत्प्रसादेन विना दुर्लभम्। अतो मदनुग्रहेणैव तद्दृष्ट्वा त्वं कृतार्थोऽसीत्याह। न वेदेति। न वेदानां चतुर्णामपि अध्ययनैर्गुरुमुखादक्षरराशिग्रहणरूपैस्तथा यज्ञानां मीमांसा कल्पसूत्रादिलक्षणानां यज्ञविद्यानां साङ्गयज्ञकर्मप्रतिपादकानामध्ययनैरर्थविचाररूपैः नदानैर्भूमितुलाकन्यान्नादीनां पात्रेष्वर्पणरूपैः न च क्रियाभिरग्निहोत्रादिश्रौतकर्मभिः न चोग्रैस्तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः, एवं रूपोऽहं नृलोके हे कुरुप्रवीर। त्वदन्येन मदनुग्रहरहितेन द्रष्टुं न शक्यः, अपितु मत्प्रसादभाजनेन त्वादृशेनैव द्रष्टुं शक्य इत्यर्थः। स्वसाक्षात्कारं प्रति स्वानुग्रहस्यैवासाधारणहेतुत्वं तद्व्यतिरिक्तानां वेदयज्ञाध्ययनदानादीनामनैकान्तिकत्वमित्याह। अन्येषामिति।

भाषानुवाद

तेजमय सर्व का आदि अनन्त रूप दिखलाया यह तुम्हारे समान भक्त के बिना पहिले किस ने नहीं देखा मेरा अनुग्रह ही इस रूप के दर्शन का हेतु है इस स्वरूप को वेदाध्ययन यज्ञ और दान क्रिया उग्र तप इन्हों के द्वारा नहीं देख सकता है। हे कुरु प्रवीर यह स्वरूप मनुष्य लोक में तुम्हारे बिना कोई भी पुरुष नहीं देख सकता इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवत् अनुग्रह के बिना अन्य साधन व्यभिचारी है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्। व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्येत्यादिना भीतं तमाश्वास्य चतुर्भुजस्वरूपं पुनर्दर्शयामास। किञ्चाऽर्जुनोऽपि दृष्ट्वा हृष्ट आह। दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ? इदानीमस्मि सम्वृत्तः सचेताः प्रकृतिं गत इत्यादि।

कुंचिका

एवं त्वदनुग्रहार्थमाविष्कृतमिदं रूपं दृष्ट्वा ते व्यथा भवति. चेत्तर्हि तदेव रूपं दर्शयामीत्याह मा ते इति। ईदृक् घोरं मदीयं रूपं दृष्ट्वा याते व्यथा यश्च विमूढभावोऽन्तःकरणविभ्रमः तदुभयं माभूत्। किन्तु व्यपेतभीर्विशेषेणापगतभयः प्रीतमनाश्च सन् पुनस्त्वं तदेव मम रूपं प्रपश्य हे जनार्दन। निरतिशयसौन्दर्यसौकुमार्यमाधुर्यलावण्यादिरूपं दृष्ट्वा इदानीं सचेता अव्याकुलचित्तः संवृत्तोऽस्मि तथा प्रकृतिं साध्वसनिवृत्या स्वास्थ्यं गतोऽस्मीत्यर्थः।

भाषानुवाद

तेरे को व्यथा मत हो मूढ़ भाव मत हो भय को त्याग के प्रसन्न होकर मेरे उस रूप को तू देख, इस प्रकार समाधान कर श्रीकृष्णचन्द्र ने जब अपना चतुर्भुज रूप दिखलाया तब अर्जुन चतुर्भुज रूप देख के बोला कि यह तुम्हारा सौम्य रूप मनुष्य रूप देख के मेरा स्वस्थ चित्त हुआ अब मैं अपने स्वभाव को प्राप्त हुआ।

वेदान्तरत्नमंजूषा

यद्यपि जगत्कारणत्वविश्वात्मत्वब्रह्मादिसेव्यत्वमुक्तप्राप्यत्वशास्त्रयोनित्व-सर्वज्ञानैश्वर्यशक्तिवैराग्यादिधर्मयोगाद्ब्रह्मरुद्रादीनामपि दुर्लभो भगवान् रमा-कान्तस्तथापि भक्तिप्रपत्योर्व्याजमाहात्म्येन शरणागतवत्सलत्वकारुण्यदयादि-विशेषगुणविवशतया प्रपन्नानां भक्तानां सुलभ एवेतिभावः। उद्घुष्यते च भक्तिप्रपत्योर्माहात्म्यं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिवाक्यैः तत्र भक्तिमाहात्म्य-द्योतकं शास्त्रं गोपालोत्तरतापनीये श्रीभगवद्वाक्यं ब्रह्माणं प्रति यथा त्वं सह पुत्रैस्तु यथा रुद्रो गणैः सह। यथाश्रियाभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रिय इतिमन्त्रात्। नारसिंहमन्त्रराजव्याख्याने च अथ कस्मादुच्यते मृत्यु मृत्युरिति।

कुंचिका

निरतिशयैश्वर्य्यमहिम्ना विधिशिवप्रभृतीनां दुर्लभत्वं श्रीपुरुषोत्तमस्य श्रूयते शास्त्रेषु तथापि वात्सल्यकारुण्यसौशील्यदयादिगुणैर्निजानन्यभक्तानां भक्तिप्रपत्तिव्याजेन सौलभ्यता श्रीभगवत इत्याह यद्यपीति। भक्तेर्महत्वप्रतिपादकवाक्यान्युदाहर्त्तुं प्रथमं तावत् गोपालोत्तरतापनीयवाक्यमुदाहरति तत्रेति।

भाषानुवाद

यद्यपि जगत् कारण विश्वात्मा ब्रह्मादि देवों से पूज्य मुक्त प्राप्य शास्त्र प्रति-पाद्य सर्वज्ञ निरतिशय ऐश्वर्य शक्ति इन कल्याण धर्मों के द्वारा ब्रह्मादिक को भी दुर्लभ है, तथापि भक्ति प्रपत्ति के मिष मात्र महात्म्य के द्वारा अपने असाधारण वात्सल्य कारुण्य दयादि गुणों से विवश हो के प्रपन्न भक्तों को श्रीभगवान् सुलभ हैं। भक्तिप्रपत्ति का माहात्म्य श्रुति स्मृति पुराण और इतिहास वाक्यों में बहुत विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने भक्ति के माहात्म्य के द्योतक वचन श्रीगोपाल उत्तर तापनी में है, वह यह है कि जैसे पुत्रों के सहित तू प्रिय है और रुद्र अपने गण के सहित और लक्ष्मी जैसे

प्रिय है वैसे भक्त मेरे को प्रिय हैं। और नरसिंहमन्त्र राज के व्याख्यान में देवतागण ब्रह्मा से पूछने लगे कि श्रीहरि को मृत्यु का मृत्यु क्यों कहते हैं?

वेदान्तरत्नमंजूषा

यस्मात्स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युश्च मारयतीत्यादि श्रुतेः। भक्तिरेवैनं वर्द्धयति भक्तिरेवैनं दर्शयति। भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेवभूयसी इत्याद्या श्रुतयः। नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुंश्च परन्तप। न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः। एवं रूपः —

कुंचिका

यद्येतैर्न द्रष्टुं शक्यः केनोपायेन द्रष्टुं शक्यो भवानित्यपेक्षायामाह। भक्तेति। तुशब्दः भक्तेः सर्वसाधनेभ्यः स्वातन्त्र्येणोत्कर्षद्योतनपरः। अनन्यया साधनसाध्यसम्बन्धरूपतया मदेकनिष्ठया भक्त्या तु एवम्भूतो विश्वरूपोऽहं तत्त्वेन परमार्थतो ज्ञातुं शक्यः। प्रवेष्टुंञ्च मच्छक्त्यात्मना मदाधेयतयावस्थातुं शक्यः। हे परन्तप ? परापरशक्तिरूपत्वाच्चेतनाचेतनरूपविश्वस्य। विष्णुशक्तिपराप्रोक्ता चेतनाख्या तथापरे तिवैष्णवेजनकवाक्यात्।" अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धिमे परामितिस्वयमप्युक्तत्वात् तस्माद्देवादीनां वेदादिभिर्दर्शनाशक्यत्वं यदुक्तं तद्भक्तिहीनानामेवेतिफलितमित्यर्थः। न वेद इति प्राग्व्याख्यातम्।

भाषानुवाद

जब भक्त आपका स्मरण करते हैं तब ही उन्हों की मृत्यु और अपमृत्यु को आप नाश कर देते हैं अतएव श्रुतिगण मृत्यु-मृत्यु कहते हैं। भक्ति ही श्रीहरि को बढ़ाती है। भक्ति ही भगवान् का दर्शन कराती है। भक्ति के वश परमेश्वर है अतएव सबों से बड़ी हैं। हे अर्जुन मैं वेद तथा तप दान और यज्ञ इन्हों के द्वारा मेरा इस प्रकार के रूप का दर्शन नहीं होता है। अनन्य भक्ति के द्वारा इस रूप के दर्शन की योग्यता होती हैं और भक्ति से ही मेरे को जान सकता और मेरे में प्रविष्ट होने के योग्य होता हैं। वेद यज्ञ अध्ययन दान और क्रिया और उग्र तपश्चर्या इन्हों के द्वारा मेरे इस रूप का इस लोक में दर्शन नहीं हो सकता है।

वेदान्तरत्न मंजूषा

शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर । भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् । मद्भक्त-एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते । पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । यो मद्भक्तः स मे प्रियः । तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । योगक्षेमं वहाम्यहम् । नारायणीये । नरनारायणौ नारदं प्रति । नारदैतद्धि नौ सत्यं वचनं समुदाहृतम् ।

कुंचिका

भक्तेर्भगवद्दर्शनासाधारणकारणत्वं तद्वशीकरणत्वञ्चाह । भक्त्येति । ततस्तया भक्त्या यावान् यादृशगुणशक्तिविभूतिमानहं यश्च सच्चिदानन्दविग्रहः सर्वज्ञः सर्वकारणं सर्वान्तर्यामी देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यः । सर्वव्यापकोऽपि सर्वदोषास्पृष्टः सकलचेतनाचेतनभिन्नाभिन्नस्वभावस्तं मां तत्त्वतः स संशयविपर्ययराहित्येनाभिजानाति साक्षादनुभवति ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तर मयि विशते निरतिशयानन्दं मामनुभवन्निरतिशयानुरागेण सर्वदा मां परिचरन्नभिनिविष्टो मयि वर्त्तते कदाचिन्मद्दृष्ट्य-गोचरो न भवति । तद्भक्त्यावशीभूतोऽहमपि कदाचित् तद्दृष्ट्यगोचरो न भवामीत्यर्थः । यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यतीत्युक्तरीत्या सर्वमद्दर्शनपरिचर्यया मदविनाभावेन मय्येव वर्त्तते । न च मत्तः कदाचिद्वियुज्यत इति भावः । मद्भक्त इति । एतत् क्षेत्रयाथात्म्यं क्षेत्रज्ञस्य प्राप्तुमुपायं क्षेत्रज्ञस्वरूपयाथात्म्यञ्चविज्ञाय मद्भावायोपपद्यते । मम यो भावो जन्ममरणराहित्यं तत्प्राप्तये योग्यो भवतीत्यर्थः ।

भाषानुवाद

अनन्य भक्ति के द्वारा ही सर्व गुण शक्ति सम्पन्न सच्चिदानन्द विग्रह स्वरूप मेरे को संशय और भ्रम रहित रूप से भक्त जानता है इस प्रकार जान के भक्त मेरे स्वरूप में प्रविष्ट होजाता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है हे पार्थ परम पुरुष में केवल अनन्य भक्ति से लभ्य हूँ जो मेरा भक्त है वह मेरे को परम प्रिय है उसका मृत्यु रूप संसार सागर से मैं उद्धार करता हूँ उसके योग क्षेम को मैं वहन करता हूँ। नारायणीय आख्यान में श्रीनारद के प्रति नरनारायण का वचन है हे नारदजी यह मेरा वचन सत्य है कि—

वेदान्तरत्नमंजूषा

नास्य भक्तात् प्रियतमो लोके कश्च न विद्यते । यतः स्वयं दर्शितवान् । स्वात्मानश्च द्विजोत्तम । तत्र श्रीकृष्णोऽर्जुनं प्रति चतुर्विधा ममजनाः भक्ताः एवेति ये श्रुताः । तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठाः ये चैवाऽनन्यदेवताः । अहमेव गतिस्तेषां निराशीकर्मकारिणाम् । पुनस्तत्रैव, सहोपनिषदान् वेदान् ये विप्राः सम्यगाश्रिताः । पठन्ति विधिमास्थाय ये चापि यतिधर्मिणः । तेभ्योविशिष्टांजानामि गतिचैकान्तिनां नृणाम् । तत्रैवनरनारायणौ । धन्योऽस्यनुगृहीतोऽसि यत्ते दृष्टः स्वयं प्रभुः ।

कुंचिका

पुरुष इति । हे पार्थ अनन्यया देवतान्तरकलान्तराभिसन्धिशून्यया भक्त्या लभ्यस्तु पुरुषः परः पूर्वोक्ताद्विलक्षणः स कः, यस्यान्तः स्थानिअन्तवर्त्तीनि भूतानि पृथक्स्थितिप्रवृत्यनर्हाणि तिष्ठन्तीत्यर्थः । येनसर्वात्मना इदं विश्वं ततं व्याप्तम् । तं मां प्राप्तानामपुनरावृत्तिरितिभावः । तेषामिति । तेषामुक्तप्रकारेण मय्यावेशितचेतसाम् । अहं वात्सल्यकारुण्यदयानिधिः मृत्युयुक्तात्संसारसागरादचिरेणैव समुद्धर्ता भवामि उद्धृत्य न निरतिशयानन्दरूपात्मभावापत्तिं मुक्तिं ददामीत्यर्थः योगक्षेममिति योगं मत्प्राप्तिपर्य्यन्तस्य सर्वपुरुषार्थस्य प्रापणं क्षेमं तत्संरक्षणं पुनस्तदपायशंङ्कावर्जनम् । अहमेव वहामि प्रापयामीत्यर्थः । श्रीनारयणवाक्येनाप्युक्तार्थं द्रढयति । नरनायणाविति परमैकान्तिनां भक्तानां माहात्म्यं दर्शयति । तत्र श्रीकृष्णार्जुनमिति ।

भाषानुवाद

अनन्य भक्त से प्रिय त्रिलोकी में कोई नहीं हैं । अतएव तुम्हारे को भगवान् ने अपना रूप दिखलाया । नारायणीय आख्यान में श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् अजुन के प्रति कहने लगे कि चार प्रकार के मेरे भक्त हैं उन्हों में निष्काम के कर्ता परम ऐकान्तिक भक्त श्रेष्ठ हैं जो कि अनन्य भक्त हैं उन्हों की गति में ही हूँ अर्थात् उपाय उपेय भगवान् ही हैं वहाँ पर ही वैशंपायन का वचन है कि जो ब्राह्मण विधि सहित वेद और उपनिषद् का अध्ययन करते हैं और संन्यास धर्म में स्थित है उन्हों से एकान्ति भक्तों की गति श्रेष्ठ जानता हूँ । उससे ही नर नारायण का वचन है कि हे नारदजी तुम धन्य हो आप श्रीहरि के अनुग्रह के पात्र हो, अतएव स्वयं प्रभु श्रीभगवान् श्वेत द्वीप के पति को आपने देखा ।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

नहि तं दृष्टवान् कश्चित् पद्मयोनिरपि स्वयम् । तत्रैव श्वेतद्वीपपतिर्नादं

प्रति। एकतश्चद्वितश्चैवत्रितश्चैव महर्षयः। इदं मे समनुप्राप्ता मम दर्शन-लालसाः। नच मां ते ददृशिरे न तु द्रक्ष्यति कश्चन। ऋते ह्येकान्तिकं चैषां त्वञ्चैवैकान्तिको। ममेति राजधर्मे – भीष्मानुभवः। दाहो मोहश्रमश्चैव क्लमो ग्लानिश्च माधव? तव प्रसादात् वार्ष्णेय? सद्यो व्यपगतानि मे। यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्चपरमद्युते। तत्सर्वमनुपश्यामि पाणौ फलमिवाहितम्। उत्तर-वाल्मीकीये सनत्कुमारो रावणं प्रति, नहि यज्ञफलैस्तात न तपोभिश्च सञ्चितैः। शक्यते भगवान् द्रष्टुं न दानेन नचेज्यया। तद्भक्तैस्तद्गतप्राणै-स्तच्चित्तैस्तत्परायणैः। शक्यते भगवान् द्रष्टुं ज्ञाननिर्धूतकल्मषैः किञ्चानन्य-भक्तानात्मानं ध्यायमानान्निरतिशयप्रीतियुक्तान् स्वयमपिध्यायति भगवा-निति स्वयमेवाह। राजधर्मे युधिष्ठिरं प्रति।

भाषानुवाद

इस मेरे स्वरूप को कोई भी पुरुष नहीं देख सकता है ब्रह्मा भी इस स्वरूप को देखने में समर्थ नहीं है। उस हीं आख्यान में श्वेतपति भगवान् का वचन श्रीनारदजी के प्रति है कि एक दो तीन ऋषि मेरे दर्शन करने की लालसा से यहाँ पर आये, किन्तु उन्हों को मेरा दर्शन नहीं हुआ और कोई भी मेरे को नहीं देख सकता है। ऐकान्तिक अनन्य भक्त ही मेरे को देख सकता है। हे नारद तू मेरा एकान्तिक भक्त है अतएव मेरा दर्शन तुमको हुआ है। राज्य धर्म में भीष्म का वचन है कि हे माधव आपके प्रसाद से मेरा दाह मोह और श्रम कलमष और ग्लानि ये सब दुःख दूर हुये। भूत भविष्यत् वर्तमान सब को मैं साक्षात् देखता हूँ जैसे हस्तमें आमले का फल विद्यमान है। उत्तर वाल्मीक मे रावण के प्रति श्रीसनत्कुमार का वचन है कि हे तात् यज्ञ तप दान यज्ञों के द्वारा भगवान् का दर्शन नहीं होता जिस भक्त ने अपने प्राण और चित्त को अर्पण किया और ज्ञान के द्वारा जिस के कल्मष दूर हो गये उस भक्त को भगवान् का प्रत्यक्ष होता है। अनन्य भक्तों का भगवान् स्वयं ध्यान करते हैं क्योंकि वे निरतिशय प्रीति सम्पन्न हैं और राज धर्म में श्रीयुधिष्ठिर के प्रति श्रीमुख का वचन हैं कि –

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः। मां ध्यायन् पुरुषव्याघ्र? ततो मे तद्गतं मनः। एकीकृत्येंद्रियग्रामं मनः संयम्य मेधया। शरणं मामुपा-गच्छत् ततो मे तद्गतं मनः। भीष्मं प्रति च, यतः खलु परा भक्तिर्मयि ते

पुरुषर्षभ। ततो मया वपुर्दिव्यं तव भीष्मप्रदर्शितम्। नह्यभक्ताय राजेन्द्र ! भक्तायाऽनृजवेन च। दर्शयाम्यहमात्मानं नचादान्ताय भारत। किंच वैष्णवे प्रह्लादं प्रति भगवद्वाक्यम्। कुर्वतस्ते प्रसन्नोऽहं भक्तिमव्यभिचारिणीमिति। अथान्यान्यपि शतशोवाक्यान्यनुपन्धेयानि। अथ प्रपत्तिमाहात्म्यम्। अनेनैव प्रपन्नस्य भगवन्तं सनातनम्। तस्यानुबन्धाः पाप्मानः सर्वे नश्यन्ति तत्क्षणात्। कृतान्यनेन सर्वाणि तपांसि तपतां वरः।

कुंचिका

भक्तेर्महत्वं निरूप्य प्रपत्तिमाहात्म्यं विधिशिवादीनां दौर्लभ्यमनन्याश्रयाणां सौलभ्यञ्च दर्शयति अथ प्रपत्तेरिति।

भाषानुवाद

हे युधिष्ठिर शरशय्या के ऊपर विराजमान भीष्म पितामह धूम रहित अग्नि के समान मेरा ध्यान कर रहा है अतएव मेरा मन इस में विराजमान है। यह भीष्म पितामह अपने इन्द्रियगण को नियमन कर बुद्धि सहित मन को एकाग्र कर मेरी शरण को प्राप्त हुआ, अतएव मेरा मन इस में विद्यमान है। राज धर्म में ही भीष्म के प्रति भगवान् की उक्ति है कि भरत वंश मे श्रेष्ठ तुम्हारी पराभक्ति मेरे में हैं अतएव अन्तकाल में मैं अपना स्वरूप दिखाने के लिये तुम्हारे समक्ष उपस्थित हुआ हूँ और अभक्त अजितेन्द्रिय आर्जवहीन और चंचल चित्त पुरुष मेरा दर्शन नहीं कर सकता है, मैं उस पुरुष को दर्शन नहीं देता हूँ। वि० पु० प्रह्लाद के प्रति श्रीमुख के वचन हैं कि हे प्रह्लाद तू अव्यभिचारिणी भक्ति का कर्ता है अतः तेरे पर मैं प्रसन्न हूँ। यहाँ पर्यन्त भक्ति की और भक्तों की महिमा वर्णन करी अब प्रपत्ति के माहात्म्य को दिखलाते हैं। प्रपत्ति योग से सनातन श्रीहरि के शरण जो जन हुआ उसके सब पाप तत् क्षण में नष्ट होगये उसने सब तप और तीर्थयात्रा करलई है।

वेदान्तरत्नमंजूषा

सर्वतीर्थाः सर्वयज्ञाः सर्वदानानि तत् क्षणात्। कृतान्यनेन मोक्षश्च तस्य हस्ते न संशय इति। यद्येनकामकामेन संसाध्यं साधनान्तरैः। मुमुक्षुणा यत्साङ्ख्येन योगेनापि च भक्तितः। प्राप्यते परमं धाम यतो नावर्त्तते यतिः। तेन तेनाप्यते तत्तन्न्यासेनैव महामुने। परमात्मा च तेनैव साध्यते पुरुषोत्तम इति। या वै साधन सम्पित्तिः पुरुषार्थचतुष्टये तया विना तदाप्नोति नरो-

नारायणाश्रय इत्यादि, ये च तद्भावितात्मानो ह्येकान्तित्वे समागताः। एतदभ्यधिकं तेषां यत्ते तं प्रविशन्त्युतेति नारायणीये। भीष्मपर्वणि च। ये तु कृष्णं प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः। भये महति मग्नानां त्राता नित्यं जनार्दनः। द्रोणे च, ये प्रपन्ना हृषीकेशं न ते मुह्यन्ति कर्हिचित्। मात्स्ये पितरः। अपि स्यात्स कुलेऽस्माकं सर्वभावेन यो हरिम्। प्रयायाच्छरणं विष्णुं देवेशं मधुसूदनम्। कूर्मे, ब्रह्माणश्च महादेवं देवाँश्चान्यान् स्वशक्तिभिः।

कुञ्चिका

प्रपन्नानां महत्वं निरूपयति। यद्येनमित्यादिना।

भाषानुवाद

जो पुरुष भगवान् के शरणागत हुआ उसने सर्वयज्ञ दान किये और मुक्ति भी तत्क्षण में उसके हस्त में विद्यमान हैं। जिस-जिस संकल्प द्वारा जिस-जिस साधन से जो-जो फल सिद्ध होता है। मुमुक्षुवों को सांख्य और योग भक्ति इन सबों के द्वारा परधाम प्राप्त होता है जिस धाम से लौटकर यति इस लोक में नहीं आता है और उस-उस फल की प्राप्ति होती है.वह सब हे महामुने भगवान् की प्रपत्ति से होती है। अर्थ, धर्म,काम,मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ के साधन पृथक्-पृथक् शास्त्र में अधिकारी के अनुसार प्रतिपादन किये हैं इन सब साधनों के बिना चतुर्विध पुरुषार्थ की प्राप्ति नारायण के आश्रय प्रपन्न को होती हैं। जो श्रीहरि की भावना से सम्पन्न चित्त हैं वे जन एकान्ती हैं उन्हों का सबों से अधिक स्थान विष्णु पदमें प्रवेश होता है। यह सब कथन नारायणीय उपाख्यान में हैं। भीष्म पर्व में भी कहा है कि जो जन श्रीकृष्णचन्द्र के शरण होते हैं उन्हों को मोह नहीं होता है, क्योंकि महाभय में निमग्न जनों के रक्षक श्रीजनार्दन हैं। जो श्रीहरि शरणागत हुये उन्हों को कभी भी मोह न ही होता है। मत्स्य पुराण में पितरों ने कहा कि हमारे कुल में ऐसा पुरुष उत्पन्न हो जो सर्व भाव से श्रीहरि के शरणागत हो। कूर्म पुराण का वचन है कि– ब्रह्मा महादेव और समस्त देवता—

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

मच्छक्तौ संस्थितान् बुद्ध्वा मामेव शरणं गत इति। एकान्तित्वं नाम एकस्मिन् श्रीभगवति विष्णौ अन्त उपायोपेयसम्बन्धरूपो निर्णयो विद्यते यस्य स एकान्ती तस्यभावस्तत्वम्। तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः। अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणामिति भगवद्वचनात्।

वेदान्तरत्नमंजूषा

सर्वेषु च नृप श्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते। यथागमं यथाज्ञानं निष्ठा नारायणः प्रभुरिति वैशम्पायनवचनात्सिद्धम्। तत्सिद्धं ब्रह्मादीनां दुर्लभत्वेऽपि अनन्याश्रयाणां सौलभ्यं श्रीपुरुषोत्तमस्य निरतिशयकारुण्ययोगादिति। तच्चोक्तमधस्तात्। तथोक्तं नारायणीये यद् ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत्। शेषाश्च विबुधश्रेष्ठाः दैत्यदानवराक्षसाः। नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयश्चये हव्यं कव्यञ्च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते कृत्स्नन्तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठते। या क्रिया सम्प्रयुक्ताश्चेत्ह्ये कान्तिगतबुद्धिभिः।

कुंचिका

उक्तार्थं प्रमाणेन द्रढयति। तथोक्तमित्यादिना।

भाषानुवाद

अपनी शक्ति सहित मेरी शक्ति से स्थित हैं। इस प्रकार जान के मेरे शरण हुआ। अब एकान्ति का लक्षण कहते हैं। एक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में अन्त नाम उपाय फल सम्बन्ध रूप निर्णय है जिसका, उसको एकान्ती कहते हैं। उन्हींमें जो श्रीहरि का ही सेवन करते हैं अन्य देवतान्तर का आराधन नहीं करते हैं। मैं ही जिन्हों की गति साधन फल सम्बन्ध हूँ अतः निष्काम कर्म कर्ता वह ऐकान्ती श्रेष्ठ है यह श्रीमुख से एकान्ति का लक्षण कहा है हे नृप श्रेष्ठ सर्व ज्ञानोंमे शास्त्र के अनुसार यथार्थ ज्ञान उस जन को ही हैं जिसकी निष्ठा का विषय सर्वेश्वर प्रभु नारायण हैं यह वैशम्पायन का सिद्धान्त है उस कथन से यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। कि यद्यपि श्रीभगवान् ब्रह्मादि देवताओं को भी दुर्ल्लभ हैं। तथापि श्रीहरि अपने निज निरतिशय करुणा दयादि गुण गणों की विवशता के द्वारा अनन्य भक्तों को सुलभ है यह पहिले कह चुके हैं। नर नारायणीय आख्यान में कहा है कि ब्रह्मा ऋषि और स्वयं पशुपति और देवता दैत्य दानव राक्षस नाग सुपर्ण गन्धर्व सिद्ध राजर्षि ये सब विधि पूर्वक हव्य-कव्य भगवान् को अर्पण करते हैं वह समस्त पर देवता श्रीपुरुषोत्तम के चरणों में पहुँचता है।

वेदान्तरत्न मंजूषा

ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम्। तत्रैव जन्मेजयः। अहोह्येकान्तिनः श्रेष्ठान् प्रीणाति भगवान् हरिः। विधिप्रयुक्तां पूजाञ्च

गृह्णाति भगवान् स्वयम् । एकान्तिनस्तु पुरुषाः गच्छन्ति परमं पदम् । ननु यद्येवं भूतं त्वेकान्तिनां माहात्म्यं तर्हि सर्व एव किमिति एकान्तिनो न भवन्तीतिचेन्न जनानां राजसतामसबाहुल्येनाधर्मसञ्चितत्वात् । एकान्तित्वस्य च सात्विकाधिकारिकत्वेनात्यन्तदुर्ल्लभत्वाच्च । तथाहि नारायणीये वैशम्पायनः एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा वहवो नृप । यद्येकान्तिभिराकीर्ण जगत् स्यात् कुरुनन्दन अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहितेरतैः । भवेत् कृतयुगप्राप्तिराशीः कर्मविवर्जितैः ।

कुंचिका

आगुदाहृतवचनेभ्यः परमैकान्तिवैष्णवानां यदि सर्वोत्कृष्टत्वं श्रूयते अन्येऽपि सत्कर्मकारिणः लोके महामनसः पूज्यतमा वर्त्तन्ते तेऽपि । अन्यमार्गात् प्रतिनिवर्त्य परमैकान्तिनां पथि कथं न प्रविशान्तीत्याशङ्कते नन्विति । सन्ति हि लोके वाहुल्येन राजसतामसप्रकृतयः मनुजाः,तेषां सात्विकाधिकारिप्राप्ये भगवत्प्रसादैकलभ्ये सर्वोत्तमे परमैकान्तिकधर्मे प्रवृत्तिः कथमपि न भवितुमर्हतीत्याशयेन परिहरति नेति । उक्तार्थे मानमाह तथाहीत्यादिना ।

भाषानुवाद

एकान्ति भक्त ने जो क्रिया श्रीहरि को अर्पण करी उसको भगवान् अपने मस्तक से ग्रहण करते हैं। वहाँ पर श्रीजनमेजय का वचन है कि हे वैशम्पायन बड़े हर्ष की वार्ता है कि भगवान् अपने एकान्ति भक्तों को प्रसन्न करते हैं उन्होंकी अर्पण करी हुई वस्तुओं को अपने मस्तक से श्रीहरि ग्रहण करते हैं और एकान्ती भक्त श्रीहरि के परमपद को प्राप्त होते हैं। अब यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब एकान्ती भक्तों का ऐसा महात्म्य है तब सर्व जन एकान्ती भक्त क्यों नहीं होते। इस प्रश्न का समाधान यह है कि इस लोक में बहुत पुरुष रजोगुण और तमोगुण प्रकृति के अधिक है उन्हीं गुणों के द्वारा पुरुषों में अधर्म का संचय अधिक है। सत्वगुण प्रकृति के जन बहुत न्यून हैं जो सात्विक पुरुष हो वही ऐकान्ती हो सकता है वह पुरुष अत्यन्त दुर्ल्लभ है। यह प्रसङ्ग नरायणीयउपाख्यान में वैशम्पायनजी ने वर्णन किया है कि श्रीभगवान् के एकान्ती पुरुष दुर्ल्लभ हैं। यदि यह जगत् एकान्ती भक्तों से परिपूर्ण होजाय तो हे कुरुकुन्दन सतयुग हो कर कलि के धर्म का नाश हो जाय । वह एकान्ती भक्त आत्म स्वरूप के ज्ञाता और हिंसा रहित सर्व भूतों के हितकारी होते हैं।

वेदान्तरत्नमंजूषा

एष एकान्तधर्मस्ते कीर्तितो नृप सत्तम। मया गुरुप्रसादेन दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः। जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः। सात्विकः स तु विज्ञेयो भवेन्मोक्षे च निश्चित इति इतरे राजसैर्भावैस्तामसैश्च समावृताः भविष्यन्ति द्विजश्रेष्ठ मच्छासनपराङ्मुखा इति भगवद्वचनम्। मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यततिसिद्धये यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वत इति च। ननु निरतिशयषाड्गुण्याद्यनन्तधर्माश्रयस्य किमितिभक्तपरतंत्रत्वमिति चेन्न। को वा वेद तदाशयस्यातिगूढत्वादित्याह। अचिन्त्यसाशयादिति, आशयेन सह वर्त्तमानं साशयं तात्पर्यं ब्रह्मादिभिरप्यचिन्त्यम् अतर्क्यम् साशयं तात्पर्यं यस्य सोऽचिन्त्यसाशयस्तस्मात्।

कुंचिका

मनुष्याणामिति मनुष्याः शास्त्रीयाधिकारयोग्यास्तेषां सहस्रषु कश्चिदेकः सिद्धये आत्मतत्वज्ञानाय यतते, यततां यतमानानां सहस्रेषु कश्चिदात्मानं यथावद्वेत्ति। तादृशानां ज्ञानसिद्धानामपि सहस्रेषु कश्चिन्मां परमात्मानं वेति मद्विदामपि सहस्रेषु कश्चिदेव मां तत्वतः यथावस्थितस्वरूपं वेत्ति परमैकान्ति बिना तत्वतो ज्ञानं दुर्लभमेवेति भावः। षड्गुणसम्पन्नस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य कथं भक्ताधीनत्वमित्याशङ्क्य उतर-ग्रन्थमवतारयवि नन्विति।

भाषानुवाद

परम एकान्तियों का धर्म मैंने तुमसे कथन किया यह धर्म अजितेन्द्रिय पुरुषों को दुर्लभ है मैंने यह धर्म श्रीगुरुव्यास देव के अनुग्रह से श्रवण किया। जन्म समय में मधुसूदन जिस पुरुष को देखते है उस पुरुष को सात्विक जानना चाहिये, वही पुरुष मोक्ष रूप अर्थ का निश्चय करता है, जो पुरुष राजस तामस भावों से आवृत है वे पुरुष मेरी आज्ञा से बिमुख होते हैं। हजारों मनुष्यों में कोइ एक ही सिद्धि के अर्थ यत्न करते हैं और यत्नपरायण सहस्रों जनों में कोई एक पुरुष यथार्थ रूप से मेरे को जानता है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि षड्गुण गण सम्पन्न श्रीभगवान् भक्तों के अधीन क्यों होते हैं? इसका समाधान आचार्य चरण स्वयं अचिन्त्य सशयात् इस विशेषण के द्वारा प्रदर्शन करते हैं। अचिन्त्येति। श्रीभगवान् के अभिप्राय को अत्यन्त गूढ़ होने

से कोई भी नहीं जान सकता है। ब्रह्मादिक देवताभी श्रीहरि के तात्पर्य को नहीं जान सकते हैं।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

कोऽद्धावेद यत आवभूव त्वंहि त्वां वेत्थ योऽसि सोऽसि न ते विष्णो-र्जायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परमं तमाप। योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद। न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेषिता नैव च तस्य लिङ्गम् नतं विदाथ य इमा जजान, यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेत्यादि श्रुतिभ्यः। वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन। भविष्याणिच भूतानि मां तु वेद न कश्चनेति गीतायाम्। यं नायं भगवान् ब्रह्मा जानाति परमं पदम्। तं नतास्म जगद्धाम सर्वं सर्वगताच्युतम्। यं न देवा न मुनयो नचाहं नच शङ्करः। जानाति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम्। वाराहे च। प्रजापतिं च रुद्रं च सृजामि च हरामि च केऽपि मां नैव जानन्ति मम मायाविमोहिता इति स्मृतेश्च। ननूदाहृतस्य शास्त्रस्य स्वरूपविषयकज्ञाननिषेधपरत्वात् कथमुक्तार्थे प्रामाण्यमिति चेन्न। कैमुत्यन्यायेन उक्तार्थेऽस्य सिद्धत्वात्। स्वरूपानुभवाभावे सुतरां

कुंचिका

मायया नियन्तुर्मम तया कथञ्चित् कदाचिदपि न ज्ञानावरणं किन्तु तद्वश्यानामेवेत्यतो मां न जानन्तीत्याह वेदाहमिति। अहं परमेश्वरः स्वयोगमायया सर्वान् जीवान् व्यामोहयन्नपि स्वयं सर्वदाऽप्रतिबद्धज्ञानः समतीतानिबहुकालतोविनष्टानिवर्त-मानानि चभविष्याणिचेतिकालत्रयवर्त्तीनिभूतानिस्थावरजङ्गमानिसर्वाणिवेदजानामिहे-अर्जुन अतोऽहंसर्वदाऽखण्डज्ञानत्वात्सर्वज्ञः। मान्तु सर्वदा सर्वत्र विद्यमानमपि मायावश्यः कश्चन कोऽपिमद्भक्तिवर्जितो न वेद अतोमायामोहितत्वान्मां नप्रायेणभजतीत्यर्थः। पद्यतइतिपदपरमप्राप्यस्वरूपं यतः प्रधानादिभ्यःपरंविलक्षणमित्यर्थः। उक्तवचनैः भगवतः स्वरूपविषयकं ज्ञानमेव निषिद्धयते नत्वचिन्त्यसाशयत्वं विधीयत इतिशङ्कते नन्विति।

भाषानुवाद

भगवान् के आशय को कौन साक्षात् जान सकता है, जिससे समस्त जगत की उत्पत्ति होती है। जैसा आपका स्वरूप है उसको तुम ही जान सकते हो। हे विष्णु ! ऐसा पुरुष न हुआ न होगा जो तुम्हारी महिमा के पार को प्राप्त होसके। जो परम व्योम वैकुण्ठ धाममें विराजमान सबका स्वामी है. उसका पति कोई नहीं है—वही यथार्थ भगवान् अपने स्वरूप को जानते हैं। इतना ही मेरा स्वरूप है ऐसे भगवान अपने को नहीं जानते हैं अर्थात श्रीहरि के स्वरूप अनन्त हैं। अतएव इतने ही भगवान के स्वरूप है अधिक नहीं है ऐसा ज्ञान नहीं होता है. श्रीहरि की इयत्ता के ज्ञान का कोई लिंग नहीं है, उसको तुम भी नहीं जानते हो। मन के सहित वाणी जिसके आनन्द को न प्राप्त होकर लौट कर आ जाती है, जो पुरुष श्रीहरि के स्वरूप को जानता है उसको किसी से भय नहीं होता है, हे अर्जुन मैं सर्वज्ञ हूँ भूत,भविष्यत और वर्तमान को मैं जानता हूँ, मेरे को कोई नहीं जानता है—यह श्रीमुख का वचन है, जिसको श्रीहरि और ब्रह्मा भी नहीं जानते है। वह सर्व जगत का आश्रय सर्वस्वरूपगत अच्युत पर स्वरूप है, उसको हम नमस्कार करते हैं। जिसको देवता मुनिगण मैं ब्रह्मा और शंकर ये सब जानने को समर्थ नहीं वह विष्णु का परम पद है, प्रजापति औररुद्र को मैं उत्पन्न करता हूँ, ये मेरी माया से मोहित हैं। अतः ये मेरे को नहीं जान सकते हैं। यहाँ पर यह शङ्का होती है, कि जब श्रीहरि के स्वरूपज्ञान का निषेध श्रुति स्मृति करती हैं और अचिन्त्य साकिशयत्व का विधान नहीं करती है तब उक्त अर्थ श्रुति के द्वारा कैसे सिद्ध होता है।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

तच्चेष्टितानुभवाभाव इति तात्पर्यात्। स्पष्टं चोक्तमेतन्नारायणीये—"ब्रह्मादीनां सलोकानामृषीणां च महात्मनाम्। सांख्यानां योगिनां चापि यतीनामात्मवेदिनम्। मनीषितं विजानाति केशवो नतु तस्य ते, इति। उक्तशास्त्रस्य चेयत्तावच्छिन्नस्वरूपादिविषयकज्ञाननिषेधपरत्वं बोध्यम्। अन्यथा आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति विद्वत्तोक्तिविरोधः स्यादिति भावः। सोऽङ्ग-वेद यदि वा न वेदेत्यत्र यदि वा शब्दोऽवधारणार्थः। याथात्म्येन वेद जानात्येव सर्वज्ञत्वात्। यः सर्वज्ञः सर्वविदिति वाक्यान्तरात्। इयत्तावच्छेदेन तु न वेद,भगवत्स्वरूपगुणादीनामियत्ताशून्यत्वेनानन्तत्वात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति-श्रुतेः। स्पष्टार्थं चान्यत्। एवं पदारविन्दस्याङ्गत्वेऽप्यङ्गाङ्गिनोरभेदविव-

च्याऽचिन्त्यशक्त्यादिविशेषणोक्तिरविरुद्धानुसन्धेया । किञ्च । कृष्णपदारविन्दादित्यत्रपदशब्दग्रहो विग्रहयुक्तस्यैव भगवतः प्रपत्तव्यतां द्योतयति । अरविन्दशब्दश्च सौन्दर्यज्ञापकत्वेन तत्पदनखसौन्दर्यं ध्वनयति इतिविवेकः ।

कुंचिका

यदि चतुर्मुखशिवप्रभृतिभिः श्रीपुरुषोत्तमस्य स्वरूपं नानुभूयते किमुत तद्विचेष्टितानुभव इत्याशयेन परिहरति—नेति। उक्तार्थं प्रमाणेन द्रढयति—स्पष्टञ्चेत्यादिना । उक्तवचनैः श्रीभगवतः स्वरूपविषयकज्ञानं यदि निषिध्यते तदा भगवद्विषयकस्वरूपज्ञानाभावेनानिर्मोक्षप्रसङ्गः, ब्रह्मविन्न ब्रह्मैव भवति—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् , इति श्रीपुरुषोत्तमस्य स्वरूपज्ञानप्रतिपादनपराः श्रुतयः व्याकुप्येरंश्चातःसमादधाति—उक्तशास्त्रस्येति । इयद् भगवत्स्वरूपम , इयन्तो भगवद्गुणाः , इतिकात्स्र्न्येन तु कस्यापि ज्ञातुं न शक्यते, इत्यर्थः । विपक्षे बाधकतर्कमुपन्यस्यति—अन्यथेति । इयत्तावच्छिन्नस्वरूपादिविषयकनिषेधापरत्वे, इत्यर्थः ननु पदारविन्देऽचिन्त्यसाशयत्वं कथं विशेषणमित्याशङ्क्य समाधत्ते—एवंपदारविन्दस्येति ।

भाषानुवाद

इस शङ्का का निवारण यहाँ कैमुत्यन्याय से होता है, जब भगवान का स्वरूपज्ञान नहीं होता तब भगवान के तान-पर्य्य का ज्ञान नहीं होता यह कहना ही क्या है। यह विषय नारायणीय आख्यान में स्पष्ट है. कि लोकों के सहित ब्रह्मादि और महात्मा ऋषि सांख्यवेत्ता और योगी इन सबों की वाह्याभ्य तर समस्त चेष्टा को भगवान जानते हैं, किन्तु ये पूर्वोक्त सब ब्रह्मादिक भगवान की चेष्टा को नहीं जान सकते हैं। उपदर्शित श्रुतियों में भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है, इसका भाव यह है कि भगवान के स्वरूप को इयत्ता से नहीं जानते हैं सामान्य रूप से भगवत स्वरूप विषयक ज्ञान का निषेध नहीं हो सकता। अन्यथा 'ब्रह्मणो विद्वान्' इस श्रुति में विद्वान् शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ हो जायगा और सत्यंज्ञानमनन्तमित्यादि श्रुतियों में ब्रह्मस्वरूपज्ञान का प्रतिपादन किया है यहाँ पर पदारविन्द कहनेसे भगवान कादिव्य विग्रह सूचित किया है वही प्रपत्ति का विषय है।

वेदान्तरत्नमंजूषा

अथ "न विना गुरुसन्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः कुतः । गुरुः पारयिता तस्य ज्ञानं प्लवमिहोच्यते, इति भारते शुकंप्रति जनकवाक्यात् सर्वस्यापि

साधनजातस्य गुरूपसत्तिपूर्वकत्वात् गुरूपसत्तिर्विधीयते । स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः, आचार्यदेवो भव, यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततो विजने विसृजेत् स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्धराङ्वाविसृष्टस्तस्य यथाभिहननं प्रमुच्य ब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति, स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेव सम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो-वेदेत्यादिश्रुतिभ्यः । श्रीगुरुलक्षणञ्च, श्रोत्रियं ब्रह्म नष्ठं, त्रिषु वर्णेषु सम्भूतो मामेव शरणं गतः, नित्यनैमित्तिकपरो मदीयाराधने रतः । आत्मीयपरकीयेषु समो देशिक उच्यत इति । आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः । मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राश्रयः शुचिः । गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः । एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयत इति श्रुतिस्मृतित्युक्तलक्षणमेव गुरुं समाश्रयेन्मुमुक्षुः । विपर्यये दोषस्मरणात् । भिन्नावश्रितः स्तब्धो—

कुंचिका

गुरूपसत्तिमन्तरा न कस्यापि साधनजातस्य प्रवृत्तिः न ज्ञानस्याप्यधिगम इति गुरूपसत्तिं निरूपयति— अथेत्यादि । तत्र मानमाह— न विनेति ।

भाषानुवाद

श्रीभारत में राजा जनक ने श्रीशुकदेवजी के प्रति कहा है कि श्रीगुरुदेव के सम्बन्ध के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती हैं, श्रीगुरुदेव संसार समुद्र के पार कर्त्ता हैं । ज्ञान नौकास्थानापन्न है सर्व साधन की प्राप्ति श्रीगुरुदेव के सम्बन्ध के आधीन है अत एव समित्पाणि होकर पुरुष को श्रीगुरुदेव के शरण में जाना उचित है । आचार्य्य की उपासना देवता के समान करनी चाहिये, जैसे किसी पुरुष को चोरों ने गन्धार देश से पकड़ कर उसके नेत्रों में पट्टीबाँध के द्रव्य लूट के निर्जन वन में उस पुरुष को छोड़ दिया वह पुरुष बद्धनेत्र पूर्व उत्तर दिशामें टक्कर खाता हुआ फिरने लगा कदाचित् किसी दयालु पुरुष ने उस व्यक्ति को देख के दया से उसके नेत्रों का बन्धन खोल दिया उसने कहा कि इस तरफ गन्धार देश है इस मार्ग से तू चला जा, आगे-आगे पूछता हुआ गन्धार देश में स्थित अपने गृह को पहुँच जायेगा । वह पुरुष बुद्धिमान जैसे ग्रामान्तर से ग्राम को पूछता हुआ अपने गन्धार देश को पहुँच गया, तैसे आचार्य्यवान पुरुष तत्त्व को जान सकता है । यह कथा उपनिषदों में विद्यमान हैं ।। अब श्रीगुरुदेव का लक्षण

दिखालाते हैं कि श्रोत्रिय, शास्त्रपारगामी ब्रह्मनिष्ठ–ब्रह्म के स्वरूप–गुणादिकों का साक्षात द्रष्टा तीन वर्णों में जिसका जन्म हो. मेरी शरणागत, नित्य नैमित्तिककर्म, परायण मेरे आराधन में तत्पर, आत्मीय परकीय में समबुद्धि हो, उसको देशिक कहते हैं। वेद–शास्त्र सम्पन्न, विष्णुभक्त मदमात्सर्यहीन और मन्त्र का भक्त सदा मन्त्र के आश्रय सदाचार-निष्ठ गुरुभक्त मदमात्सर्यहीन और मन्त्र का ज्ञाता, मन्त्र का भक्त, सदा मन्त्र के आश्रय, सदाचारनिष्ठ, गुरुभक्तियुक्त. पुराणज्ञाता. इतने लक्षणसम्पन्न जो होय वही गुरु कहलाता हैं। ऐसे श्रीगुरु की शरण में जाना चाहिये।

वेदान्तरत्नमञ्जूषा

यथा पारं न गच्छति । ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य कुतो मोक्षमवाप्नुयात्, इत्यादिना। अथ शिष्य लक्षणम्-'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः, 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् "नास्त्यकृतः कृतेन, तस्मै स विद्वान उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्वितायेति" श्रुतिभ्यः आस्तिको धर्मशीलश्च शीलवान् वैष्णवः शुचिः। गम्भीरश्चतुरो धीरश्शिष्य-इत्यभिधीयते, इत्यादिस्मृतेः। तत्रादौ श्रीगुरुः शिष्यं जातिगुणादिना परीक्ष्य तस्मै गुरुपरम्परोपदेशपूर्वकं विद्यामुपदिशेत। शिक्षायाः परीक्षापूर्वकत्वंविधी-यते श्रीव्यासेन। नापरीक्षितचारत्रे विद्या देया कथञ्चन। यथाहि कनकं शुद्धं तापच्छेदनघर्षणैः। परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत कुलगुणादिभिः, इति, मोक्षधर्मे। परम्परोदेशश्च स आचार्यवंशो ज्ञेयो भवति। आचार्याणामसावसौ, 'येनाक्षरं परमं वेद सत्यं,'प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्यामित्यादिश्रुतेः। परम्परा-मुपदिशेत् गुरूणां परमो गुरुः। अनुकाङ्क्षन् —

कुंचिका

तद्विज्ञानार्थमिति। तस्य वेदान्तवेद्यस्य ब्रह्मणः स्वरूपगुणादिविषयकज्ञानार्थं साक्षात्कारानुभवार्थंम। स' मुमुक्षुः। रिक्तहस्तत्ववारणाय–समित्पाणिरिति। उपलक्षण-मेतत पूजोपकरणस्य, यथाशक्तिपूजोपकरणहस्त इत्यर्थः। परीक्ष्येति। लोकानां कर्मजन्यत्वेन हेतुना क्षयिष्णुत्वं व्यवस्येत्यर्थः। निर्हेतुकोनिर्वेदोऽत्र विवक्षितः। अकृतः-नित्यः, कृतेन कर्मणा,तस्मै उक्ताधिकारिणे मुमुक्षवे। विद्वान सर्ववेदान्तार्थविद्, उपसन्नाय-मायादम्भादित्यागपूर्वकाचार्य्यानन्याश्रिताय, तत्र हेतुः प्रशान्तचित्ताय — प्रशान्तं वित्तलोकेषणाशून्यं चित्तं यस्य तस्मै,अत एव शमान्वितायेति। विक्षेपादिशून्याय कामादीनां विक्षेपहेतूनां नष्टत्वात उक्तलक्षणाय शिष्याय ब्रह्मविद्यां प्रोवाच इत्यर्थः। स्मृतिप्रमाणेन शिष्यस्य लक्षणं निर्वक्ति—आस्तिक इत्यादिना।

भाषानुवाद

उक्तलक्षण सम्पन्नरहित गुरु की शरण जाने में दोष कहा कि भिन्ननावमिति, फूटी नाव में चढ़ने से जैसे पुरुष नदी के पार नहीं होसकता है, वैसे ज्ञानहीन गुरु की शरण को प्राप्त होके शिष्य मोक्ष को नहीं प्राप्त हो सकता है। अब शिष्य का लक्षण दिखलाते हैं। भगवान के स्वरूपादि विषयक ज्ञान के लिये श्रीगुरुदेव के समीप जाना चाहिये। जैसे इस लोक में कर्म से संचित फल का नाश होता है तैसे स्वर्गलोग प्राप्त करने के साधनधर्म जन्य फल का भी नाश होता है। अतएव कर्मजन्य, फल अनित्य है इस प्रकार परीक्षा कर ब्राह्मण को निर्वेद (संसार से वैराग्य) होना चाहिये. कृत कर्म से अकृत मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है. अतएव शिष्य श्रीगुरुदेव की शरण जाय के गुरु से प्रार्थना करे तब सर्व वेदान्तार्थवेत्ता श्रीगुरुदेव माया आदि; और विक्षेपादिकों से रहित सत लक्षण सम्पन्न शिष्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश करें, शिष्य आस्तिक धर्म शील वैष्णव सदाचारी गम्भीर और शुद्ध चतुर धैर्यवान होना चहिये। प्रथम श्रीगुरुदेव शिष्य की जाति गुण स्वभावादिकों के द्वारा परीक्षा करें, उसके अनन्तर आचार्य्यपरम्परा पूर्वक विद्या का उपदेश करें। परीक्षा पूर्वक शिष्य करना चाहिये यह वेद व्यास का कथन है। जिसके चरित्र की परीक्षा नहीं की, उसको विद्या का उपदेश नहीं करें। जैसे स्वर्ण को ताप छेदन घर्षण के द्वारा परीक्षा कर शुद्ध कर लेते हैं, वैसे शिष्य की कुल गुणादिकों से परीक्षा करनी चाहिये। यह मोक्ष धर्म में कहा है। शिष्य को आचार्य परम्परा का उपदेश करना चाहिये।

वेदान्तरत्न मञ्जूषा

सदा शिष्यं गुरुरौरसपुत्रवत्। विद्यां समाहितो भूत्वा प्रापयेदुपधिं विना। तथोपनिषदोविद्यां विश्वासज्ञानवर्द्धिनीम्। अन्यामाध्यात्मिकीं विद्यां शिष्यावस्थानुरूपत इति स्मरणाच्च। अथ नमस्कारादिपूर्वकमुक्तलक्षणाद् गुरोरुक्तलक्षणो मुमुक्षुः शास्त्रोक्तविधानेन शिक्षितां विद्यां गृह्णीयात्। नमस्कृत्य गुरुं दीर्घप्रणामैस्त्रिभिरादृतः। तत्पादौ गृह्य मूर्ध्निस्वे निधाय विधिनान्वितः। गृह्णीयान्मन्त्रराजं तं निधिकाङ्क्षीव निर्धनः। दत्वा तु दक्षिणां तस्मै यथाशक्ति यथाविधि, तमर्चयेद्यथाकालं पाद्यं चास्य सदाचरेदिति स्मृतेः। अथोक्तेषु कर्मज्ञानादिषु साधनेषु असमर्थस्य यथा भगवदुपसत्तिरुक्ता तथोपसत्तेरङ्गानामनुष्ठानमत्यन्तदुष्करं ज्ञात्वा तत्राप्यसमर्थस्य श्रीगुर्वाज्ञानुवृत्ति-

विधीयते। यस्य देवे परा भक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ आचार्यदेवो भवेत्यादिश्रुतिभिः।

कुँचिका

भक्तेरुपायानुष्ठानेऽसमर्थस्य पुंसः गुर्वाज्ञानुसारित्वं विधीयते अथोक्तेष्विति। उक्तार्थं प्रमाणेन द्रढयति—यस्येति। आचार्य्योपासनमिति। गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः। एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते, इति स्मृत्युक्तलक्षणसम्पन्न आचार्यो विवक्षितः मोक्षमार्गदर्शित्वात। तस्योपासनं निर्मायकतया वाङ्मनःकायैः सेवनं शौचं बाह्याभ्यन्तरभेदात् द्विविधमित्यर्थः।

भाषानुवाद

पुत्र के समान श्रीगुरु शिष्य के हित की इच्छा करें, श्रीगुरुदेव शिष्य को विधि पूर्वक विद्या ग्रहण करावें। उपनिषत सम्बन्धी विद्या विश्वास को बढ़ाने वाली और अध्यात्म विद्या शिष्य की अवस्था के अनुकुल ग्रहण करानी चाहिये। उक्त लक्षण सम्पन्न शिष्य प्रागदर्शितलक्षणसम्पन्न श्रीगुरुदेव के समीपजाय के नमस्कार पूर्वक शास्त्रोक्त विधि से विद्या को ग्रहण करे। नमस्कार कर दीर्घ प्रणाम करें, आदर सहित श्रीगुरुदेव के चरणारविन्द को मस्तक पर धारण करे, जैसे निर्धन जन निधि को आकांक्षा से ग्रहण करता है. तद्वत श्रीगुरुदेव के मुख से मन्त्रराज को ग्रहण करना चाहिये, यथाशक्ति विधि पूर्वक उन्हीं को दक्षिणा अर्पण करे, श्रीगुरुदेवजी का अर्चन करता रहै उन्हीं के चरणोदक को सदा ग्रहण करता रहै। अब गुरु आज्ञानुवृत्ति दिखलाते हैं। अथेति—पूर्वोक्त कर्म साधनों के आचरण करने में जो असमर्थ हो और भगवान की उपसत्ति के अङ्गों का भी अनुष्ठान नहीं कर सके उस पुरुष को श्रीगुरुदेव की आज्ञा का पालन करना उचित है। जिस पुरुष की पर देव श्रीपुरुषोत्तम में जैसी भक्ति है वैसी श्रीगुरुदेव में पराभक्ति हो उसको वेदान्त में उक्त अर्थों का प्रकाश होता है, आचार्य्य साक्षात देवता है यह बचन उक्त अर्थ में प्रमाण है।

वेदान्तरत्न मंजूषा

आचार्य्योपासनं शौचमित्यादि, अन्येत्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य-उपासते। तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः, इति भगवद्वचनाच्च गुर्वाज्ञानुवृत्तित्वं नाम देववच्छ्रीगुरोः शुश्रूषापरो भूत्वा तदाज्ञानुसारित्वम्।

आत्मनः सर्वोपायानर्हतां मत्वा श्रीगुरुदेव एव ममोपायोपेयश्चेति व्यवसायदार्ढ्येन यथा बालः स्वहिताहितानभिज्ञो मातरमेव सर्वभावेनानुसरति तन्माता च तं सर्वापद्भ्यो रक्षति सर्वं योगक्षेमं वहति च तथैवास्य हिताहितं सर्वं त्यक्त्वा श्रीगुरुशुश्रूषारतो मुमुक्षुर्यदा भवेत् तदैव तस्य सर्वात्मना रक्षणं योगक्षेमश्च करुणावरुणालयः श्रीगुरुः स्वयमेव करोतीति स्तनन्धयशिशुरोगनिवृत्यर्थं तन्मात्रौषधभक्षणादिवदित्यर्थः। तस्यानुवृत्तिप्रकारश्च गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परं धनम्। गुरुरेव परः कामो गुरुरेव परायणः। गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परा गतिः। अर्चनीयश्च वन्द्यश्च कीर्तनीयश्च सर्वदा। ध्यायेज्जपेन्नमेद् भक्त्या भजेदभ्यर्चयेन्मुदा। उपायोपेयभावेन तमेव शरणं व्रजेत्। शरीरंचासुविज्ञानं वासः कर्म गुणानूवसून्। गुर्वर्थं धारयेद्यस्तु स शिष्यो नेतरः स्मृत इतिजय दाख्यानसंहितायाम्। किञ्च

टीका

अन्येत्विति अन्येतूक्तयोगादिसाधनेष्वनधिकृता एवमुक्तप्रकारेणात्मानमजानन्तोऽन्येभ्यस्तत्वदर्शिभ्यो गुरुभ्यः श्रुत्वा इत्थं तत्वं जानीतेत्युक्ताः सन्त उपासते श्रद्धाविश्वासेनाङ्गीकुर्वन्ति।

भाषानुवाद

आचार्य्य की उपासना करनी चाहिये। जो जन सांख्ययोग में दर्शित साधनों के अधिकारी नहीं हैं किन्तु श्रीगुरुदेव के मुखारबिन्द से श्रवण कर श्रद्धा विश्वास पूर्वक श्रीहरि की उपासना करते हैं तो वे जन भी मृत्यु को तर जाते हैं। अब श्रीगुरु आज्ञा अनुवृत्ति के लक्षण कहते हैं कि देवता के समान श्रीगुरुदेव की शुश्रूषा परायण होयके उन्हीं की आज्ञा के अनुकूल आचरण करना। अपने को सब साधनों में असमर्थ निश्चय कर श्रीगुरुदेव ही मेरे साधन और धन रूप हैं ऐसा दृढ़ विश्वास से जैसे बालक अपने हित औ अहित को नहीं समझता है सर्व प्रकार से माताका ही अनुसरण करता है अतएवबालककी माताभी बालककी सब आपदाओंसे रक्षाकरती है उसके योगक्षेम को वहन करती है, वैसे श्रीगुरु सेवकजन अपने हित और अहित का परित्याग कर श्रीगुरु शुश्रूषा परायण होता है उस जन की सर्व प्रकार से करुणासागर श्रीगुरु-

वे० र० मञ्जूषा :—श्रीगुरुविमुखं पुरुषं श्रीपुरुषोत्तमोऽपित्यजतीति तत्रैवोक्तम्, अतोगुर्वनुवृत्तिःसर्वात्मना कार्या। नारायणोऽपयाति गुरोः प्रच्युतस्य दुर्बुद्धेः। कमलं जलादपेतं शोषयतिरविर्न तोषयति ॥ श्रीविष्णोः प्रतिमाकारं लोहबुद्धिं करोति वा। श्रीगुरौमानुषं भावमुभौ नरकपातिनौ ॥ सामान्यतो विशेषाँश्च तस्मै धर्मानशेषतः। आचिनोति स आचार्यस्तस्मै द्रुह्येन्न कर्हिचित्। मनु०॥ गु शब्दस्त्वन्धकाराख्यो रु शब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारविरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।

कंचिका :—तेऽपिश्रुति परायणाः श्रद्धया श्रवणपरायणाः सन्तो मृत्युं संसारं तरन्तीत्यर्थः। उक्तार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति यथा बाल इति :—

भाषानुवादः—गुरुदेव ही रक्षा एवं योगक्षेम करते हैं। जैसे दूध पीने वाले अबोध बालक के रोगादि दुःखों की निवृत्ति के लिये उसकी माता स्वयं औषध सेवन आदि उपाय करती है,वैसे ही श्रीगुरुदेव शिष्यकी रक्षा के लिये प्रयत्न-करते हैं। अतः शिष्यको चाहिये कि सब अवलम्बों को छोड़ कर श्रीगुरुदेव पर ही निर्भर रहै. और निम्न प्रकार की अनुवृत्ति करै कि, परम ब्रह्म, तथा परम धन. और परम कामइच्छा, परम गति, परम आश्रय एवं सर्व श्रेष्ठ विद्या ये सब कुछ श्रीगुरुदेव ही हैं। अतः अर्चन वन्दन,ध्यान एवं सदा श्रीगुरुदेव के ही नाम का संकीर्तन करता रहै। और भक्ति एवं प्रार्थना पूर्वक अनवरत श्रीगुरुदेव की ही सेवा करता रहै। अभीष्ट फल और उसकी प्राप्ति का उपाय भी श्रीगुरुदेव को ही समझ कर उन के शरणागत हो। जो साधक शरीर, बुद्धि, वस्त्र, कर्म, गुण, धन आदिक अपना सर्वस्व श्रीगुरुदेव के निमित्त ही धारण करता है वही शिष्य कहलाता है,अन्तर रखने वाला व्यक्ति शिष्य नहीं कहा जासकता,यहसब श्रीनारद पञ्चरात्रान्तर्गत जयदाख्यान संहिता में स्पष्ट वर्णन किया गया है। गुरु विमुख प्राणी को भगवान भी नहीं अपनाते— तात्पर्य यह है कि, जैसे समस्त वृक्षलताओं के पोषण करने वाले सूर्यदेव, जल से बाहिर पड़े हुए कमल को पोषित-एवं प्रफुल्लित नहीं बनाते अपितु सुखा ही देते हैं वैसे ही भगवान भी गुरु विमुख प्राणी पर प्रेम नहीं करते अर्थात अपना सेवक भी कदाचित गुरु विमुख हो जाय तो उसको भी भगवान त्याग देते हैं। कारण, श्रीविष्णुभगवान की प्रतिमा में धातु बुद्धि करने वाला और श्रीगुरुदेव में मनुष्य बुद्धि रखने वाला ये दोनों ही नरक गामी होते हैं। अब मनु महराज के बतलाये हुये— गुरु एवं आचार्य के लक्षण कहते हैं। शास्त्रोमें से सामान्य और विशेष सभी अर्थों का संग्रह कर के शिष्य को ग्रहण करावे उसी को आचार्य कहते हैं। ऐसे आचार्य

वे० र० मञ्जूषा—येनैव गुरुणा यस्य न्यासविद्या प्रदीयते । तस्य वैकुण्ठ दुग्धाब्धिद्वारका सर्वं एव सः ॥ ऐहिकाऽमुष्मिकं सर्वं गुरुरष्टाक्षरप्रदः । इत्येवं ये न मन्यन्ते त्यक्तव्यास्ते मनीषिभिः ॥ एकाक्षरप्रदातारमाचार्यं योऽवमन्यते। शुनो योनिशतं प्राप्य चाण्डालेष्वभिजायते । इत्यादिभ्यः । एवं वृत्तस्य श्रीगुरु देवताकस्य सनाथस्य पुरुषस्यैहिकाऽमुष्मिकं सर्वं गुरुरेव करोति । श्रीगुर्वाज्ञा-पालकस्य कृत्यान्तरं नास्तीति भावः । तथाचाह वनपर्वणि सात्यकिः—श्रीबल देवं प्रति—ये नाथवन्तो हि भवन्तिलोके, ते नात्मकर्माणि समारभन्ते ।

कार्येषु तेषां प्रभवन्ति नाथाः शैव्यादया राम ! यथा ययातिरिति ।

(म० भा० व० प० अ० १२४ श्लोक २)

कुंचिका: गुर्वाज्ञानुवृत्तस्य शिष्यस्य कृत्यान्तराभावं प्रमाणेन दृढयति, तथाचाहेत्यादिना ।

भाषानुवाद:—जिस श्रीगुरुदेव से शिष्य को न्यास (श्रीगोपाल अष्टादशाक्षर आदि मन्त्र और उसके जपादि विधान) विद्या प्राप्त हुई हो उस शिष्य के लिये वैकुण्ठ, क्षीर सागर, द्वारका आदि सम्पूर्ण तीर्थ वह श्रीगुरुदेव ही है। लोक और परलोक भी अष्टाक्षर आदि मन्त्र देने वाले गुरुदेव को मानना चाहिये । जो मन्त्र प्रदान करने वाले गुरुदेव में उपरोक्त भाव नहीं रखता, उस शिष्य के त्याग देने में कुछ भी दोष नहीं। जो पुरुष कल्याण कारी एक भी अक्षर प्रदान करने वाले आचार्य की अवज्ञा करता है वह सैकड़ों बार कुत्ते की योनि में जन्म लेकर आखिर चाण्डाल के घर जन्म लेता है। इत्यादि महाभारत और भागवत आदि पुराणों के अनेकों ही वाक्यों में श्रीगुरुदेव की महिमा का वर्णन मिलता है।

उपरोक्त प्रमाणों के अनुसार परम देवता मानकर जो पुरुष श्रीगुरुदेव की उपसना करता है उसके लोक और परलोक दोनों का सुधार श्रीगुरुदेव ही करते हैं, अतएव श्री गुरुदेव की आज्ञा को पालन करने वाले शिष्य को और किसी प्रयत्नकरनेकी आवश्यकता नहीं रहती, । यह आशय महाभारत के बनपर्व में श्रीबलदेवजी के प्रति सात्यकि ने प्रकट किया है, - अर्थात हे श्रीबलराम ? संसार में जो पुरुष-भगवान् के आश्रित बन चुके वे सनाथ हैं अतः वे अपने लिये कुछ कर्म नहीं करते, अर्थात् कर्मों के बनने और बिगड़ने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, कारण,अपने आश्रितों के समस्त कार्य प्रभु ही सुधारते हैं। जैसे कि महाराजा ययाति के कार्यों को शैव्यादिकों ने बनाये थे।

वे० र० मंजूषा—

किञ्चगुर्वाज्ञानुवर्तनादेव सर्वेप्सितोपलब्धिमीरते आद्यपर्वणि गुरुशिष्याऽख्याने श्रीभगवता सूत्रकृता व्यासेनैव निपुणं विस्तरेणैव वर्णिता तत्रैव द्रष्टव्या। पापिष्ठः-क्षात्रबन्धुश्च पुण्डरीकश्च पुण्यकृत्। आचार्यवत्तया मुक्तौ तस्मादाचार्यवान्भवेत्। इत्यादि वाक्यान्यनुसंधेयानि। किञ्च-सर्वेषामप्युपायानां सात्विकया श्रद्धापूर्वकत्वात् श्रद्धया सर्वमनुष्ठेयम्। तथाचाम्नायते, श्रद्धया देयम्, अश्रद्धयानदेयम्, श्रद्धयाग्निः समिन्धते, इत्यादि। इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वित, इति भीष्मोक्तेः। अश्रद्धया कृतस्यासुरभागित्वमप्युच्यते हरिवंशे, श्री वामनेन। अश्रोत्रियं श्राद्धमधीतमव्रतं मदक्षिणं यज्ञमनृत्विजा हुतम्। अश्रद्धया दत्तम संस्कृतं हविर्भगाः षडेते तव दैत्य सत्तम ? इति। गीयतेचाश्रद्धया कृतस्य नैष्फल्यम्—अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ ? नच तत्प्रेत्य नो इह। इति।

भाषानुवादः-सारांश यह है कि-श्रीगुरुदेव की आज्ञाके पालन करनेसे ही समस्त अभीष्टों की प्राप्ति हो जाती है, यह आशय-सूत्रकार भगवान श्रीव्यासदेव जी ने विस्तार पूर्वक महाभारत के आद्य पर्व में वर्णन किया है वहाँ पर ही देखना चाहिये।

पापिष्ठ क्षत्रबन्धु और पुण्यकर्मी पुण्डरीक ये दोनों ही आचार्य की कृपा से मुक्त हो गये, अतः आचार्य (गुरु) का अवलम्ब अवश्य लेना चहिये। इत्यादि वाक्यों का अनु-सन्धान करना चाहिये।

सभी जततप कर्म ज्ञान आदि साधन श्रद्धा से करने पर ही सफल होते हैं। अतएव (गीता १७ वें अध्याय के अनुसार) साधक को सात्विकी श्रद्धा रखना परम आवश्यक है। दान श्रद्धासे देना चाहिये,श्रद्धा विना नहीं देना चाहिये। श्रद्धा से अग्निदेव अभिवृद्ध होता है। अर्थात शीघ्र फल देता है। इत्यादि अर्थ वाली श्रुतियाँ ही उपरोक्त कथन में प्रमाण हैं। भीष्मजी ने भी कहा है कि—श्रद्धा और भक्ति पूर्वक इस स्तोत्र को पढ़नेवाले को ही सुखादि की प्राप्ति हो सकती है।

अश्रद्धा (अविश्वास) से किये हुए देवता आराधन आदि पुण्य कर्मों से देवता सन्तुष्ट नहीं होते,इतनाही नहीं अपितु साधक की उस आराधनाको स्वीकार भी नहींकरते,कारण-वे कर्म असुरों के ही उपभोग में आते हैं, यह आशय श्रीहरिवंश में श्रीवामनभगवान ने प्रकट किया है।

हे दैत्यवर ! श्रोत्रिय (वैदिक-ब्राह्मण) रहित श्राद्ध, व्रत रहित अध्ययन, बिना दक्षिणा का यज्ञ,ऋत्विक् रहित,हवन बिना श्रद्धा के दिया हुआ दान, और संस्कार रहित

वे० र० मंजूषा—"श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्" इत्यादि अन्यान्यप्यनुसंधेयानि। अथ भक्ति योग माह—

मूल—"कृपाऽस्यदैन्यादि युजि प्रजायते, यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः, साचोत्तमासाधनरूपिकापरा॥ ६॥

कुंचिका :—कृपाऽस्येति--अस्य--निरतिशय-स्वाभाविक-कारुण्य-वात्सल्यक्षमा-सौहार्द सत्यप्रतिज्ञात्वादिगुणाब्धेः श्रीकृष्णस्य, कृपा दैन्यादियुजि पुंसि प्रजायते, इति योजना। उपाया नैव सिद्धयन्तीत्यापाया विविधास्तथा। इति यागर्वहानिस्तद्दैन्यं कार्पण्यमुच्यते॥ इति वचनाद्दैन्यं कार्पण्यमादि यस्याऽसौ दैन्यादि षडङ्गा पूर्वोक्ता शरणागतिः—

भाषानुवाद : - हविइन छओं कर्मों में तुम्हारा ही भाग है।

श्रीभगवद्गीता में भा श्रद्धा विना किये हुए कर्म को निष्फल बतलाया है—अर्थात् हे अर्जुन,श्रद्धा रहित किया हुआ हवन, दान,तप और पुण्य कर्म ये सब असत् कहलाते हैं, अर्थात् इन का फल न इस लोक में ही मिलता और न परलोक में ही मिलता।

दाता द्वारा दिया हुआ दान श्रद्धा से पवित्र अर्थात सुन्दर फल दायक बन जाता है, और श्रद्धा विना दिया हुआ विनष्ट हो जाता है. इत्यादिवाक्य भी उपरोक्त कथन में प्रमाण समझने चाहिये।

अब--"कृपाऽस्य" इसऽश्लोक के द्वारा भक्ति योग का वर्णन करते हैं।

साधन रूपा और साध्यरूपा दोनों ही प्रकार की भक्ति भगवान् की कृपा होने पर ही बन सकती है, और निरतिशय करुणा, वात्सल्य, क्षमा, सौहार्द एवं सत्य प्रतिज्ञता आदि स्वाभविक गुणों के समुद्र, आनन्दकन्द ब्रजचन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र, पूर्वोक्त गुर्वाज्ञानुवृत्ति, तथा शरणागति प्राप्त दीन जनों पर ही कृपा करते हैं। अर्थात्-दैन्य, गुरुदेव की आज्ञा का पालन आदि गुणों की प्राप्ति होने पर भगवत्कृपा और भगवत कृपा होने पर साधन भक्ति की प्राप्ति पश्चात् अनन्याधिपति परात्पर पर ब्रह्म श्रीसर्वेश्वर प्रभु की प्रेम विशेष रूपा उत्तमा भक्ति की प्राप्ति होती है, परमानन्द चाहने वाले साधकों का यही एक सर्वोच्च साध्य है।

यहाँ पर दैन्य शब्द का अर्थ—"उपाया नैव" इस प्रमाण से गर्व हानि रूप एवं शरणागति ही समझना चाहिये, अर्थात् जब तक प्राणी अपने हित के लिये गर्व पूर्वक अनेकों प्रयत्न करता रहता है किन्तु भगवान के अवलम्ब विना वे सब निष्फल होते जाते हैं तब आखिर वह अपने अभिमान को छोड़ कर भगवान का आश्रय लेता है, उसी निरभिमानी शरणागत पर भगवान् कृपा करते हैं।

वे० र०मञ्जूषा :—तत्सम्पन्ने ह्यनन्यप्रपन्ने जने। पूर्वोक्तोपायेषु प्रपत्तेरेव परामर्शात्तस्याः प्राधान्योपायता सूचिता, प्रतिज्ञातञ्चैतत्स्वयमेव सत्यप्रतिज्ञेन भगवता—

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत ? तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ मामेव ये प्रपद्यन्ते माया मेतां तरन्तिते, इति।

कुञ्चिका :—पूर्वोक्तोपायेषु-कर्म ज्ञान भक्ति प्रपत्ति गुर्वाज्ञानुवृत्यात्मकेषु। नन्वेवंचेत्तर्हि मायायास्तत्प्रयोजकस्य नित्यत्वात्कस्यापि कदापि संसारनिवृत्तिर्नस्यात्कथं मोक्षाशेति चेत्तत्राह—तमेवेति - यः सर्वभूतानां भ्रामको मायाया अपि नियन्ता वात्सल्यकारुण्यसौहार्दादि गुणपारवश्येन त्वत्सारथ्यमंगीकृत्य तद्धितंचिकीर्षुस्त्वत्प्रशासिता, तमेव सर्वभावेन-सर्वात्मना। शरणं गच्छ-तदुक्तं सर्वं निर्मायिकत्वेन कुरुष्व तस्मान्मदुक्तप्रकारेण श्रद्धाख्यं स्वधर्मं कुर्वन्, तत्प्रसादात्-तस्य मम, अनुग्रहात परां शान्ति निश्शेषाविद्यानिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दरूपां भगवद्भावाप्तिं, शाश्वतं-प्रकृतिकाल-कर्म-सम्बन्ध शून्य-नित्यैकरसं, स्थानं परमपदं विष्णुपदादिशब्दाभिधेयं धाम प्राप्स्यसीत्यर्थः मामेवेति-मामेव-सर्वेश्वरं सर्वज्ञं सर्वशक्तिं मायानियन्तारं प्रपद्यन्ते-स्वपुरुषार्थाभिमानं साधनान्तरं च विहाय साधनसाध्यरूपं निश्चित्य सर्वात्मना भजन्ते, आनुकूल्य संकल्पादि कार्पण्यतां षड्विधां शरणागतिं मयि कुर्वन्ति त एवैतां मम मायां तरन्ति वर्जयन्तीत्यर्थः ॥

भाषानुवाद:—दैन्यादि-इस समासान्त पद का यह भाव है कि-दैन्य-गर्व हानि, जिसके आदिमें हो वही पूर्वोक्त छ अंगोंवाला शरणागति योग, दैन्यादि कहलाता है। अर्थात—धन जन जाति कुल परिवार आदि समस्त हिताभासों का अभिमान छोड़कर, अनन्य भाव से करुणानिधि श्रीकृष्णचन्द्र की शरण में आने वाले शरणागति सम्पन्न अनन्य प्रपन्न जन पर ही प्रभु कृपा करते हैं

पूर्वोक्त कर्म, ज्ञान, भक्ति, गुर्वाज्ञानुवृत्ति आदि उपायों में से यहाँ दैन्य पद से प्रपत्ति का ही परामर्श किया गया है, अतः भगवत्प्राप्ति ही प्रधान उपाय है, यह सूचित होता है,सत्य प्रतिज्ञ श्रीनन्दनन्दनने भी ऐसी ही प्रतिज्ञा की है। अर्थात हे अर्जुन ! तू सब प्रकार से उसी अन्तर्यामी प्रभु की शरण जाओ, उस की कृपा से परम शान्ति जनक भगवद्भावापत्ति रूप परमानन्द एवं नित्यधाम को प्राप्त होगा। (गी० अ० १८) जो अनन्य भाव से मेरी शरण में आते हैं वेही मेरी माया से मुक्त हो सकते हैं। (गी०अ०७)

वे० र० मञ्जूषा—सत्यप्रतिज्ञत्वञ्च श्रीमुखेनैवोक्त' वनपर्वणि द्रौपदींप्रति—
पतेद् द्यौर्हिमवान् शीर्य्येत् पृथिवी शकली भवेत् । शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे ? न मे मोघं वचोभवेत् । इति ।

वाल्मीकीयारण्यकाण्डे च :—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् । नतु प्रतिज्ञां संश्रुत्य, ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥ अनुक्तेनाऽपि वैदेहि ? प्रतिज्ञायाथ किं पुनः । इति ।
सत्यप्रतिज्ञत्वादिगुणाश्रयत्वेऽपि असक्तस्य सर्वे गुणा अकिञ्चित्करा इत्याशङ्काव्यावृत्तये विशिनष्टि "अनन्याधिपते." इति अन्योऽधिपतिर्यस्यसोऽन्याधिपतिः, नान्याधिपतिरनन्याधिपतिरिति, तस्य ।

भाषानुवाद :- भगवान् सत्य प्रतिज्ञ हैं. अर्थात् अमिट आपत्तियों के आने पर भी वे अपनी प्रतिज्ञा को नहीं टलने देते, इस आशय को भगवान् ने स्वयं ही द्रौपदी के प्रति प्रकट किया है, महाभारत वन पर्व । हे! कृष्णे! आकाश चाहे गिर पड़े, हिमालय पर्वत चाहे विशीर्ण होजाय, पृथ्वी के चाहे टुकड़े टुकड़े होजायें समुद्र चाहे सूख जाँय, परन्तु मेरी प्रतिज्ञा भूंठी नहीं हो सकती ।

श्रीरामावतार में भी भगवान् ने श्रीजानकी जी के प्रति यही आशय प्रकट किया है. वाल्मीकी रामायण अरण्य काण्ड सर्ग १० श्लोक १६-२० । हे सीते ! मैं अपना जीवन को त्याग सकता हूँ एव लक्ष्मण सहित तुमको भी त्याग सकता हूँ किन्तु किसी को वचन देकर उसका परित्याग नहीं कर सकता, उसमें भी ब्राह्मणों के लिये की हुई प्रतिज्ञा को तो किसी भी प्रकार से नहीं छोड़ सकता।

हे जानकि! ऋषियों का पालन करना. विना प्रतिज्ञा किये हुए भी मेरा मुख्य कार्य है. फिर जिन ऋषियों को उनके कष्ट दूर करने की प्रतिज्ञा सुनादी है, उनके विषय में तो परिवर्तन की आशंका ही नहीं ।

सत्य प्रतिज्ञा आदि गुणों के होने पर भी यदि सामर्थ्य नहीं हो तो केवल सत्य प्रतिज्ञादि गुणों से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ? इस शंका को मिटाने के लिये ही श्री आचार्य पाद ने 'अनन्याधिपति' यह विशेषण दिया है। भाव यह है कि भगवान् से बढकर अथवा उनके समान सामर्थ्य वाला संसार में कोई है ही नहीं, अतःएव भगवान् ही समस्त सामर्थ्य वालों के अधिपति हैं, उनका कोई अधिपति नहीं ।

वे० र०मञ्जूषा :—तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम् । परं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ न तत्समोस्त्यभ्यधिकश्च दृश्यते । न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके, नचेशिता नैव च तस्य लिंगम् । न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः स कारणं कारणाधिपाधिप" इति । त्वं ब्रह्म परमं धाम पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा । असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषिमे ॥

कुंचिका :—अनन्याधिपतित्वं श्रीभगवतः श्रुतिमानेन व्यवस्थापयति "तमीश्वरेत्यादिना, श्रुतयस्तु प्राग् व्याख्याताः । परं ब्रह्मेति—तद्ब्रह्म परमं धाम, तद्धयेयं मोक्षकांक्षिणा । श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमम्पदम् ॥ 'पवित्राणां पवित्रं यः ।" पवित्राणां हि गोविन्द ! पवित्रं परमुच्यते । पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मंगलानां च मङ्गलम् । इत्यादि शास्त्रे य उच्यते स एव भवान् ।

यतः शाश्वतं (सर्वदैकरूपं) दिवि (परमे व्योम्नि) भवं (विद्यमानं) दिव्यम । आदिदेवं (स्वयं प्रशस्तं) देवानामादिकारणमितिवा, तथाऽजं (जन्म रहितं) विभु (व्यापकं) त्वामाहुरित्युत्तरेणान्वयः ।

एवं भूतं त्वां ऋषयः (सूक्ष्मार्थदर्शिनः) सर्वे भृग्वादय आहुस्तथा देवर्षिर्नारदः, असितो देवलश्च व्यासः (कृष्ण द्वैपायनः) स्वयं-त्वमेव च साक्षान्मे मह्य ब्रवीषि ।

भाषानुवादः—भगवान श्री न्द नन्दन इन्द्र-ब्रह्मा-शंकर-आदिक ईश्वरों के भी परम शासक महान ईश्वर हैं, अतएव देवताओं के परम दिव्य देव हैं, एवञ्च अधि पतियों के भी परात्पर अधिदैव हैं, उन्ही जगदीश्वर प्रभु को हम स्तुति करने योग्य मानते हैं। जब कि उनके समान ही कोई नहीं दीखता तब उनसे अधिक सामर्थ्यवान और कौन हो सकता है ।

संसार में उस पर ब्रह्म का कोई अधिपति एवं शासक और हेतु नहीं । उस सर्वेश्वर का कोई उत्पादक एवं नियन्ता नहीं है, कारण वह प्रभु ही समस्त जगत् का कारण एवं ईश्वरों का भी ईश्वर है ।

भगवान की महिमा का साक्षात्कार कर के अर्जुन ने भी यही कहा है कि हे प्रभु ! आप ही परम पवित्र धाम और परात्पर परब्रह्म हैं । ऋषिगण जिस अव्यय आदि देव सर्वव्यापी अनादि अनन्त दिव्य पुरुष की सदा सर्वदा चर्चा करते रहते हैं एवं देवर्षि नारद, असित, देवल व्यास, जिसके ध्यान में निमग्न रहते हैं, तथा आपने भी जिस परम तत्व का मुझको उपदेश किया है - वह सर्व ध्येय पुरुष आप ही हैं ।

वे० र० मञ्जूषा—एव मेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ! भूत भावान ? भूतेश ? देव देवजगत्पते ? न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्योलोकत्रयेप्यप्रतिम प्रभाव ? । यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः । मत्तपरतरं नान्यत्-किंचिदस्ति धनंजय ? । इत्यादि श्रुति-स्मृतिभ्यः । अतिशयसाम्यानर्ह-स्वरूप गुणादिकस्येति यावत् , अतएव महात्मन इति । महान् आत्मा स्वरूपं यस्येति यावत् , विश्वात्मत्वात् । अनेन सर्वजीवनिकायेङ्गित्ववेतृत्वमुक्तम् ।

कुञ्चिका: -तथाचोक्तं भारते भीष्मपर्वणि "शृणुचेदं महाराज !" इत्यादिना । पुरुषोत्तमत्वं विवृणोति चतुर्भिर्विशेषणैः । हे भूतभावन-भूतानि सर्वाणि भावयत्युत्पादयतीति । तथा हे भूतेश ! सर्वेषां भूतानां नियन्तः । हे देवदेव- देवानामादित्यादीनामपि प्रकाशक ? । हे जगत्पते-सर्वस्य जगतः पालक ! । एवम्भूतं त्वां प्रार्थयामीत्यभिप्रायः । न त्वत्समः-चिदचिदात्मके जगति त्वत्सदृशः सर्वज्ञसर्वशक्ति-सर्वैश्वर्यादि सद्गुणगणार्णवो भक्तकामपरिपूरकः कोऽप्यन्यो नास्ति, त्वत्तोऽधिकस्य तु का सम्भावना । यस्मादिति -क्षरं पुरुषभोग्यभूतं सर्वभूतात्मकं जडमतीतोऽहम । अक्षरात्कूटस्थात्—

भाषानुवादः- हे परमेश्वर ! आपने जैसा अपना स्वरूप बतलाया है, सचमुच वैसे ही स्वरूपवान् आप हो । हे जगत् के उत्पादक ! चरा चर के नियन्ता, सूर्यादि देवों के भी प्रकाशक ! अखिल ब्रह्माण्ड नायक ! । हे अप्रतिम प्रभाव ! त्रिलोकी में आपकी समता करने वाला और कोई भी नहीं, जब समान ही नहीं तब आपसे अधिक तो और होगा ही कौन । इस आशय को स्वयं भगवान ने भी प्रकट किया है, हे अर्जुन ! मैं क्षर (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) से अतीत (अलिप्त) और अक्षर (जीव समूह) से भी उत्तम हूँ , अतएव लोक (पुराण इतिहासादि शास्त्रों) में एवं वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रख्यात हूँ । हे अर्जुन ! संसार में मेरे से उत्तम और कोई भी वस्तु नहीं है । इत्यादि श्रुति स्मृतियों ने भगवान् को अनन्याधिपति अर्थात-सर्वोच्चशासक बतलाया है । भगवान् के गुण साम्यातिशय रहित हैं, इसलिये श्रीनिम्बार्काचार्य पाद ने यहाँ पर—"महात्मनः" इस पद का प्रयोग किया है । अर्थात् भगवान विश्वव्यापी स्वरूप वान् हैं । विश्वव्यापी स्वरूप कहने से यह ध्वनित होता है कि भगवान सदा सर्वदा प्राणीमात्र के आन्तरिक भावों को जानते रहते हैं अतः उनको किसी से धोखा नहीं हो सकता,कारणवे उसीक्षण में यह जान लेते हैं कि यह शरणागत भक्त मुझ को निष्कपट भाव से भज रहा है और यह ठगभक्त केवल शरणागति का बहाना कर ठगना चाहता है ।

वे० र० मञ्जूषा— असौ माम् अमायया प्रपन्नो भजति, प्रपत्तिव्याजेन वा मां वञ्चयतीतिप्रत्यक्षं पश्यतीति भावः। यद्वा महाँश्चासावात्मा च तथा, तस्य महत्वञ्च औदार्य क्षमा-वात्सल्य सौशील्यादिमहद्गुणाश्रयत्वम्। अनेन भक्ति—प्रपत्यङ्गानुष्ठानानर्हाणां तद्व्याजमात्रेण भजतां निरतिशयकारूण्यौदार्य्य क्षमादिगुणपरवशतया तेषां गुणदोषादीन् अनवकलय्य भक्तिप्रपत्तिफलप्रदातृत्वमुक्तं भवति। किञ्च प्रपत्तियोगस्य संयोगपृथक्त्वन्यायेन स्वतन्त्रोपायत्वं भक्त्याद्युत्पादकत्वं चाविरुद्धम् तत्र स्वतन्त्रोपायत्वं पूर्वमेवोक्तम्।

कुंचिका :– भोक्तुर्विज्ञानमयपुरुषादपि उत्तमः—उत्कृष्टः, तस्यापोशनशीलत्वात, भोक्ता—भोग्यमितिश्रुतेः। अतोऽहं लोके वेदेच पुरुषोत्तमः प्रथितः प्रख्यातोऽस्मि। अत्र लोक्यते—दृश्यते, वेदार्थोऽनेनेति लोकः—इतिहासपुराणादिर्विवक्षितः। तथा च वेदतिहास पुराणादौ. इत्यर्थः। स उत्तमः पुरुषः" इति वेदे। इतिहासे—महाभारते सहस्रनामस्तोत्रे "केशवः पुरुषोत्तमः" इति प्रसिद्धः। पुराणे तु "विश्वं यतश्चैतद्विश्वहेतोर्नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय" इति वैष्णवे। "पुराणपुरुषः प्रत्यक् चैतन्यः पुरुषोत्तमः" इति पाद्मे। नारद पञ्चरात्रे च–"संसारसागर–निमग्नमनन्त ? दीनमुद्धर्तुमर्हसि हरे पुरुषोत्तमोऽसि" इत्यादिषु प्रथितोऽस्मि। मत्त इति—यतः सर्वजगद्योनीभूते—चेतनाचेतने मदाश्रये, तस्मान्मत्तः सर्वेश्वरात्परतरं–श्रेष्ठं जगत्कारणभूतं स्वतन्त्रं किञ्चिदपि वस्तु नास्ति, हे धनञ्जय !इत्यर्थः।

भाषानुवाद :– छल कपट आदि किसी भी भाव से भगवान को भजने वाले साधक की सद्गति ही होती है, इस आशय से कर्म धारय समास करके श्रीविवरण कार "महात्मा" पद का दूसरा अर्थ प्रदर्शित करते हैं। अर्थात् निरतिशय उदारता, क्षमा वात्सल्यभाव, सुशीलता, आदि महान गुणों के परमाश्रय होने से भगवान महात्मा पद के वाच्य हैं, अतः केवल भक्ति प्रपत्ति के बहाने (ढोंग) से भजनेवाले प्राणियों को भी भगवान् अपनी निरतिशयकरुणा, उदारता, क्षमा, आदि गुणों के अनुसार वास्तविक भक्ति प्रपत्तिसदृश ही फल प्रदान करते हैं। यह विशेषता एक श्री सर्वेश्वर प्रभु में ही है। जोकि शरण में आने पर अत्यन्त पात की को भी नहीं त्यागते। उपरोक्त प्रपत्ति योगभगवत्कृपा के आविर्भाव करने में एक स्वतन्त्र रूप से भी उपाय माना गया है और भक्ति आदि के प्रादुर्भाव में भी उपाय माना गया है। जैसे एक ही कर्म संयोग पृथक्त्व न्याय से गौण–गौण दो फलों के उत्पदान में हेतु माना जाता है, वैसे ही इस प्रपत्ति योग को भी दो सिद्धियों के प्रति उपाय मानने में कोई विरोध नहीं आता।

वे० र० मञ्जूषा—भक्तिसाधनत्वञ्चेदानीमुच्यते ययेति, यया—प्रपत्त्युद्बोधितया भगवत्कृपया भक्तिर्भवेत्, इति सामान्योक्तिः,—

तल्लक्षणञ्च "निष्कामतया भगवत्सेवनम्। तथा च श्रुतिः "भक्तिरस्यभजनम्" इति। तदिहामुत्रोपाधि-नैराश्येनैवामुष्मिन् मनः कल्पनमिति। व्याख्याता चेयं नारदपञ्चरात्रे "सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्। हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते" इति। लिंगपुराणेऽपि "भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः। तस्मात्सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी॥ भजनं भक्तिरित्युक्तं वाङ्मनः कायकर्मभिः" इति।

कुंचिकाः—संयोगपृथक्त्वन्यायेनेति-न्यायश्च श्रीजैमिनिना सूत्रितः "एकस्योभयत्वे संयोग-पृथक्त्वमिति। एकस्य-कर्मणः उभयत्वेऽनेकफलसम्बन्धे, संयोगः—उभयसम्बन्धबोधकता वाक्यस्य तस्य पृथक्त्वं-भेदः इति सूत्रार्थः।

यथा "खादिरेजुहोति, खादिरैर्जुहुयादर्थकामः" इत्येकस्यैव खादिरकरणकस्य कर्मणः उभयपरत्वं तथा प्रकृतेऽपि प्रपत्तेः स्वतन्त्रोपायत्वं भक्त्याद्युत्पादकत्वञ्चाविरुद्धमित्यर्थः।

प्रपत्तेर्भक्तिसाधनत्वमाह भक्ति साधनत्वञ्चेति। तल्लक्षणञ्चेत्यस्य भक्तिलक्षणञ्चेत्यर्थः। उक्तार्थं श्रुतिस्मृतिप्रमाणेन साधयति-तथा च श्रुतिरित्यादिना। प्रसंगादिति—

भाषानुवाद :- भगवत्कृपा के आविर्भाव में प्रपत्ति योग की स्वतन्त्र रूपेण साधनता पहिले ही कह दी गई है, अब 'यया भवेत' इस द्वितीय पद से भक्ति के प्रति साधनता कहते हैं। यया शब्द का "प्रपत्तिद्वारा उद्बोधित भगवत्कृपा" अर्थ समझना चाहिये, जिससे कि भगवान् की भक्ति प्रादुर्भूत होती है। भगवत्कृपा होने से ही भक्ति होती है, यह सामान्य कथन है। इस प्रकार प्रपत्ति योग की भक्ति के प्रति परम्परया साधना बतला कर अब भक्ति के लक्षण प्रकट करते हैं।

किसी भी फल विशेष की कामना न रख कर भगवान् की सेवा करना ही इस श्रुति की व्याख्या श्री नारद पञ्चरात्र में इसी प्रकार से की है. अर्थात लौकिक और पारलौकिक-समस्त आशा तृष्णाओं को त्याग कर अनन्यचित्त से सर्व करणों (तन, मन धन) द्वारा भगवान् की सेवा करना ही भक्ति है। यही तात्पर्य लिंगपुराण में अभिव्यक्त हुआ है अर्थात सेवार्थक भज धातु से भक्ति शब्द बनता है, अतः विद्वानों ने निष्काम विशेष भगवत्सेवा को ही भक्ति शब्द का अर्थ माना है। अब यहाँ प्रसंगानुसार उसी भक्ति के भेदों का निरूपण करते हैं। वह भक्ति दो प्रकार की है प्रथम साधन

वे०र०मञ्जूषा-प्रसंगाद्भक्तिविशेषा निरूप्यन्ते। सा च भक्तिर्द्विधा साधनरूपिका फलरूपा चेति। अनेक जन्माऽनुष्ठितपुण्यपुञ्जोत्पन्नायाः साधन जन्यत्वात् साधनरूपिकेति विवेकः, तथा च "जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते इति वचनात्।

सा द्विविधा, वैदिकपौराणिकभेदात्। तत्र वैदिकनुष्ठान रूपा मधुविद्या शाण्डिल्यविद्या-सत्यविद्यादिराद्या। तत्र त्रैवर्णिकानामेवाधिकारस्तथोक्तमपशूद्राधिकरणे श्रीनिवासाचार्यचरणैः। पुराणोक्तरीत्या भगवद राधनपरता द्वितीया, तत्र शूद्रोऽप्यधिक्रियते, यथा पद्मे "सर्वेऽधिकारिणोह्यत्र हरिभक्तौ तथा नृप! इति।

कुञ्जिका:-स्मृतस्योपेक्षाऽनर्हत्वं प्रसंगसङ्गतिः। भक्तिं विभजते सा चेति। साधनरूपाया भक्तेर्लक्षणमाह—अनेकेति। उक्तार्थं प्रमाणेन दृढयति-जन्मान्तर इति। साधनरूपाया भक्तेर्द्वैविध्यमाह—सा द्विधेति। द्वितीयेति पौराणिकीत्यर्थः। तत्र, पौराणिकभक्तौ, तत्र मानमाह-यथा पाद्मे इति। उक्तार्थं श्रीमुखवचनेन प्रमाणयति-तथा चेति। स्वे स्वे इति यथोदितवर्णाश्रमोद्देशेन विहिते कर्मणि-अभिरतः—सम्यगनुष्ठानपरः नरः संसिद्धिं सम्यग् ज्ञानयोग्यतां लभते, स्वकर्मणि नितरां रतः श्रद्धयाऽनुष्ठानं कुर्वन् येन प्रकारेण ज्ञाननिष्ठां लभते तत्प्रकारं शृणु। तमेवाह यत इति। सर्वज्ञात्सर्वशक्तेर्भग-

भाषानुवादः-रूपा और दूसरी फलस्वरूपा है। इन दोनोंमें प्रथमाभक्ति वह है जोकि साधनजन्य होने से अनेकों जन्मजन्मान्तरों के पुण्यसमुदाय से आविर्भूत होती है और भगवत्कृपा से सम्प्राप्त होने वाली भक्ति फलरूपा कहलाती है. यह दोनों में विशेषता है।

साधनरूपा भक्ति में "जन्मान्तर०" इत्यादि शास्त्रीय वचन ही प्रमाण हैं, अर्थात् सहस्रों जन्म जन्मान्तरों में किये हुए तप, दान, समाधि, आदि साधनों द्वारा पापों का क्षय होजाने पर प्राणियों के अन्तःकरण में श्रीनन्दनन्दन की भक्ति का अङ्कुर जमता है

वह साधनरूपा भक्ति दो प्रकार की है. १ ली वैदिकी और २ री पौराणिकी। मधुविद्या-शांडिल्यविद्या--सत्यविद्या आदिक जो वैदिक मंत्रो से सम्बन्धित हैं वह वैदिकी भक्ति कहलाती है. उसमें द्विजाति वर्ण अर्थात्-ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णों का ही अधिकार है, इस भाव का श्री श्रीनिवासाचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र के अपशूद्राधिकरण में अच्छी भाँति स्पष्ट किया है।

पुराणोक्त रीति के अनुसार भगवान की आराधना ही पौराणिकी भक्ति कहलाती है।

वे॰र॰मञ्जूषा—यद्वा पराभक्तेः साधनभूता साधनरूपिका, यथा पाञ्चरात्रे-"सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेत्" इति । तत्र सामान्यक्रियाऽभिधानात्सर्वेप्यधिक्रियन्ते । तथा च गीयते—स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु । यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः" इत्यादि ।

अत्र "स्वे स्वे" इति 'मानव' सामान्यपदप्रयोगादस्या अधिकारिणः सर्वसामान्यत्वं सूचितम् ।

कुंचिकाः–यतो यतोभूतानां ब्रह्मादिकीटान्तानां प्राणिनां प्रवृत्तिरुत्पत्तिश्चेष्टा वा भवति । येनैकेन सर्वमिदं जगत्ततं व्याप्तं स्वकर्मणा स्वाभाविकेन वैदिकेन लौकिकेनाऽपि । तमभ्यर्च्य, फलकर्तृत्वसमर्पणेन पूजयित्वा मानवस्तत्प्रसादात् सिद्धिं तत्त्वज्ञाननिष्ठालक्षणां विन्दति-लभते इत्यर्थः ।

ऐकान्त भक्तिः परमप्रीत्यधीनेति तां प्रीतिं प्रार्थयते येति । यादृशीप्रीतिर्विषयेषु तदासक्तानां, सा तादृशी प्रीतिर्मे हृदयान् मापसर्पतु—मापयातु, हृदये सदातिष्ठत्वित्यर्थः । यद्वा, हे माप ?– लक्ष्मीपते ! सा विषयप्रीतिस्त्वामनुस्मरतो मे हृदयात्सर्पतु

भा॰—इसमें 'सर्वेऽधिकारिणः' इत्यादि पद्मपुराण एवं अन्यान्यशास्त्रीय प्रमाणानुसारचतुर्थ (शूद्र) वर्ण का भी अधिकार है । अथवा "सुरर्षे" इत्यादि नारद पञ्चरात्र के प्रमाणानुसार जो परा भक्ति के आविर्भाव में साधन है वही साधन भक्ति है चाहे वे वैदिकी क्रियायें हों और चाहे पौराणिकी हों । 'सुरर्षे' इस श्लोक का भी यही भाव है ।

अर्थात् हे नारद ? भगवान के निमित्त जिन जिन क्रियाओं का शास्त्रों में निर्देश मिलता है अत एव जिन क्रियाओं से परमात्मा में परम प्रेम प्रादुर्भूत होता है उसीको भक्ति जानों । यहाँ पर क्रिया सामान्य के कथन से इस साधन भक्ति में चारों वर्णों के प्राणियों का अधिकार है । इसी आशय को गीता में भगवान् ने स्वयं प्रकट किया है ।

अर्थात् जो मनुष्य अपने वर्ण के अनुसार स्वकर्म में संलग्न रहता है, वह तत्वज्ञाननिष्ठा (भक्ति) रूपी संसिद्धि को प्राप्त हो जाता है । हे अर्जुन ? स्ववर्णोचित कर्म करने वाला जन जिस प्रकार सिद्धि—(तत्वज्ञान निष्ठा-भक्ति) को प्राप्त होता है वह सब सुनो । जिस प्रभु से यह समस्त जगत् प्रसरित हुआ है और जिससे सभी भूतप्राणियों

वे० र०मञ्जूषा :—अथ कर्मयोगाद्यनुष्ठानरूपाज्ञापालनव्याजप्रसन्नेन भगवता दीयमाना त्वम्पदार्थविषयकात्मज्ञानोत्तरभाविनी भक्तिः फलरूपोच्यते । सैव च परा प्रेमलक्षणा चेत्यादिशब्देनाऽभिधीयते । रूपादिविषयिकेन्द्रियवृत्तिवदनवच्छिन्नस्वाभाविकभगवत्स्वरूपादि गुणविषयिका यावदात्मवृत्तिर्मनोवृत्तिः । "या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्व न पायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥" इति—सैवध्रुवास्मृतिरुच्यते—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः । इति श्रूयते

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या

कुञ्चिका :—निर्गच्छतु, तत्प्रीतौ सत्यां त्वदनुस्मरणायोगात इत्यर्थः । सैवेति–पराभक्तिरेवेत्यर्थः । तत्र मानं दर्शयति–आहार इति ।

तेषां भजन प्रकारमाह—सततमिति, अत्यर्थं मत्प्रियतया मत्स्वरूपगुणाना-मभिनिविष्टान्तःकरणा मद्गुणलीलाविशेषद्योतकनामानि स्मृत्वा पुलकितसर्वाङ्गाः

भाषानुवाद :—की प्रवृत्तियां होती हैं, उसी प्रभु की अपने कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य (ज्ञाननिष्ठा तथा भक्तिरूपा) संसिद्धि को प्राप्त होता है । यहाँ पर उक्त "स्वे स्वे" और 'मानव' इन दोनों सामान्य पदों के प्रयोग से भगवद्भक्तिमें मनुष्य मात्र का समानाधिकार सूचित होता है ।

अब पराभक्ति का वर्णन करते हैं—शास्त्रोक्त कर्मयोगादि का अनुष्ठान करना चाहिये "ऐसी भगवान् की" इस आज्ञा को पालन करने पर, आज्ञा पालन रूप छद्म से प्रसन्न श्रीसर्वेश्वर प्रभु से संप्राप्त—आत्मज्ञान (स्वरूप ज्ञान) के पश्चात् प्रादुर्भूत होने वाली भक्ति फलरूपा कहलाती है, उसीको पराभक्ति एवं प्रेमलक्षणा भक्ति भी कहते है. रूपादिविषयक इन्द्रियवृत्ति की भाँति संतत सर्वदा आत्मस्थिति पर्य्यन्त स्थिर रहने वाली भगवान् के स्वरूप एवं गुण विषयिनी स्वाभाविक मनोवृत्ति" बस यही पराभक्ति के लक्षण है ।

भक्तराज श्रीप्रह्लाद जी ने भगवान से उक्त पराभक्ति प्राप्ति के लिये ही प्रार्थना की है—"या प्रीति०" इत्यादि वचन में—अर्थात हे प्रभो ! अज्ञानियों के चित्तमें जैसे सांसारिक विषयों की अटूट प्रीति बनी रहती है, वैसे मेरे हृदय में आपकी अविच्छिन्न स्मृति बनी रहे । शास्त्र में इस वृत्ति को ध्रुवा स्मृति भी कही है ।

वे० र० मञ्जूषा—नित्ययुक्ता उपासते ! मच्चित्ता मद्गत प्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति चेति भगवदुक्तेः । तस्या ज्ञानोत्तर भावित्वं स्वयं गीतं श्रीमुखेन—ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
सैव श्रीभगवत्स्वरूपादिविषयकप्रत्यक्षानुभवहेतुरपीतित्रैवोच्यते "भक्त्या—

कुञ्चिकाः - हर्ष गद्गदकण्ठा माधव मुकुन्द मधुसूदन-कृष्ण वासुदेवेत्येवमादीनि नामानि स्तोत्रप्रबन्धाश्च, सततं - सर्वदा, कीर्तयन्तः । यतन्तश्च मत्प्रसादासाधरणकारण-भूतेषु मदर्चन-वन्दन-नर्तन-नमस्कार लीलानुकरणादिकर्मसु यतमानाः, भजनान्तरगत-विक्षेपमसहमानाः,-विक्षेपहेतून स्वसंम्बन्धिनोऽप्युपेक्षमाणा इत्यर्थः । भक्त्या निरतिशय-प्रेम्णा नमस्यन्तश्च - पद्भ्यां दोर्भ्यांञ्च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा । मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः । इत्युक्तप्रकारेणाष्टाङ्गैर्मन्मन्दिराजिरादिषु दण्डवत्प्रणामं कुर्वन्तो नित्ययुक्ताः क्षणमात्रमपि मद्वियोगमसहमाना मामुपासते मत्सेवनैकजीवना भवन्तीत्यर्थः ।

तेषां प्रेमवृद्धिपूर्वकभजनमेव विवृणोति—मच्चित्ता इति मयि - भगवति वासुदेवे चित्तं येषां ते मच्चित्ताः । मद्गताः प्राणाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि येषां ते,मद्रूपादिदर्शनाद्येकविष-यीभूता चक्षुरादिव्यापारा इत्यर्थः । मद्भजनार्थैकजीवना इति वा । स्वसमान विद्वद्गोष्ठी

भाषा०—यह ध्रुवास्मृति अन्तः करणके शुद्ध हुए विना नहीं हो सकती, और शुद्ध सात्त्विक आहार विना अन्तः करण शुद्ध नहीं हो सकता । यह आशय "आहारशुद्धौ०" इत्यादि स्मृतिवाक्यों में प्रकट किया गया है ।

भगवान् ने भी "सतां०" मच्चित्ता०" इत्यादि वचनों में पराभक्ति का उपरोक्त ही स्वरूप प्रकट किया है - अर्थात दृढप्रतिज्ञ भक्त भक्तिपूर्वक कीर्तन प्रयत्न नमन आदि कर्मों के द्वारा सदा मेरे ही अन्दर लगे हुए, निरन्तर मेरी उपासना करते हैं । इस प्रकार से प्रेम प्रवाह में निमग्न उपासकों का चित्त और चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्राण ये सब मुझ में ही लग जाते हैं, अत एव वे-समग्र विद्वानों में सुहृद्भावपूर्वक मद्विषयक ज्ञान को बढ़ाते हुए एवं न्यून बोधवालों को मेरे दिव्य गुण कर्मों की गाथा सुनातेहुए सदा सन्तुष्ट तथा आनन्दित बने रहते हैं ।

— उपरोक्त परा भक्ति, मेरोस्वरूप ज्ञान होने के पश्चात् ही आविर्भूत होती है, इस कथन में"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा० गी० अ० १८ श्लो० यह भगवान का वचन ही प्रमाण है ।

वे० र० मञ्जूषा—मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्''इति । प्रवेशोऽत्र-स्वस्य चेतनाचेतनात्मकविश्वस्य च ब्रह्मात्मकानुभवपूर्वक विश्वरूपे भगवति तच्छक्त्यात्मनाऽवस्थानम् । तत्त्वश्च श्रीपार्थसारथिना दर्शितमर्जुनाय, तेन तथैवानुभूय विस्तरेणोक्तम्—''पश्यामि

षुपरस्परमन्योऽन्यं युक्तिभिः श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणैश्च मामेव बोधयन्तः, जिगीषाद्यभावान्मत्स्वरूपगुणज्ञापनेन सौहार्दं कुर्वन्त इत्यर्थः । स्वन्यूनबोधेषु च मामेव कथयन्तः मत्कृपया मदीयान् मदीयान्यतिमानुषाण्यद्भुतानि कर्माणि च कथयन्तः सन्तस्तुष्यन्ति च रमन्ति च—। वक्तारोऽनन्यप्रयोजनेन श्रोतृप्रश्नेन तुष्यन्ति, अनुमोदन्ते च । श्रोतारश्च तदद्भुतगुणकर्मश्रवणेन रमन्ति—रमन्ते इत्यर्थः ।

ब्रह्मभूत इति-आविर्भूतानवच्छिन्न ज्ञानधर्मात्मस्वरूपानुभूतिरत एवप्रसन्नात्मा प्रसन्नःवाह्य विषयनिरपेक्षप्रसादयुक्त आत्मा चित्तं यस्य स तथा । तत्र लिङ्गम्-न शोचतीति—किञ्चिन्नष्टं वस्तु न शोचति, न वाऽप्राप्तं किंचित्कांक्षति, आत्मानुभवसंतुष्टतया समलोष्टाऽश्मकाञ्चनदृष्टिरित्यर्थः अत एव सर्वेषु भूतेषु समः—स्वस्य स्तुति पूजाकर्तृषु निन्दापकारकर्तृषु च मित्रारिभाववर्जितः । एवं ज्ञानं सिद्धिं प्राप्तो मद्भक्तिं लभते परां—मद्विषयां निरतिशयप्रीतिलक्षणां परामव्यभिचारिणीं मत्साक्षात्कारासाधारणकारणभूतां भक्तिं लभत—इत्यर्थः ।

भक्तिरेवैनं वर्द्धयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति श्रुत्या भक्तेर्भगवत्स्वरूप-सौन्दर्य्यमाधुर्य्य-दर्शनकारणत्वं-तद्वशीकरणत्वं चेत्याह "सैवेति" भक्तिरेवेत्यर्थः । तत्रैव श्रीमद्भगवद्गीतायाम् , भक्त्येति, तया भक्त्या, यावान् यादृश-

---

भाषानुवाद—अर्थात—आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाने पर ज्ञानी का चित्त सदाप्रसन्न रहता है, फिर उसको वाह्य विषयों के उपभोग की वैसी आवश्यकता नहीं रहती, अतः उसको न किसी लौकिक वस्तु के नष्ट होने की चिन्ता ही होती और न किसी अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा ही हो सकती । उस समय उसकी लोह और सुवर्ण में तथा अपनी निन्दा करने वाले या स्तुति करने वाले, प्रिय अप्रिय सब में ही एक समान दृष्टि वन जाती है, वस ऐसी ज्ञानसिद्धि होजाने के पश्चात् ही उस ज्ञानी को मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है ।

परा भक्ति से ही भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है । इस आशय को 'भक्त्यामा० इस गीता वाक्य से प्रमाणित करते हैं । भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! मेरे वास्तविक स्वरूप गुण-कर्म महिमा आदि भक्ति से ही जाने जा सकते हैं एवं भक्ति के वल से मेरे-

वे० र०मञ्जूषा :—देवाँस्तव देव ? देहे सर्वांस्तथाभूतविशेषसंघान् । ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगाँश्च दिव्यान् " इत्यादिना ।

एतदुक्तं भवति, विश्वरूपब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य विश्वात्मत्वेन विश्वजगतोऽधिकरणत्वात् विश्वं जगत्तत्रावतिष्ठते शक्त्यात्मना ।

कुञ्चिका गुणशक्तिविभूतिमानहं यश्च सच्चिदानन्दविग्रह सर्वज्ञः सर्वकारणं सर्वान्तर्यामी देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यः सर्वव्यापकोऽपि सर्वदोषाऽस्पृष्टः सकलचेतनभिन्नाभिन्न-स्वभावस्तं मां तत्त्वतः—संशयविपर्य्ययराहित्येन, अभिजानाति—साक्षादनुभवति, तदनन्तरं मय विशत इत्यर्थः । उक्तार्थं श्रीमुखवचनेन दृढयति-तत्वञ्च श्रीपार्थसारथीति । तत्वञ्च शक्त्यात्मनावस्थानम् ।

एतदुक्तमिति—यदुक्तं तदेतद्भवतीत्यर्थः । उक्तार्थे मानमाह - विष्णुधर्मोत्तर इति । अपर इति—अष्टधा या प्रोक्ता प्रकृतिः सेयमपरा निकृष्टा जडत्वात्परार्थत्वाच्च । इतस्त्व-चेतनभूतायाः प्रकृतेरन्यां विलक्षणां स्वरूपतः स्वभावतश्चात्यन्तविजातीयां परां, तस्यां

भाषानुवाद : - स्वरूप को यथार्थ जानने के अनन्तर भक्त मुझ में सम्प्रविष्ट होता है।
शंका - जब भगवान् सर्वाधार हैं तो भक्त अभक्त ज्ञानी अज्ञानी सभी उन्हीं के अन्दर स्थित हैं ही, फिर "ज्ञान होने पर ही भक्त मुझ में प्रवेश करता है" यह क्यों कहा ?
समाधानः - यद्यपि सम्पूर्ण जगत् सर्वाधार ईश्वर में ही स्थित है, तथापि समस्त जगत् को ब्रह्मात्मक (ब्रह्म का अंश) मान कर उस विश्वरूप ईश्वर में शक्तिरूप से अपनी स्थिति मानना ही यहाँ के प्रवेश शब्द का अर्थ है। ज्ञान भक्ति रहित जीवों को ऐसा भान नहीं होता, अतः अज्ञानी जन पृथ्वी आदि भूतों को ही अपना आधार समझते हैं। भक्त अर्जुन को जब भगवान ने अपने स्वरूप का साक्षात्कार करा दिया तब "पश्यामि०" इत्यादि वचनों से अर्जुन ने उस अनुभव का ऐसा ही वर्णन किया है। हे दिव्य मङ्गल विग्रह प्रभो ! सम्पूर्ण देवों को तथा मूल समुदाय, एवं कमलासन ब्रह्मा, शंकर, सम्पूर्ण ऋषिजन, नाग आदि सभी दिव्य वस्तुओं को मैं आपके ही अन्दर देख रहा हूँ। गी० अ० श्लोक ।

सारांश यह कि, सर्वव्यापी ईश्वर विश्व के बाहर भीतर सर्वत्र स्थित है, अतः उसी विश्वाधार में विश्व की स्थिति और प्रवृत्ति हो रही है। कारण जड़ और चेतन पर-मात्मा की ही अपरा और परा शक्तियाँ हैं शक्तियाँ शक्तिमान् से कभी पृथक् नहीं रह-

वे० र० मञ्जूषाः—विष्णुधर्मोत्तरे—ब्रह्मा शम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः। एवमाद्यास्तथैवाऽन्ये युक्ता वैष्णवतेजसा। जगत्कार्यावसाने तु वियुज्यन्ते स्वतेजसा" इति। परापरात्मकशक्तिरूपत्वाच्च विश्वस्येति निर्विवादः। तथा च गीयते—"अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्" इति। तथैव सर्वाधिकाररूपाश्शक्तयस्तस्यैव तत्र तिष्ठन्ति, सृष्टिसमये तत्तदधिकारार्हाणां ब्राह्मरौद्रादिपदारोहणयोग्यानां तत्तज्जगत्सृष्टृत्व-संहर्तृत्वादिशक्तिभिर्युनक्ति।

प्रलये च तान् विश्वाधिकारिणस्ताभिर्वियुनक्ति, परन्तु सर्वत्रस्थानस्य सर्वादिकत्वाविशेष एव, तथामुक्तानामपि विश्वरूपे भगवति तदात्मकतयावस्थान

कुञ्चिकाः—भोक्तृतया प्रकृष्टां जीवभूतां चेतनां प्रकृतिं शक्तिं मे मदीयां,मदात्मिकां विद्धि, यया जीवभूतया चेतनया, क्षेत्रज्ञाख्ययाऽनादिकर्मवशात अन्तः प्रविष्टया इदं शरीरादि रूपं क्षेत्रसंज्ञकं जड़जातं जगद्धार्य्यते। उभयोर्विष्णुशक्तित्वं विष्णुपुराणे स्पष्टमुक्तम्—"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्र ज्ञाख्या तथाऽपरा" इति। इत्यर्थः। तस्य—ब्रह्मणः, तत्र-ब्रह्मणि।

ताभिः-शक्तिभिः, जुष्टमिति— यदा जीवो निमग्नात्स्वस्मात्, धारकत्वनियन्तृत्वां-शित्वादिना भिन्नं, स्वसाधनैः प्रीतं परमात्मानमखिल- जगदीशनलक्षणमस्य महिमानञ्च-

भाषानुवादः—सकतीं, "यह आशय-' ब्रह्मा-शम्भु०" इस वाक्य से विष्णु धर्मोत्तर में स्पष्ट किया गया है। अर्थात् ब्रह्मा, शंकर, सूर्य, चन्द्रमा, इन्द्र आदि देव तथा और सभी मनुष्यादिक श्रीसर्वेश्वर के ही तेज से सम्बन्धित हैं. प्रलय के समय उनको परमात्मा स्वतेज से वियुक्त अर्थात् अपने अन्दर लीन कर लेते हैं अतः उनके प्रकाशादि कार्य स्थगित हो जाते हैं। जड़ चेतन दोनों परमात्मा की शक्ति हैं यह आशय अपरे०" इस गीता वाक्य में निर्विवाद सिद्ध किया गया। अर्थात् हे महाबाहो! पूर्वोक्त अष्टविध प्रकृति मेरी अपरा शक्ति है, और इससे भिन्न जीव समुदाय को मेरी परा प्रकृति जानो, जिसने कि तत्तत् शरीरादि रूप विश्व का धारण कर रक्खा है। इसी प्रकार अधिकार शक्तियाँ भी सर्वेश्वर की ही हैं, अतः सृष्टि की रचना और स्थिति के स .य तत्तत् शक्तियों के योग्य ब्रह्मा रुद्र आदि को जगत्कर्तृत्व-संहारकत्व आदि शक्तियों से परमात्मा ही युक्त बनादेता है, और प्रलयके समय उन शक्तियों से वह परमात्मा ही बियुक्त कर देता है।

परन्तु सम्पूर्ण शक्तियों के मूल केन्द्रीभूत परमात्मा में वे सभी शक्तियाँ सदा सर्वदा

वे० र० मञ्जूषा—मविरुद्धम् ,स एव भगवद्भावापत्तिलक्षणमोक्षः सायुज्यशब्दे-नाऽप्युच्यते। नच स्वरूपैक्यं सायुज्यमिति वाच्यम्। भेदस्यापि श्रवणात्। "जुष्टं यदापश्यत्यन्यमीशं" 'तन्महिमानं वीतशोकः' पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनाऽमृतत्वमेति" इति भेदज्ञानान्मोक्षश्रवणान्मोक्षेऽपि भेद उक्तः "तन्महिमानमित्यनेन—

कुंचिकाः-पश्यति,तदा वीतशोकोभवतीत्यर्थः। एतस्माद्वचनात्प्रतीयते भेदज्ञानान्मोक्षः इति। भेदज्ञानान्मोक्षस्य प्रतिपादकवाक्यमुदाहरति—'पृथगात्मानमिति'। स्वस्मात्पृथग् भिन्नं प्रेरितारं प्रेरणकर्तारमात्मानं-परमात्मानं, मत्वा-बुध्वा, तत एव जुष्टः—सेवां कुर्वन् भक्तस्तेन,—भेदज्ञानेनामृतत्वं मोक्षमेति-प्राप्नोतीत्यर्थः। यः प्रत्यगात्मा, तस्य-ब्रह्मणः, महिमानं पश्यति,स तस्माद् भिन्न एवेत्याह—मोक्षेऽपि भेद उक्त इति।

भाषानुवाद :- परन्तु सम्पूर्णशक्तियों के केन्द्रीभूत परमात्मा में वे सभी शक्तियां सर्वदा ही स्थित रहती है ईश्वर में अपनी शक्तियों के संयुक्त वियुक्त होने का कोई हेतु नहीं है। इसी प्रकार मुक्तजीवों की भी विश्वरूप भगवान् में ही तदंश रुप से स्थिति रहती है, इस कथन में कोई विरोध नहीं। वह भगवद्भावापत्ति स्वरूप मोक्ष ही सायुज्य शब्द से व्यवहृत होता है। मुक्ति काल में भी "जुष्टं०" एवं "पृथगात्मानं०" इत्यादि श्रुतियां जीव और ईश्वर का भेद बतला रही हैं अर्थात् जिस समय ज्ञानी पुरुष सर्वत्र ओत-प्रोत ईश्वर को अपने से भिन्न देखता है, एवं परमात्मा की महिमा का साक्षात्कार करता है तब वह समस्त शोकों से मुक्त हो जाता है। जब-साधक अपने प्रेरक प्रभु को अपने से पृथक (अधिक) मानता है, तब उसी भेद ज्ञान से परम अमृतत्व को प्राप्त होजाता है।

इस प्रकार श्रुतियों में भेद ज्ञान के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति का वर्णन मिलता है, अत एव मुक्तावस्था में भी भेद अवश्य रहता है,। जो वादी ब्रह्म और जीव के स्वरूप की एकता को ही सायुज्य मानते हैं, उनका कथन ठीक नहीं, कारण तन्महिमा० इत्यादि श्रुतियां मुक्तावस्था में भी स्पष्ट रूप से जीव और परमात्मा के भेद का निरूपण करती हैं।

वे० र० मञ्जूषा—स्पष्टं चान्यत्र । निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति । व्याख्यातं श्रीमुखेनैतद्वाक्यं, मम साधर्म्यमागता इति । यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमेति । आह श्रीपराशरः । निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा । भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मतेति ।

कुञ्चिका :— यथोदकमिति यथा शुद्धजले शुद्धजलं योजितं तत्सदृशमेव भवति न कथञ्चिद्विसदृशमेवमित्थं विजानतो मननशीलस्यात्माऽपि परमात्मज्ञानेन शुद्धः सन् विशुद्धेन परमात्मना समानो भवतीत्यर्थः । गोतमेति प्राच्यत्रैभवं सूचयन्सहर्षं सम्बोधयति । निरस्तेति । भगवत्प्राप्तिर्भेषजमित्यन्वयः, प्रकृतिसम्बन्धरूपरोगस्येतिशेषः । कीदृशीत्यपेक्षयाह—निरस्तेति । निरस्तोऽतिशयाह्लादो यस्मात् तथाभूतेन सुखेन भावः स्थितिरेवेकं लक्षणं यस्याःसा । अत एवैकान्तात्यन्तिकी निरतिशयाचेत्यर्थः । अत्र प्राप्तिर्नाम द्वयाक्षरन्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् । ममेति च भवेन्मृत्युर्नममेतिच शाश्वतम् । निर्ममो निरहंकारः " इतिशास्त्रोक्तेनेदंकाराहङ्कारास्पदयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वत्वममत्वभावनाशेन ' ममैवांशो जीवलोके 'अंशोनानाव्यपदेशादिति शास्त्रोक्तस्वाभाविकतदीयतासम्बन्धसाक्षात्कारपूर्वकं सुरसरित्प्रवाहवच्छ्रीभगवदनवच्छिन्नानुभूत्या स्थितिरित्यर्थः । नच

भाषानुवाद—इस श्रुति में भी साधर्म्य रूपी साम्य की प्राप्ति का कथन किया है जिससे भी मुक्तावस्था में भेद सिद्ध होता है, इसी श्रुति का व्याख्यान भगवान् ने ' मम साधर्म्यमागताः०" इस गीता वाक्य में किया है, और "यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं०" इसश्रुति में युक्ति भी प्रकट की गई है-अर्थात् जैसे शुद्ध जलमें कुछ शुद्ध जल और मिलादिया जाय तो वह उसी के सदृश बन जाता है किन्तु अभिन्न नहीं कहा जा सकता—कारण यदि उन दोनों जलों की एकता मानलें तो फिर-उसका परिमाण बढ़ना नहीं चाहिये । हे गोतम उसी भांति ज्ञानी पुरुष को आत्मा की स्थिति जाननी चाहिये । महर्षि पराशर जी ने भी "निरस्तातिशय०" इस वाक्य में भेद ही सिद्ध किया है । अर्थात जिससे ऊँचा और कोई सुख नहीं है, ऐसे आह्लाद रूपी सुखभावस्वरूपा ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भगवत्प्राप्ति ही संसार दावानल से बचाने वाली औषध है । यहाँ पर भगवान् और उनकी प्राप्ति एवं औषध और उसको सेवन करने वाला , ये सब विभिन्न-विभिन्न ही दिखलाये हैं ।

वे० र० मञ्जूषा—किञ्च सायुज्यशब्दस्य स्वरूपैकत्वेऽभ्युपगते, एतासामेव देवतानां सायुज्यं सार्ष्टितां समानलोकतामाप्नोतीति श्रुतिविरोधापत्तेः। न हि युगपत् क्रमेण वा अनेकदेवतासायुज्यसिद्धिः। एकेनैक्यापत्तौ पुनरन्यैः कथमैक्यमापद्यते, ऐक्यापन्नस्य पुनर्भेदासंभवात्। न च ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीति साधारणश्रुतेरैक्यविधानश्रवणादिति वाच्यम्। ब्रह्मात्मकत्वेन तत्रोपदेशस्याविरुद्धत्वात्। तच्चोक्तं पूर्वमेव। अन्यथा ब्रह्मविदाप्नोति परमिति कर्मकर्तृव्यपदेशव्याकोपात्। अलं विस्तरेण। किञ्चोक्तलक्षणाया भक्तेः सत्सङ्गमूलत्वात्

कुञ्चिका: - स्वरूपैकत्वं सायुज्यशब्दार्थः। 'एतासामेव देवतानां सायुज्यमितिश्रुते र्व्याकोपापत्तेरित्याह - किञ्चेति। विरोधमेव विवृणोति—नहीत्यादिना। जीवब्रह्मणोरैक्यं मोक्षशब्दार्थो ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवतीतिश्रुतेरित्याशङ्क्य परिहरति नचेति।

भाषानुवाद :—यदि आग्रह वशात सायुज्य शब्द का अर्थ स्वरूप की एकता ही माना जाय तो "एतासां देवतानां०" यह श्रुति असंगत होती है, क्यों कि अनेक देवताओं की एक साथ या क्रम से स्वरूपैक्य रूप सायुज्य की सिद्धि नहीं हो सकती, कारण जब किसी एक देवता की ब्रह्म के साथ एकता हो चुकी फिर उस देवता का और ब्रह्म का भेद तो हो नहीं सकता, ऐसी परिस्थिति में अन्य देवताओं की निरञ्जन (शुद्ध) ब्रह्म के साथ एकता कैसे हो सकेगी, क्योंकि पूर्व देवता के मिलने से वह ब्रह्म तो साञ्जन बन गया।

यदि यह कहो कि—"ब्रह्मविद्ब्रह्मैव०" इसश्रुति में ब्रह्मज्ञानी की ब्रह्म के साथ एकता ही सुनी जा रही है, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस श्रुति में पढ़े हुए एव' शब्द का अर्थ सादृश्य ही है,यह पहिले ही कह दिया गया है, अन्यथा "ब्रह्मविदाप्नोति०" इस श्रुति में ब्रह्मवित् यह कर्ता है और परम महत्पद कर्म वाचक है, किन्तु दोनों की एकता हो जाने के अनन्तर इस श्रुति में वतलाये हुए कर्मत्व और कर्तृत्व के व्यपदेश की संगति लगना कठिन है, अब यह प्रसङ्ग समाप्त किया जाता है।

उपरोक्त लक्षणों वाली भक्ति सत्सङ्ग किये विना प्राप्त नहीं हो सकती,अतः मन का अवरोध न हो तव तक भक्ति की कामना वाले प्राणियों को नित्य कर्मों की भाँति सत्सङ्ग अवश्य करना चाहिये।

वे० र०मञ्जूषा :—सत्सङ्गो नियतकर्मवद्यावन्मनोनैश्चल्यम् आवश्यकतयोक्त-लक्षणभक्तीप्सुभिः कर्त्तव्यः। सतां लक्षणं च, भगवद्दिदृक्षातृणीकृतसर्वपुरुषार्थकत्वे सति भगवदाज्ञाविरुद्धाचारशून्यत्वं, तन्नियोगकैङ्कर्य्यपुरुषार्थपरत्वे सति अन्यपुरुषार्थेच्छाकालुष्याभावत्वं वा। यथा। पाद्मे-कार्तिकमाहात्म्ये। वरं देव मोक्षं न मोक्षावधिं वा न चान्यं वृणेऽहं वरेशादपीह। इदं ते वपुर्नाथ गोपालबालं सदा मे मनस्याविरास्तां किमन्यैः॥ कुवेरात्मजौ बद्धमूर्त्यैव यद्वत् त्वया मोचितौ भक्तिभाजौ कृतौ च। तथा प्रेमभक्तिं स्वकां मे प्रयच्छ, न मोक्षे ग्रहो मेऽस्ति दामोदरेह। हयशीर्षीयनारायणव्यूहस्तवे-न'धर्मं काममर्थं वा मोक्षं वा वरदेश्वर। प्रार्थये तव पादाब्जे दास्यमेवाभिकामये॥ पुनस्तत्रैव। पुनः पुनर्वरान् दित्सुर्विष्णुर्मुक्तिं न याचितः। भक्तिरेव वृता येन प्रह्लादं तं नमाम्यहम्। वैष्णवेप्रह्लादः॥ कृतकृत्योऽस्मि भगवन् वरेणानेन यत् त्वयि। भवत्री

कुञ्चिका:—ब्रह्मात्मकत्व तन्नियम्यत्व तद्धयायत्व तत्तन्त्रत्व पराधेयत्वादियोगेन ब्रह्माभिन्नत्वमभिदधाति ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवतीतिश्रुतिरित्याशयेन समाधत्ते-'ब्रह्मात्मकत्वेनेति। विपक्षे बाधकतर्कमाह- अन्यथेति। जीवब्रह्मणो स्वरूपत ऐक्याङ्गीकार इत्यर्थः। उक्तभक्तेर्मूलं दर्शयति-किञ्चेति। उक्तं सतां लक्षणं मानेन द्रढयति। यथापाद्म इति।

भाषानुवाद:—सज्जन वही हैं जोकि भगवान् के साक्षात्कारकी इच्छा रखते हों,और तदितर सम्पूर्ण पुरुषार्थों को तृणवत् मानते हों,एवञ्च भगवान् की आज्ञारूपी शास्त्रीय मर्यादा से विरुद्ध आचरण न करते हों। अथवा ईश्वर—आज्ञाचित कैंकर्य को ही पुरुषार्थ मान कर वित्तैषणा पुत्रैषणा आदि लौकिक पुरुषार्थों की इच्छा भी न रखते हों। पद्मपुराणीय कार्तिकमाहात्म्य में भी "वरं देव मोक्षं०" इत्यादि श्लोकों में साधु जनों के इसी प्रकार के लक्षण किये हैं अर्थात् हे देव ? मैं आपसे मुक्ति अथवा मोक्ष के समकक्ष और कोई दूसरा भी वर नहीं चाहता, किन्तु यही चाहता हूँ कि आपका यह बालगोपालविग्रह सदा मेरे मनो मन्दिर में क्रीड़ा करता रहे। जैसे उखल से बन्धीं हुई आपकी मूर्तिने कुबेर के पुत्रों को वृक्ष योनि से मुक्त बना भक्तिभागी बना दिया था उसी भाँति मुझको अपनी प्रेम-भक्ति प्रदान कीजिये, हे दामोदर इसके अतिरिक्त मेरी मोक्ष में अभिरुचि नहीं है।

वे० र० मञ्जूषा—त्वत्प्रसादेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥ धर्मार्थकामैः किन्तस्य मुक्तिस्तस्य करे स्थिता । समस्तजगतां मूले यस्य भक्तिः स्थिरा त्वयि ॥ तत्रैव बालकान् प्रति—'तस्मिन् प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते । समाश्रिताद् ब्रह्मतरोरनन्तान्निःसंशयं यास्यथ वै महत्फलम्' इत्युक्तिस्तु तेषां

कुञ्चिकाः—धर्मार्थकाममोक्षेच्छां विहाय दास्यभावस्यैवाधिक्यविधायकं वाक्यमुदाहरति–हयशीर्षायेति । तत्रैवेति हयशीर्षीयनारायणव्यूहस्तवे । मुक्त्यपेक्षया भक्तेरेवाधिक्य-माह–पुनः पुनरिति । ततः किमत आह—तस्मिन्निति । तस्मिन् प्रसन्ने प्रीते सति न किञ्चि-द्दुर्लभं तथापि तुच्छत्वात्त्रिवर्गो न प्रार्थ्यः । सर्वत्र सन्निहिताद् ब्रह्मकल्पमोक्षफललाभो निःसंशय इत्यर्थः । अत्र त्रिवर्गप्राप्तिर्हेयत्वात्परित्याज्यापि मोक्षफलप्राप्तिस्त्वभिमता । श्रीप्रह्लादस्य कथं भगवत्सेवनस्याधिक्यमित्याशङ्कां निरसितुमाह—इत्युक्तिस्तु तेषां प्रवर्त्त-नार्थिकेति । बालकानां यथा श्री भगवति प्रवृत्तिः स्यात्तदर्थं महत्फलोक्ति, नतु श्रीप्रह्लाद-स्यापेक्षिता मुक्तिरित्यर्थः । विपक्षे बाधकतर्कमाह—अन्यथेति ।

भाषानुवाद—हयशीर्षीय नारायण व्यूह के स्तव में भी 'न धर्मं काममर्थं वा०" इन श्लोकों से भी सज्जनों के उपरोक्त ही लक्षण बतलाये हैं, अर्थात् हे वरदेश्वर ! मैं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों को नहीं चाहता । केवल आपके चरण-कमलों की सेवा ही मांगता हूँ ।

श्रीविष्णु भगवान प्रह्लाद को बार-बार वर देना चाहते थे किन्तु उसने और कुछ भी न लेकर केवल हरिभक्ति की ही याचना की ।

विष्णुपुराण में "कृतकृत्योऽस्मि भगवन्०" इन श्लोकों से प्रह्लाद जी ने स्वयं भी यही आशय प्रकट किया है, कि हे भगवन मैं इसी वर से कृतकृत्य होगया जोकि आपकी कृपा से मुझको आपकी अव्यभिचारिणी भक्ति प्राप्त हुई है । क्योंकि धर्म-अर्थ और काम इनकी तो बात ही क्या है, मुक्ति भी उस पुरुष की मुट्ठी में है, जिसके चित्तमें कि समस्त विश्व के मूल स्वरूप आपकी भक्ति हो । विष्णु पुराण में—'तस्मिन प्रसन्ने०" इस श्लोक से प्रह्लाद जी ने बालकों से जो फल की चर्चा की है, कि हे शिशुजनों ! भगवान् के प्रसन्न हो जाने पर फिर कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं रहती, अतः यदि तुमने अनन्त-ब्रह्म वृक्ष का आश्रय लेलिया है तो अवश्य ही बड़े भारी फल को पाओगे । यह कथन केवल भगवद्भक्ति में प्रवृत्त करने के ही लिये समझना, अपनी इच्छा सूचक नहीं, अन्यथा पूर्वोक्त वाक्यों के साथ विरोध आयेगा ।

वे० र० मञ्जूषा—प्रवर्त्तनार्थिका, न स्वेच्छाविषयिकेति बोध्यम् । अन्यथा पूर्वापरवाक्यविरोधापत्तेः ॥ पञ्चरात्रे च-धर्मार्थकाममोक्षेषु नेच्छा मम कदाचन । त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम । मोक्षं सालोक्यसामीप्यं प्रार्थये न धराधर । इच्छामोह महाभाग कारुण्यं तव सुव्रतेत्यादि । एतादृशानामेकान्तभक्तानां दर्शनादिनैव पुरुषार्थाप्तिः, किं पुनर्दीर्घकालसंगत्येति कैमुत्यन्यायमाह-शास्त्रं तेषां दौर्लभ्यं द्योतयद् । यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रतिष्ठिता । तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ॥ पौष्करे-दुर्लभा भगवद्योगभाविनो भुवि मानवाः । तद्दर्शनात् तदालापात् सुलभं शाश्वतं पदमिति ॥ नैतदाश्चर्यमत्र शङ्कनीयम् , तत्र पुरुषोत्तमस्य सदैव सान्निध्यश्रवणात् । सन्धिच यागं सन्धत्ते ब्रह्मणोदृशो रमते तस्मिन् नु जीर्णो शयाने नैनं जहात्यहःसु

कुञ्चिकाः—पूर्वापरेति । एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी । कर्त्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयोहरिः ।

कृतकृत्योस्मि भगवन् वरेणानेन यद्यपि । भवित्री त्वत्प्रसादेन भक्तिरव्यभिचारिणी । यदि श्रीप्रह्लादस्यापेक्षिता मुक्तिः स्यात्तदैतेषां वाक्यानां विरोधः प्रसज्येत,तेषु वाक्येषु तस्य भक्तिरेवाभिमता । तस्माद्बालानां प्रलोभनार्थैवैषाउक्तिरित्यर्थः । पाञ्चरात्रप्रमाणेनाप्युक्तार्थं द्रढयति—पाञ्चरात्रेति ।

भाषानुवाद :—श्री नारदपाञ्चरात्र में-"धर्मार्थ काम मोक्षेषु०" इन श्लोकों से यही भाव प्रदर्शित किया गया है कि हे धराधर! मेरी धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन सवों में कभी भी इच्छा नहीं, मुझको तो केवल यही वर दीजिये, जिससे कि मेरा जीवन आपके चरण कमलों में ही रहै । हे सुव्रत मैं सालोक्य और सामीप्य मुक्ति भी नहीं चाहता बस केवल आपकी एक कृपा दृष्टि चाहता हूँ । ऐसे निष्काम भक्तों के दर्शन से भी मोक्षमिल सकता है, फिर यदि कुछ अधिक समय तक उनका संग हो जाय, तब तो कहना ही क्या ?

ऐसे ऐसे महात्माओं का मिलना दुर्लभ है, इस आशय को द्योतित करते हुए "यस्यानुभवपर्य्यन्ता०" इत्यादि वाक्यों से शास्त्र में कैमुत्य न्याय प्रकट किया गया है कि—जिस महापुरुष ने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया और उसकी बुद्धि परमात्म तत्त्व में स्थिर होगई, उस पुरुष की दृष्टि के सामने यदि महान् पापी भी आजाँये तो वे भी समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं ।

वे० र० मञ्जूषा :—पूर्वेष्विति तैत्तिरीयाः । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः । न त्यजेयं कथञ्चन । यन्ममत्वेन गोविन्दे ये नरा न्यस्तचेतसः । विषयत्यागिनस्तेषां विज्ञेयं च तदन्तिक इति । नारायणेति यस्याऽस्ये वर्त्तते नाममङ्गलम् । नारायणस्तमन्वास्ते वत्सं गौरिव वत्सलेति स्मृतयश्चेति । च्यवननहुषसंवादे च । संभाषो दर्शनं स्पर्शः कीर्तनं स्मरणं तथा । पावनानि कीर्तितानि साधूनामिति शुश्रुमः । सेव्याः श्रेयोर्थिभिः सन्तः पुण्यतीर्थफलोपमाः । क्षणोपासनयोगोऽपि न तेषां निष्फलो भवेत् । साधूनां दर्शनं पुण्यं तीर्थभूता हि साधवः । कालेन फलते तीर्थं सद्यः साधुसमागम इति । सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत सङ्गमम् । सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किञ्चिदाचरेदिति । अहन्यहनि धर्मस्य योनिः साधुसमागमः । मोहजालस्य योनिर्हि मूढैः सह समागम इत्याद्यनुसन्धेयाः ।

भाषानुवाद :—गीता में भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हे अर्जुन ज्ञानी भक्त मुझको अत्यन्त प्रिय है, और मैं उसको प्रिय हूँ । मैं अपने भक्तको कभी भी नहीं त्यागता । जो सांसारिक विषयों को त्यागकर गोविन्द मय ही श्रीसर्वेश्वर प्रभु को अपना चित्त समर्पण कर देते हैं , भगवान् को उनके अत्यन्त सन्निकट जानना चाहिये ।

जिसके मुखसे "नारायण-नारायण" यह मांगलिक नाम उच्चरित होता है भगवान् उस भक्त के पीछे-पीछे ऐसे चलते हैं जैसे कि सद्योजात बछड़े के पीछे-पीछे गौ चलती हो ।

च्यवन ऋषि और नहुष के सम्वाद में कहा गया है कि —साधुओं के साथ सम्भाषण, उनके दर्शन एवं संस्पर्श कीर्तन और स्मरण ये सब साधक को पुनीत बनाने वाले हैं । यह हम सुनते आये हैं, अतः जो अपना कल्याण चाहें उनको चाहिये कि वे पवित्र तीर्थों के फलों के समान फल देने वाले सन्तों की तन, मन, धनसे सेवा करें , क्योंकि - उनकी एक क्षणभर की हुई उपासना भी निष्फल नहीं जाती । साधुजन तीर्थ स्वरूप हैं, अतः उनके दर्शनों से बड़ा पुण्यफल प्राप्त होता है, कारण तीर्थ सेवन का फल तो समयान्तर से प्राप्त होता है और साधु समागम का फल शीघ्र ही मिलजाता है ।

इसलिये—साधुओं के संग ही बैठना चाहिये और उन्हीं के साथ संगम और मित्रता करनी चाहिये, यदि विवाद करना हो तो वह भी साधुओं के ही साथ करना चाहिये, असाधुओं के साथ समागमादिक कुछ भी न करै । क्योंकि प्रतिदिन किया हुआ साधुओं का समागम धर्मोन्नति का हेतु है , और मूर्खों का समागम मोह जाल का हेतु है । इन वाक्यों को सदा याद रखना चाहिये ।

किञ्चोक्तलक्षणा भागवता भगवतोऽप्याधिक्येन सेवनीयाः । "मम मद्भक्तभक्तेषु प्रीतिरभ्यधिका भवेत् । तस्मान्मद्भक्तभक्ताश्च पूजनीया विशेषत" इति भगवदुक्तेः । "तस्माद्विष्णुप्रसादाय वैष्णवान् परितोषयेत् । प्रसादसुमुखो विष्णुस्तेनैव स्यान्न संशय" इति व्यासवचनात् ।'सिद्धिर्भवति वा नेति संशयोऽच्युतसेविनाम् । न संशयस्तु तद्भक्तपरिचर्य्यारतात्मनाम् ॥ केवलं भगवत्पादसेवया निर्मलं मनः । न जायते तथा नित्यंतद्भक्तचरणार्चना दति' शाण्डिल्यस्मृतेश्च । किञ्च, अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

कुञ्चिका :—पूर्वोक्तमुमुक्षूणां तज्ज्ञानयोग्यतोत्पादनाय साधनान्याह —अमानित्वमित्यादिपञ्चभिः । यत्किञ्चिद्गुणवत्तयापूज्यजनेष्वपि स्वपूज्यत्वबुद्धिर्मानस्तद्वत्त्वं मानित्वंतद्रहितत्वम-मानित्वम् । अदम्भित्वम् । धर्मित्वख्यापनायाविधिवद्धर्मले शानुष्ठानं दम्भस्तद्वत्त्वे दाम्भित्वं तद्रहितत्वम् । (अहिंसा) वाङ्मनःकायैः परपीडावर्जनम् । (क्षान्तिः) परैरपकृतेऽपि निर्विकारचित्ततया तदपराधोपेक्षा । (आर्जवम्)वाङ्मनःकायानां समत्वमकौटिल्यमितियावत (आचार्य्योपासनम्)श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम । आचार्योवेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः । मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राश्रयः शुचिः

भाषानुवादः-इतना ही नहीं अपितु पूर्वोक्त लक्षणों वाले महात्माओं की भगवान् से भी किसी अंश में अधिक सेवा करनी चाहिये । भगवान ने "मम मद्भक्त०" इस श्लोक में स्वयं कहा है कि भक्तों की सेवा करने वालों में मेरी प्रीति अधिक होवे अतः उनकी सेवा विशेष करनी चाहिये । व्यास जी ने भी यही कहा है कि विष्णु भगवान को प्रसन्न करने के लिये वैष्णवों को सन्तुष्ट बनावे,क्योंकि वैष्णवों के सन्तुष्ट होने से ही परमात्मा प्रसन्न होते हैं इसमें कुछ भी संदेह नहीं । शाण्डिल्य स्मृति में कहा है कि-- कदाचित् भगवत् सेवा के फल में संदिग्धता हो सकती है परन्तु भगवान् के भक्तों की सेवा के फल में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता । क्योंकि, केवल भगवान् के चरणों की सेवा से मन वैसा निर्मल नहीं बन सकता जैसा कि भगवद्भक्तों की नित्य चरण सेवा करनेसे होसकता है, और जैसे भगवद्भक्तों का संगम आवश्यक है वैसे ही भगवान् के कहे हुए अमानित्व

कुञ्चिका: -गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषतः। एवं लक्षणसम्पन्नो 'गुरु" रित्यभिधीयते, इति श्रुतिस्मृत्युक्तलक्षणआचार्योविवक्षित, मोक्षमार्गदर्शित्वात्। तस्योपासनं निर्मायिकतया वाङ्मनःकायैः सेवनं, शौचं-बाह्याभ्यन्तरभेदाद्द्विविधम् बाह्यं मृज्जलादिना कायेन्द्रियशुद्धिः। आभ्यन्तरम्-मनोमलरागादीनां विवेकेनापनयनम्। (स्थैर्य्यम्) परमार्थोपाये प्रवृत्तस्य विघ्नबाहुल्ये प्राप्तेऽपि उद्वेगाभावेन तदपरित्यज्यावस्थानम्। (आत्मविनिग्रहः) देहेन्द्रियसङ्घस्य शास्त्रविरुद्धासत्प्रवृत्तेर्निवर्त्तनम् इत्यर्थः।

इन्द्रियार्थेष्विति। (इन्द्रियार्थेषु) शब्दादिविषयेषु दोषदृष्ट्युत्पादनेन रागराहित्यं वैराग्यम्। अनहङ्कारः-अभिजनजातिक्रियाभिरात्मन उत्कृष्टत्वाभिमानो गर्वोऽहंकारस्तद्राहित्यम् (जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्) प्राकृतशरीरवत्त्वे जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखादिरूपदोषाणामवर्जनीयत्वात्तदनुदर्शनं पुनः पुनरनुसन्धानम्। "न ह वा शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं 'प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इतिश्रुतेरित्यर्थः।

असक्तिरिति। ममेदमितिप्रीत्यतिशयः सक्तिस्तद्राहित्यमसक्तिः। अनात्मनि तत्सम्बन्धिषु चात्माभिमानोऽभिष्वङ्गस्तद्राहित्यमनभिष्वङ्गः। असक्त्यनभिष्वङ्गयोर्विषयमाह-पुत्रदारगृहादिष्विति। आदिना वित्तपशुभृत्यप्रभृतिसम्बन्धिग्रहणं, सर्वत्र स्नेहवर्जनमित्यर्थः। इष्टानिष्टयोरुपपत्तिषु नित्यं सर्वदा समचित्तत्वं हर्षविषादाभाव-इत्यर्थः। मयीति। मयि भगवति वासुदेवे सर्वेश्वरे, अनन्ययोगेन न मत्तोऽन्यो देवादिरूपास्यः फलं वास्तीत्यनन्यसम्बन्धेनेत्यर्थः।

भक्तिः सेवनात्मिका वह्यान्तःकरणवृत्तिः। अव्यभिचारिणी केनचित्कामान्तरेण पुरुषान्तरेण वा प्रतिहर्तुमशक्या, दृढेत्यर्थः। तथा विविक्तो भगवदाराधनविरोधिजनसङ्गवर्जितो देशस्तत्सेवनशीलत्वं विविक्तदेशसेवित्वम्। जनानां भगवद्भक्तिज्ञानहीनानां विषयप्रवणानां संसदि समाजे अरतिः प्रीत्यभावः असङ्गतिरित्यर्थः। सतां सङ्गतिस्तु कर्त्तव्येति। अध्यात्मेति। आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तं ज्ञानमध्यात्मज्ञानमनात्मविविक्तात्मयाथा-

भा०-आदि साधन नियमों का भी पालनकरना अत्यावश्यक है। वे इस प्रकार हैं, अमानिता अदम्भिता, अहिंसा, क्षांति, सरलता, आचार्यों की सेवा, पवित्रता बुद्धि की निश्चलता मन का अवरोध, विषयों में अरुचि, अहंकार का न होना, संसार में जन्म, मरण, बुढापा, रोग आदि दुःख रूपी दोषों का सर्वदा देखना, और स्त्री पुत्र घर आदिक में निर्ममता, प्रिय अप्रिय की उपस्थिति होने पर समान चित्त रहना,

वे० र० मञ्जूषा—मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथेति ॥ एतेषां सर्वसाधनौपयिकत्वात् पूर्वोक्तलक्षणमुमुक्षुणाऽभ्युपगन्तव्योऽमानित्वादिरिति ॥ ६ ॥

इति श्रीभगवत्पुरुषोत्तमाचार्य्यविरचितायां वेदान्तरत्नमञ्जूषायां
सिद्धान्तविवृतौ साधनसंग्रहाधारो नाम
तृतीयकोष्ठिका समाप्ता ॥ ३ ॥

कुञ्चिका—न्यज्ञानमित्यर्थः । तस्मिन्नित्यत्वं तत्रैव सदा निष्ठत्वं, तत्वज्ञानस्यार्थः प्रयोजनं निःशेषाविद्यानिवृत्तिपूर्वकं निरतिशयानन्दभगवद्भावापत्तिलक्षणोयोमोक्षस्तस्यदर्शनमालोचनम् । एतदमानित्वादिविषयकंज्ञानंज्ञायतेतत्त्वमनेनेतिज्ञानमितिप्रोक्तम् । अतोऽन्यथा उक्तादस्माद्विपरीतं यन्मानदम्भादिमत्त्वं तदज्ञानमितिप्रोक्तं ज्ञानविरोधिभूतं मुमुक्षुणा यत्नेन त्याज्यमित्यर्थः ।

भाषानुवाद:—मुझमें अनन्ययोगपूर्वक अव्यभिचारिणी भक्ति रखना अर्थात्—जैसे स्त्री अपने पति के अतिरिक्त किसी पुरुष में पति भाव करलेती है तब वह व्यभिचारिणी कहलाती है, और एक पति को ही अपना सर्वस्व सेव्य समझती है तब पतिव्रता अव्यभिचारिणी कहलाती है. उसी प्रकार मेरा भक्त यदि मुझसे अतिरिक्त किसी देव विशेष की भक्ति करने लगे तो वह व्यभिचारी भक्त कहलाता है, और जो मुझमें ही रत रहै, उस भक्त की भक्ति का नाम अव्यभिचारिणी भक्ति है। एकान्त देश में रहना जन समुदाय में विशेष प्रेम न रखना, नित्यप्रति अध्यात्मविद्या का अभ्यास करना, तत्त्व ज्ञान का विचार ये सब ज्ञान के साधन हैं इनसे विपरीत मान, दम्भ आदि सभी अज्ञान के साधन हैं। ये सभी साधनाओं में उपयोगी हैं अतः मुमुक्षु को चाहिये कि इन अमानिता आदि को अवश्य अपनावे।

तृतीयकोष्ठिकाया भाषाटीका समाप्ता।

वे० र० मञ्जूषा—एवं तावत् पूर्वस्मिन् प्रकरणे साधनकदम्बः संग्रहेण निरूपितः। इदानीमत्र फलविवक्षया सर्वशास्त्रार्थं संगृह्णन् पर्वप्रतिपादितमर्थं सङ्ग्रहेण संस्मारयति, अल्पबुद्धीनामुपकारार्थं भगवान् ग्रन्थकारः।

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च, कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः ॥ १० ॥

उपास्यरूपमित्यादि। इमे पञ्चाप्यर्थाः साधुभिर्ज्ञेया इत्यन्वयः। तत्रोपास्यस्य भगवतःश्रीपुरुषोत्तमस्य रूपं स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तापरिसङ्ख्येययावदात्मवृत्ति सर्वज्ञादि-वात्सल्य कारुण्यसौशील्यादि-कल्याणगुणाश्रयत्वं सर्वशरण्यत्वं जगज्जन्मादिकारणत्वं शास्त्रयोनित्वं मोक्षप्रदातृत्वं मुक्तप्राप्यत्वं सर्वोपास्यत्वं

कुञ्चिका:—प्रागुक्तार्थमनूद्याग्रिमश्लोकमवतारयति—एवं तावदिति। श्लोकं योजयति—इम इत्यादिना। सार्वज्ञ्यादिवात्सल्यादीनामर्थः। प्रागुपदर्शितः।

भाषानुवाद:—इस प्रकार पूर्व प्रकरण में साधन कदम्ब संक्षिप्त रूप से कहा गया है, अब यहाँ फल को विवक्षा होने से सम्पूर्ण शास्त्रीय अर्थ को थोड़े में ही संचित करते हुए अल्प बुद्धि वालों के उपकारार्थ भगवान् ग्रन्थकार श्रीआद्याचार्य पूर्वोक्तियों का संक्षिप्त रूपसे "उपास्यरूप" इस श्लोक के द्वारा स्मरण कराते हैं।

साधुजनों को इस श्लोक में कही हुई पाँचों वस्तुओं को जान लेना परम आवश्यक है। उनमें से उपास्यदेव भगवान श्रीपुरुषोत्तम "स्वाभाविक अचिन्त्य, अपरिसंख्येययावदात्मवृत्ति सार्वज्ञ्यादि, वात्सल्य, कारुण्य, सौशील्य, आदिक अनन्त काल्याणरूप गुणों के आश्रय हैं, एवं शरणागतों को अभय देने वाले, इस विचित्र जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले, केवल शास्त्र के द्वारा ही जानने योग्य, मोक्ष प्रदान करने वाले, मुक्तों की प्राप्ति के स्थान, समस्त भक्तों के एक उपास्य, और समस्त जगत् के नियन्ता अत एव विश्वात्मा तथा अतिशयसाम्यशून्य महिमारूप ऐश्वर्य वाले, एवञ्च अनन्त प्रशस्य प्रकाशरूप निरतिशय मृदुता किशोरता, सुन्दरता आदि दिव्य गुणों का स्थान और योगियों के ध्यान करने योग्य दिव्य मङ्गल विग्रह वाले हैं. यह सब वर्णन "स्वभावतोऽपास्त" इस चतुर्थ श्लोक की व्याख्यामें करदिया गया। यह पाँचों ज्ञेय वस्तुओं में मुख्य ज्ञेय वस्तु है ॥ १ ॥

वे० र० मञ्जूषा —सर्वनियन्तृत्वं विश्वात्मत्वम् अतिशयसाम्यनर्हमहिमैश्वर्य्यत्वम् अनन्तानवद्यप्रकाशात्मकनिरतिशयमार्दवयौवनसौन्दर्यादिदिव्यगुणनिलय-योगिध्येयदिव्यमङ्गलविग्रहवत्त्वञ्चेति स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमित्यादिना प्रतिपादितम् ॥ १ ॥ तदुपासकस्येति। तस्य भगवत उपासको यो जीवात्मकदम्बस्तस्य,रूपमितिशेषः। देहेन्द्रियमनःप्राणधीभ्यो विलक्षणत्वंज्ञानस्वरूपत्वे सति ज्ञानाश्रयत्वं, श्रीभगवदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिकत्वं, प्रतिक्षेत्राभिन्नमणुपरिमाणकत्वं भगवत्प्रपन्नत्वादि तदप्युक्तम् ज्ञानस्वरूपमित्यादिना ॥ २ ॥ कृपाफलमिति भगवत्कृपायाः फलं मोक्षलक्षणं सर्वकर्मध्वंसाभाव पूर्वकसमस्त निःशेषाविद्यानिवृत्यात्मकपरिपूर्ण यावदात्मभाविब्रह्मस्वरूपादिविषयकानुभूति सन्ततिर्मुक्तिरिति तदेवभगवद्भावापत्तिसायुज्यसाम्यादिशब्दैरभिधीयते। आह चैवं श्रीपराशरः—'निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा। भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मतेति।' परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति श्रुतेः ॥ ३ ॥ भक्तिरस इति भक्तेःरसः प्रेमानन्दः,फलरूपा भक्तिरिति यावत्।

भाषानुवाद-दूसरी जानने योग्य वस्तु पूर्वोक्त लक्षणों वाले भगवान के उपासक स्वरूप है-जोकि देह, इन्द्रिय, मन, प्राण बुद्धि इन सब जड पदार्थों से विलक्षण और ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञान का आश्रय, भगवान् के अधीन, अपनी स्वरूप, स्थिति, प्रवृत्ति, रखने वाला, प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न, अणु परिमाण तथा भगवत्प्रपत्ति—का आश्रय है। यह भी "ज्ञानस्वरूप" इस प्रथम श्लोक की व्याख्या में वर्णन कर दिया गया है ॥ २ ॥

तीसरी वस्तु भगवान की कृपा का फल है जोकि मोक्ष रूप है शास्त्र में इस वस्तु का ऐसा लक्षण किया है कि —'सम्पूर्ण कर्मों के ध्वंसरूप अभाव पूर्वक समस्त अविद्याओं की अच्छी भांति निवृत्ति हो जाने पर, जब तक आत्मा रहै तब तक परिपूर्ण रूप से परमात्मा के स्वरूप गुण लीला आदि विषयों की अनुभव-धारा ही मुक्ति है। इसी को भगवद्भावापत्ति तथा सायुज्य साम्य आदि शब्दों से भी कहा है, ।

यही आशय श्रीपराशर ऋषि ने प्रकट किया है, कि —जिस आह्लाद से बढ़ कर जगत में और दूसरा सुख न हो, ऐसे लक्षण वाली भगवत्प्राप्ति ही सर्वथा के लिये संसार दुःख से छुड़ाने वाली निश्चित महौषधि है।

वे० र० मञ्जूषाः—तथा पाञ्चरात्रे—मनोगतिरविच्छिन्ना हरिप्रेमपरिप्लुता। अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशं करोति। यदा भक्तिरसः, भक्त्या रस्यतेऽनुभूयते इति श्रीभगवत्साक्षात्कारानुभवो भक्तिरेनांदर्शयति भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति श्रुतेः। भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेव विधोऽर्जुन इति गानाच्च। उपलक्षणञ्चैतत्, सर्वोपायानां ज्ञानभक्तिप्रपत्त्यादिरूपाणामिति यावत्। अनेन भगवद्भावापत्तिलक्षणमोक्षप्राप्तिक्रमो विवक्षितः। तथाहि प्रथमं जायमाने पुंसि भगवत्कृपाकटाक्षास्ततो जन्मनैव सात्त्विको भूत्वा मुमुक्षुः स्यात्। तथा च नारायणीये—जायमानं हि पुरुषं पश्येन्मधुसूदनः। सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः। पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मारुद्रोऽथवापुनः। रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतमिति॥

कुञ्चिकाः—निरस्तेति श्लोकार्थः प्रागुदर्शितः। परं ज्योतिरिति श्रुत्यर्थस्तु परं चेतनाज्जीवाद् चेतनाच्च पदार्थाद्विलक्षणं ज्योतिः सर्वावभासकमंशिस्वरूपं जीवः, उप समीपे सम्यक्-प्राप्य गाढान्धकारावृतं चक्षुर्यथा स्वासाधारणं वस्त्राभरणादिविषयं प्रकाशक वमलभमानं सत् सदैव तमसानावृतं भास्करमुपसम्पद्य स्वेन स्वासाधारणेन स्वविषयप्रकाशकत्वावाच्छिन्नेन रूपेण निष्पद्यते। तथादेहेन्द्रियादिविलक्षणेन स्वानन्दसम्पन्नेन ज्ञानस्वरूपेण निष्पद्यत इति।

उक्तार्थं पाञ्चरात्रप्रमाणेन द्रढयति—पाञ्चरात्रेति। प्रकारान्तरेण व्याख्यानान्तरमाह यदेति। उपलक्षणं नाम स्वबोधकत्वेसति स्वेतरबोधकत्वम्। 'एतत्" भक्तिरस इति। सर्वेषां साधनानां भगवत्प्रसाद एव हेतुरित्यर्थः। भगवत्कृपातः क्रमेण मुक्तिरित्याह अनेनेति। कृपाफलमिति प्रदर्शनेन। प्राप्तिक्रमं दर्शयति—तथा हीत्यादिना।

भाषानुवादः—श्रुति ने भी यही तात्पर्य्य प्रकट किया है—कि—परम ज्योति को सम्पादन करने पर अपने वास्तविक रूप से सम्पन्न बनता है।

चौथी जानने योग्य वस्तु भक्ति का प्रेमानन्दरूप रस अर्थात् फलरूपा भक्ति है। नारद पाञ्चरात्र में कहा है कि, भगवान के प्रेम में सनी हुई, अभिसन्धि रहित—निरन्तर रहने वाली मन की गति ही विष्णु भगवान् को वशीभूत करने वाली भक्ति भगवती है।

अथवा भक्तिरस का यह भी आशय हो सकता है, कि भक्ति के ही द्वारा जिसका रस प्राप्त हो, वह भगवान् का साक्षात्कार रूप अनुभव भी भक्तिरस कहा जाता है,

वे० र० मञ्जूषा—मुमुक्षायां च सत्यां तत्साधने यतते । ततः कर्मज्ञानादिसाधनेनाप्याराधितः पुरुषोत्तमः प्रसीदति । परभक्तिपरज्ञानयोरेकतरं व्याजीकृत्य आत्मानं दर्शयति तस्मै मुमुक्षवे । ततः श्रीभगवत्साक्षात्कारानुभवेन तद्भावापन्नो भवतीत संक्षेपः । ज्ञानभक्तिमतामेव भगवत्प्रेष्ठत्वेन तत्प्रसादजन्यसाक्षात्कारेण मोक्षभागित्वमिति भावः । तथा च गीयते भगवता—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त-एकभक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रिय इति ॥ शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् मे प्रियो नर इत्यादि ॥ यस्य देवे परा भक्तिरिति

कुञ्चिका:- भगवदवलोकितः पुमान सात्त्विकगुणसम्पन्नो भूत्वा ततः मुमुक्षुर्भवति मोक्षसाधने यतमानस्तेनाराधितः भगवान वासुदेवः प्रसन्नः परभक्तिपरज्ञानयोरन्यतरं व्याजीकृत्य स्वसाक्षात्कारमनुभावयति तस्मै निरुक्ताधिकारिणे । ततः स श्रीपुरुषोत्तमस्वरूप-लीलामाधुर्यसौन्दर्यानुभवेन तद्भावापन्नो भवति । अमुमर्थंमानेन दर्शयति—यथा च नारायणीयेति । ज्ञानिभक्तयोरेव वासुदेव प्रेष्ठत्वेनाधिक्यं श्रीमुखवचनेन व्यवस्थापयति—तथा चेत्यादिना ॥

भाषानुवाद:- क्योंकि श्रुति भगवती कहती है कि—भक्ति ही परमात्मा का दर्शन कराती है, कारण, प्रभु भक्ति के वश में हैं, अत एव भक्ति ही प्रशंसनीय है ।

स्वयं भगवान ने भी कहाहै कि हे अर्जुन ! मैं अनन्य भक्ति से ही ज्ञात हो सकता हूँ । इस कथन में कर्म, ज्ञान भक्ति प्रपत्ति इन सभी उपायों का उपलक्षण-रूपेण संग्रह मान लेना चाहिये ।

यह सब भगवद्भावापत्तिरूप मुक्ति के प्राप्ति का क्रम कहा गया है- वह यह है कि जायमान पुरुषपर सर्वप्रथम यदि आनन्दकन्द श्रीनन्दनन्दन की कृपा का कटाक्ष गिर जाय तो वह पुरुष सात्त्विक बन कर मुमुक्षु बनजाता है । यह कथन नारायण उपनिषत् में परिपुष्ट किया गया है कि जन्म समय जिस पुरुष पर मधुसूदन को दृष्टि पड़ती है वह सात्त्विक बन मोक्षार्थ का चिन्तन करता है और ब्रह्मा या रुद्र की दृष्टि गिरने पर क्रमशः रजोगुणी एवं तमोगुणी चित्तवाला बनता है ।

मुमुक्षा होने पर ही मुक्ति के साधनों में प्रवृत्त होता है. फिर कर्म ज्ञान आदि साधनों से आराधना करने पर पुरुषोत्तम भगवान् प्रसन्न होते है, पराभक्ति एवं पर ज्ञान इन दोनों मे

श्रुतेः । स एव भगवत्प्रसादविषयः । कुर्वतस्तो प्रसन्नोऽहं भक्तिमव्यभिचारिणीमिति स्मरणात् । तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । तत्प्रसादात् परां

कुञ्चिका :—तेषामिति । तेषां चतुर्विधानां मध्ये ज्ञानी तत्त्वज्ञानवान्विशिष्यते सर्वोत्कृष्टो भवतीत्यर्थः । कुतः । यतो नित्ययुक्तः मयि भगवति सदाऽविच्छेदेनावेशितचेताः ।

एकभक्तिरिति । देवतान्तरसाधनान्तरफलान्तरसम्बन्धान्तरनिरासेन सर्वदेवसाधनफलसम्बन्धरूपएकस्मिन भगवति मय्येबमद्विषयिकैव भक्तिरर्चनवन्दनकीर्त्तनध्यानादिभजनं यस्य सः । हि यस्माज्ज्ञानिनोऽहमत्यर्थं प्रियः, अनवधिकप्रीतिविषय इत्यर्थः । सर्वारम्भ इति । स्तुतिनिन्दाप्रयुक्तयोर्मानावमानयोस्तत्कल्पितयोर्मित्रारिपक्षयोरात्मनस्तत्स्पर्शाभावात समचितःसर्वानैहिकामुष्मिकानर्थानारम्भान् क्रियाकलापान्परित्यक्तुंशीलमस्येतिसर्वारम्भपरित्यागी य एवम्भूतः स गुणातीत उच्यत इत्यर्थः । शुभाशुभेति । शुभाशुभसाधनकर्म त्यक्तुं शीलमस्य तथा एवम्भूतो यो भक्तिमान्स मे प्रियः ॥ १७ ॥

भाषानुवाद—से किसी एक के वहाने से ही मुमुक्षु को भगवान् अपना साक्षात्कार कराते हैं, और जब भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है तब वह भगवद्भावापन्न अर्थात मुक्त बनजाता है,यह मुक्तिका संक्षिप्त क्रम है । सारांश यह है कि भगवान् के प्रिय होनेसे ज्ञानी भक्तों को ही भगवत्कृपा से उनके साक्षात्कार द्वारा मुक्ति प्राप्त हो सकती है ।

गीता में कई स्थलों में भगवान् ने इस आशय को अभिव्यक्त किया है कि 'सर्व प्रकार के भक्तों में से जो सदा मुझमें लवलीन रहने वाला अनन्य ज्ञानी भक्त है वही प्रशंसनीय है । ज्ञानी भक्त को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और मेरे को वह अत्यन्त प्रिय है । ज्ञानी भक्त तो मेरी आत्मा ही है । मेरी भक्ति के अतिरिक्त सम्पूर्ण आरम्भों को त्याग देने वाला मेरा भक्त मुझको अत्यन्त प्रिय है । जो पुरुष सम्पूर्ण शुभाशुभ को छोड़ कर मेरी भक्ति करता है वही मेरा प्रिय है , इत्यादि ॥ २ ॥

'जिसकी परमात्मा में परा भक्ति हो उसी को भगवत्सम्बन्धी गाथा कहनी चाहिये" यह श्वेताश्वतर श्रुति भी उपरोक्त गीता वाक्यों काही समर्थन करती है । अत एव भक्त ही भगवान की कृपा का पात्र समझना चाहिये । स्मृतियों में भगवान् की स्पष्ट उक्ति है कि "मेरी अव्यभिचारिणी भक्ति करनेवाले ! तुझपर मैं प्रसन्न हूँ । हे भारत ! सर्व प्रकार से उसी अन्तर्यामी प्रभु की शरण जाओ ।

वे० र० मञ्जूषा—शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतमिति ॥ सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययमिति ॥ यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम् ॥ तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्तेसर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति श्रुतिस्मृतिभ्यः । एतच्च श्रीनिवासाचार्य्यचरणैः श्रीवेदान्तपारिजातसौरभभाष्ये निगदभाषितं, नात्र विस्तार्य्यते ॥ ४ ॥ अथैतदाप्तेर्विरोधिनो रूपमिति । एतस्य श्रीरमाकान्तस्य भगवतः प्राप्तेर्विरोधिनो रूपं,विरोधिद्विविधम् । सामान्यविशेषभेदात् । तत्र विशेषा उच्यन्ते । आत्मस्वरूपान्यथाभावदार्ढ्यहेतुत्वात् ॥

कुञ्चिकाः—यमेवैष इति । एष परमात्मा यमुपासकं वृणुते तेन लभ्यस्तेन वरणीयेन प्राप्य इति । प्रीतिरूपापन्नभगवदुपासनस्य भगवत्प्राप्तिद्वारा भगवत्प्राप्तिहेतुत्वम् ।

तस्यैष इति । तादृशस्योपासकस्यैष आत्मा स्वात्मानं प्रकाशयति स्वानुभवमुत्पादयतीत्यर्थः । तमक्रतुमिति । तं तादृशं परमात्मानम् । अक्रतुः काम्यकर्मादिरहितो धातुः धारकस्य परमात्मनः प्रसादादात्मनो महिमानं महत्त्वसम्पादकं स्वसार्वज्ञ्यादिगुणाविर्भावहेतुभूतं परमात्मानं यदा पश्यति, तदा वीतशोको भवतीत्यर्थः । भिद्यत इति । हृदयस्यान्तःकरणस्य,हृत्स्थानमयत इति व्युत्पत्त्या हृदयशब्देन जीवस्य वा ग्रन्थयः रागद्वेषादयः । ब्रह्मज्ञानेन सार्वज्ञ्ये सिद्धे सर्वविषयकाः संशया नश्यन्ति । अस्य च प्रारब्धव्यतिरिक्तानि पूर्वाण्यनेकभावार्जितानि कर्माणि च नश्यन्ति । नाशो नाम कर्मणां फलजननशक्तिविनाशः ।

भाषानुवादः—उसी प्रभु की प्रसन्नता से परम शान्ति और अविनाशी पद को प्राप्त होओगे । यदि मेरे आश्रित होकर सदा सब प्रकार के कर्मों को भी करता रहै तो भी मेरी कृपा से अविकारी अविनाशी पद को प्राप्त होजाता है ।

इसी प्रकार कठोपनिषत् आदि की श्रुतियों में भी भगवत्कृपा को ही भगवत्प्राप्ति का हेतु वतलाया है । जिसको प्रभु चाहते हैं, उसी को भगवान् का साक्षात्कार होता है क्योंकि भगवान् अपने भक्त को ही अपना अलौकिक स्वरूप दिखाते हैं । परमात्मा की प्रसन्नता से ही ईश्वर की असंदिग्ध महिमा का साक्षात्कार होता है जिससे कि समस्त

वे० र० मञ्जूषा:—तत्र तावत् स्वस्वरूपज्ञाने विरोधिनो ह्यात्माज्ञानद्वारा भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धको देहेन्द्रियमनोबुद्धिष्वनात्मस्वात्मत्माऽध्यवसायः। भगवन्तं-गुरुं चर्ते ह्यात्मनोऽन्यपारतन्त्र्याभिमानः। आत्मनो भगवदीयत्वेऽसंभावनादि। श्रुतिस्मृत्यात्मकभगवदीयाज्ञोपेक्षा। अन्यदेवतार्चनवन्दननमस्कारादि। असच्छास्त्राभिलाषा। आत्मस्वातन्त्र्यभावनम्। अहङ्कारममकारभावदाढर्यं चेत्येवमादयः। तथाच 'असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। ताँस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ नचेदवेदीन्महती विनष्टि रित्यादिश्रुतेः'।

कुञ्चिका:—परे ऽवरे यस्मात्स परावरः। सर्वोत्कृष्टा अपि ब्रह्मादयो यस्मान्निकृष्टा इत्यर्थः यदेति। यस्मिन् काले पश्यो ब्रह्मदर्शी रुक्मवर्णं देदीप्यमानम। मङ्गलविग्रहयुक्तं जगदीशितारं तत्कर्तारं ब्रह्मयोनिं चतुर्मुखस्य कारणं पुरुषशब्दनिर्दिष्टं वासुदेवं पश्यति तदा पुण्यपापे निरस्य निरस्तप्रकृतिलेपः सन् ब्रह्मणा परमं साधर्म्यमुपैतीत्यर्थः।

भाषानुवादः शाक दूर होजाते हैं। जब परमात्म-तत्व का साक्षात्कार होजाता है तब हृदय की समस्त ग्रंथियाँ खुल जाती हैं, और सब प्रकार के सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, कर्म वासना क्षीण हो जाती है। जब साधक सुवर्णस्वरूप ब्रह्मयोनि कर्ता पुरुष ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है तब समस्त पाप पुण्यों के बन्धनों से रहित एवं निष्कल्मषहो भगवद्भावापत्ति रूप परम समत्व को प्राप्त हो जाता है।

यह विषय श्रीवेदान्तपारिजातसौरभ के भाष्य (वेदान्त कौस्तुभ) मे श्री श्रीनिवासाचार्य जी नें अच्छी प्रकार से वर्णन किया है, अतः यहाँ संक्षिप्तरूप से ही लिखा गया है।

५ वीं जान ने योग्य वस्तु "भगवत्प्राप्ति के विरोधी का रूप है।' विरोधी दो प्रकार के होते हैं, पहिला सामान्य और दूसरा अविशेष। इन दोनों में से आत्मस्वरूप के विरुद्ध भाव की दृढ़ता का हेतु होने से प्रथम विशेषविरोधीभाव दिखाये जाते हैं।

जैसे कि—

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्मवस्तुओं में आत्मभाव का निश्चय रखना। अपने को भगवान और गुरुदेव के अतिरिक्त अन्यव्यक्तियों के भी अधीन समझना। मैं भगवान् का सेवक हूँ इस प्रकार की भावना में असम्भावना रखना। भगवान् की

वे० र० मञ्जूषाः—'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा' इत्यादिस्मृतेश्च ॥ १ ॥ किञ्च भगवति देवतान्तर-साम्यभावः। ब्रह्मादिदेवतान्तरवर्गे परत्वबुद्धिः। श्रीभगवदवतारेषु मानुष्यतिर्य्यक्त्वादिभावः। भगवदर्चाविग्रहेषु श्रीशालिग्रामादिषु पाषाणत्वौ मयत्वानी-

कुञ्चिका—श्री श्रीकान्तपदाम्भोजं न वा वृन्दारवन्दितम्। गुरूंश्च ज्ञाततत्त्वार्थान्मोहान्धत्य-पनुत्तये ॥ १ ॥ कुञ्जधामगतैःपूर्वं गुरुवर्यैर्विनिर्मिता। चतुर्थकोष्ठकेऽपूर्णा कुञ्चिका पूर्यतेमया ॥ २ ॥

ननु अवान्तरधर्मप्रकारकजिज्ञासाविशेष्यकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति सामान्य-धर्मप्रकारकज्ञानस्य कारणत्वेन प्रथमं सामान्यविरोधिस्वरूपे प्रदर्शनीये विशेषविरोधि-स्वरूपं किमित्युपन्यस्यते, इति चेदत्र समाधत्ते—आत्मस्वरूपेति। आत्मस्वरूप यान्यथा भावदार्ढ्यं = अतथात्वेन प्रतीतिदृढतायां हेतुत्वात, विशेष विरोधनामिति शेषः। तत्रेति। 'विरोधिनः' इत्यस्य 'इत्येवमादयः' इत्येतेनान्वयः। आत्मेति आत्मज्ञानेति पाठेतुआत्मज्ञान द्वारा जायमाना या भगवत्प्राप्तिस्तस्याः प्रतिबन्धक इत्यर्थः। अत्र सापेक्षत्वेऽपि गम-कत्वात्समासः। सापेक्षत्वं च विशेषणस्य विशेष्यांशे नित्यसाकांक्षत्वम्। तच्च सम्बन्ध-विषयकोत्थिताकांक्षाप्रयोजकत्वम्।

आज्ञारूप श्रुति स्मृतियों के वचनों की उपेक्षा करना। भगवान के अतिरिक्त क्षुद्रदेवों की पूजा एवं नमनादि क्रिया करना, कुत्सित ग्रन्थों के पढ़ने में रुचि होना, अपने को सब प्रकार स्वतन्त्र मानना, अहंता और ममता की जड़ को जमाना। ये भावनायें अपने स्वरूप ज्ञान की विरोधिनी हैं एवं अपने ज्ञान के द्वारा भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धिका हैं। ईशावास्योपनिषत् में कहा है कि—अज्ञान अर्थात् अनित्य में नित्यत्व और नित्य में अनित्यत्व भाव रखने वाले आत्मघाती मनुष्य इन लोकों को छोड़कर उन्हीं अन्धकार-मय नरकादि लोकों में जाते हैं। केनोपनिषत् में भी कहा गया है कि यदिमनुष्य योनिप्राप्त होने पर भी आत्मज्ञान नहीं हो तो वह महान् हानि जानना चाहिये।

इसी प्रकार स्मृतियाँ कहती हैं कि—उस आत्मघाती चौर ने कौनसा पाप नहीं किया, जो कि नित्य वस्तु में अनित्यता की दृढ़ भावना रखता है। जैसे उपरोक्त विरोधी भाव स्वस्वरूप ज्ञान के विरोधी हैं, वैसे—निम्न लिखित भाव भगवत्स्वरूप को तिरोधान करने के कारण भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक हैं।

वे० र० मञ्जूषा:—शस्त्राचेतनत्वादिभाव: । भगवदीयमन्त्रादौ शब्दसामान्यभाव: भगवदीयगाथायां लौकिकाख्यानसादृश्यकल्पना । अनन्तानवद्यस्वाभाविका। चिन्त्ययावदात्मभाविकल्याणगुणाकरं परब्रह्मणि श्रीवासुदेवे निर्गुणत्वमायिक गुणवत्त्वादिभावना चेत्यादयो भगवत्स्वरूपतिरोधानेनन तत्प्राप्तिप्रतिबन्धका: । 'यो वै स्वां देवतामतियजति परस्वायै च्यवतेन परां प्राप्नोति पापीयान् भवति तेनैवैकं विजानथ आत्मनमन्या वाचो विमुञ्चथ' इत्यादिश्रुतेः ।

कुञ्चिका:—ऽनात्मस्वात्माध्यवसायस्य दुष्परिणामं श्रुति-स्मृतिमुखेनोपन्यस्यति-तथाचेति। न चेदिति । न चेत् = यदि, अवेदीन आत्मानमिति शेष: । तर्हि महती विनष्टि: = हानि: अभूदिति शेषः ॥ अत्र विशेषविरोधिस्वरूपनिर्णये पञ्चतयी विधा प्रदर्शिष्यते । तत्र प्रथमां सप्रमाणमुक्त्वा द्वितीयामाह-किञ्चेति । भगवति देवतान्तरस्य साम्यप्रकल्पनमपि भगवत्प्राप्तिविरोधीत्यर्थः । उक्तं च —यो मोहाद्विष्णुमन्येन हीनदेवेन दुर्मति: । सायारणं-सकृद्ब्रूते सोऽन्त्यजो नान्त्यजोऽन्त्यज:, इति ।

भाषानुवाद —जैसे कि भगवान को भी दूसरे देवताओं के समान समझना । ब्रह्मादिक देवों में ही परमात्मबुद्धि रखना । भगवान् के अवतरित विग्रहों में मनुष्य, पशुआदि भावना रखना । शालिग्रामादि अर्चाविग्रहों में पत्थर एवं लोह आदि धातु भाव तथा असमर्थता और अचेतना की भावना रखना, भगवन्मन्त्रों को साधारण शब्द मानना. भगवत्कथा को लौकिक कहानियाँ समझना । स्वाभाविक अचिन्त्य-स्थायो प्रशंसनीय अनन्त सद्गुणों के समुद्र परब्रह्म श्री नन्दनन्दन में निर्गुणत्व एवं मायिकगुणवत्ता की कल्पना करना ।

श्रुति कहती हैं कि जो प्राणी अपने उपास्य परब्रह्म को छोड़कर दूसरे २ देवों का यजन करता है, वह च्युत एवं पापिष्ठ होजाता है, अतः परम गति को प्राप्त नहीं कर सकता इसलिए एक ही परमात्मदेव की आराधना करनी चाहिए, अन्य सभी वाग्जालों का परित्याग करदेना चाहिये ।

प्रजापति स्मृति में भी कहा गया है कि—हृदय में ही रहनेवाले सर्वेश्वर प्रभु श्रीनारायण को छोड़कर जो मनुष्य परमात्मबुद्धि से दूसरे देव की अर्चा करता है वह पाप भागी है । महाभारत के सप्तर्षि सम्वाद में भी यही कहा है कि—तीनों लोकों उत्पत्ति स्थितिलय करनेवाले एवं समस्त जगत को सर्व भांति विशेषतया अच्छी प्र

वे० र० मञ्जूषाः—प्रजापतिस्मृतौ—नारायणं परित्यज्य हृदिस्थं प्रभुमीश्वरम्। योऽन्यमर्चयते देवं परबुद्ध्या स पापभाक्॥ भारते च सप्तर्षिसंवादे—विष्णुं ब्रह्मण्यदेवेशं देवदेवं जनार्दनम्। त्रैलोक्यस्थितिसंहारसृष्टिहेतुं निरञ्जनम्। आधातारं विधातारं सन्धातारं जगद्गुरुम्। विहाय स भजत्यन्यं विषस्तैन्यं करोति य इत्यादि। अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भाव मजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्। मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।

कुञ्चिकाः - कल्याणगुणान्विशिनष्टि - अनन्तेति। अनन्ताः,अनवद्याः = निर्दोषा, स्वाभाविका ननु कल्पिताः यावदात्मभाविनः सकलात्मभाविनश्चे कल्याणगुणास्तेषामाकरे। परब्रह्मणि = सर्वजगदभिन्ननिमित्तोपादानभूते ब्रह्मणि॥ उक्तार्थे श्रुतिं प्रमाणयति-'यो वै, इति। स्वामात्मरूपाम्। अवियजति = यजनमतिक्रामति। परस्मायै च्यवते = देवतान्तरस्य परत्वबुद्ध्यापूजनेप्रवर्तते स परामात्मस्वरूपाम् देवतां प्राप्नोति अतः पापीयान् भवति। तेन तमेवैकमात्मानं विजानथ। अन्या वाचः देवतान्तरकथाः विमुञ्चथ इतिश्रुत्यर्थः। तृतीयां विधामवतारयति—किञ्चेति।

गुरुभक्तेरिति। गुरुभक्तिरेव सर्वविधभगवत्प्राप्त्युपायोद्गमः'यत्र २ गुरुभक्तिस्तत्र २ उपायाः, इत्यव्यभिचरितव्याप्तेः उक्तार्थे श्रुतिं प्रमाणयतियस्येति। तथा 'स्वर्गोधनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च। गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किञ्चिदपि दुर्लभमिति वाल्मीकीयेऽयोध्याकांडे जानकींप्रति रामवाक्यम् सविशेषं गुरोर्महिमानं पुष्णाति। चतुर्थी विधामवतारयति—किञ्चेति।

भाषानुवादः—धारण करने वाले निरञ्जन, जगद्गुरु, ब्रह्मण्यदेवेश देव देव जनार्दन श्रीविष्णुभगवान को छोड़ कर जो मनुष्य अन्य ही किसी को भजता है वह अपने हित की दृष्टि से विष चोरी करता है।

गीता में भी भगवान को न भजने वालों की निन्दा की गई है,कि मेरे अव्यय और अनुत्तम परमभाव को न जानने वाले मूर्ख ही मेरे मानवीय विग्रह की अवज्ञा करते हैं।

निष्फल आशा और कर्मों वाले अतिअल्पज्ञ मूर्ख,मोहने वाली राक्षसी एवं आसुरी प्रकृति का आश्रय लेते हैं।

वे० र० मञ्जूषाः—राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिता इति। यो विष्णोः प्रतिमाकारे लोहबुद्धिं करोति वा। यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरकपातिनाविति स्मृतेः, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च। यः सर्वज्ञः सर्ववित्। अनन्तकल्याणगुणात्मकोऽसावित्यादि प्रमाणानि क्रमेणात्रानुसन्धेयानि ॥ २ ॥ किञ्च, स्वदोषबाहुल्यानुसन्धानेन भगवति भारपातभिया तत्प्रपत्त्याद्युपायेलाघवकल्पना। प्रपत्तव्ये विश्वासाभवः। साधनान्तरनिष्ठा। मन्त्रान्तरपरिग्रहः। श्रीभगवन्मन्त्रजपपूजादिलक्षणकैङ्कर्य्यार्थकामान्तराभिलाषा। भगवदाज्ञापालनरूपस्वधर्माचारलक्षणपरिचर्य्यायां स्वपुरुषार्थसाधनत्वाभिमानः। श्रीभगवद्रूपे वहिर्यामिणि गुरौ मर्त्यबुद्धिः। तत्रैव गौरवखिलत्वादपश्चोपायहानिद्वारा तत्प्राप्तिप्रतिबन्धकाः। उपायनाशहेतुत्वात्। एतेषां च श्रीगुरौ गौरवविश्वासाद्यभावमूलककृतघ्नताहेतुकत्वात् सर्वेषां गुरुभक्ति

भाषानुवाद स्मृतियों में कहा है कि—जो मनुष्य भगवान् कीमूर्तिमें लोहबुद्धि और जो गुरुदेव में मनुष्यभाव रखता है, वे दोनों घोर नरक में गिरते हैं।

श्रीसर्वेश्वर प्रभु ही परात्पर परब्रह्म हैं, इस विषय में क्रमशः निम्न लिखित प्रमाण जानना। परमात्मा से अधिक अथवा उसके समान संसार में दूसरा कोई नहीं। भगवान की ज्ञान, बल, क्रिया, रूप अनन्त स्वाभाविक पराशक्ति सुनी जाती हैं। जो सामान्य एवं विशेष रूप से सब कुछ जानता है। वह परमात्मा अनन्त कल्याणकारी गुणों वाला है। (गीता, तथा श्वेताश्वतर आदि उपनिषत्) उपरोक्त दोनों प्रकार के विरोधी भावों से रहित भगवान् के भक्त को भी चाहिये कि वह—अपने अपराधों की अधिकता की चिन्ता से भगवान् पर विशेष भार पड़ने की आशङ्का कर भगवत्प्रपत्ति, आदि उपायों की लघुता की शंका उत्पन्न न करें, एवं भगवान् में अविश्वास, दूसरे साधनों में निष्ठा, वैष्णवमन्त्र ग्रहण कर दूसरे मन्त्र का परिग्रह, भगवान् के मन्त्र जप तथा पूजा आदि सेवा के द्वारा क्षुद्र फलों की कामना करना, भगवान् की आज्ञा पालनरूप अपने अपने धर्मों के आचरणों में-अपना पौरुष मानना, भगवद्रूप वहिर्यामी श्रीगुरुदेव में मनुष्य बुद्धि, इत्यादि भावनायें कदापि न करे, क्योंकि इनमें से जो अपने पापों की अधिकता एवं भगवत्सेवा को विनश्वर समझना आदि भावनायें हैं, वे साधना को नष्ट करने वाली हैं। अतः साधना को निष्फल बनाकर वे भगवत्प्राप्ति में

नाशान्नाशः । गुरुभक्तेरुपायस्य च व्याप्तेरव्यभिचारश्रवणात् । यस्य देवे परा-भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन इत्यादि-सावधारणश्रुतेः । तस्माद्गुरौ नान्यथाभाव आरोपणीयः । तथा च गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः । स हि विद्यां जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म तस्मै न द्रुह्येत्क-दाचनेति श्रुतेः । एकाक्षरप्रदातारमाचार्यं योऽवमन्यते । शुनां योनिशतं प्राप्य चाण्डालेषु प्रजायते । यो विष्णोः प्रतिमाकारे लोहबुद्धिं करोति वा । यो गुरौ मानुषं भावमुभौ नरकपातिनावित्यादिस्मृतेश्च ॥ ३ ॥ किञ्चधर्मादिवर्गे पुरुषार्थबुद्ध्या तत्प्राप्तीप्सा, भगवत्परिचर्यादिक्रियानुष्ठाने स्वस्वातन्त्र्यभावना ।

वाधाडाल देती हैं । एवं श्रीगुरुदेव में गौरव (सर्वश्रेष्ठपूज्यत्वदृष्टि) और विश्वास रखना चाहिये , यदि किसी शिष्य के चित्त में गुरुदेव का गौरव और विश्वास न हो तो उसको कृतघ्न कहते हैं , अतएव उपरोक्त गुरुदेव में मानवबुद्धि आदिक प्रतिवन्धकों से गुरु-भक्ति का नाश होता है और उससे साधक का नाश-अर्थात अधोगति होती है , कारण गुरुदेव के उपदेश से ही हरिभक्ति का अंकुर जमता है उसके विना नहीं जमता । क्योंकि गुरु भक्ति और भगवत्प्राप्ति के उपायों का सहचारी भाव है. अतएव शास्त्र कहता है कि जिसकी जैसी परमात्मा में भक्ति हो वैसी ही गुरुदेव मे हो । उसी साधक को महत्पुरुष भगवत्प्राप्ति के उपाय वतलाते हैं. अतः साधक को उचित है—गुरु को ही परागति और परब्रह्म समझे , क्योंकि गुरु ही ज्ञान का उत्पादन कराते हैं और साधक के जन्म को सार्थक बनाते हैं , इसलिये गुरु से कभी भी द्रोह न करे , और गुरु के विषय में कभी किसी प्रकार की विपरीत भावना भी न करे ।

एक अक्षर का भी वोध कराने वाले आचार्य का यदि शिष्य अपमान करे तो वह सो जन्मों तक कुत्ते की योनि में रह कर चाण्डाल योनि में जन्म धारण करता है । विष्णु भगवान की प्रतिमा में लोहवुद्धि, और गुरु में मनुष्यबुद्धि , इन दोनों भावनाओं को जो रखते हैं वे घोर नरक में गिरते हैं ।

वे० र० मञ्जूसा—यथेष्टाचारेण शास्त्रविरुद्धतयाद्धतया प्रवृत्तिश्चेत्येते फलविरोधितया भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकाः । अन्नं पान धनं वस्त्रमायुरैश्वर्य्यमास्पदम् । आपद्यपि न याचेत पूजकः पुरुषोत्तमम् । नाप्रसन्नो ददाम्येतद् याचितोऽपि दिने दिने । अयाचितोऽपि तत्सर्वं प्रसन्नो विदधाम्यहम् । याचितोऽपि सदा भक्तैर्नाहितं कारयेद्धरिः । बालमग्नौ पतन्तं तु माता किं न निवारयेत् । तस्मादभक्तिज्ञानाभ्यां फलमन्यत्कदाचन । न याचेत पुरुषो विष्णुं याचनान्नश्यति ध्रुवम् । अहममरगणार्चितेन धात्रा यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः । हरिगुरुवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः । वेदोक्तं ये परित्यज्य धर्ममन्यं प्रकुर्वते । तत्सर्वं तव दैत्येन्द्र मत्प्रसादाद् भविष्यति । यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् । तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसीत्यादिवचनेभ्यः ॥ ४ ॥

भाषानुवाद—इसी प्रकार संक्षिप्त रूपेण – धर्मादि वर्ग में पुरुषार्थ बुद्धि रख कर उनके प्राप्त करने की अभिलाषा, भगवत्प्राप्ति के साधन सेवा आदि क्रियाओं के अनुष्ठान में अपनी स्वतन्त्रता की भावना, शास्त्र से विपरीत मन मानी चेष्टा, ये तीनों फल (मुक्ति) के विरोधी, एवं भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक हैं। इसलिये खान, पान, धन, वस्त्र, आयु ऐश्वर्य आदि की याचना भगवान् से आपत्ति काल में भी भक्त न करे। भगवान् कहते है—यदि मेरी प्रसन्नता न हो तो प्रतिदिन याचना कर ने पर भी में कुछ नहीं देता, किन्तु मैं प्रसन्न हो जाऊँ तो विना ही याचना के सब कुछ देदेता हूँ।

वस्तुतः ठीक है—माता अग्नि में गिरते हुए बच्चे को क्या नहीं बचाती है ? वैसे ही भगवान् भी क्या अपने भक्तों को दुःख से मुक्त नहीं बनाते ? अवश्य सम्हालते हैं। परन्तु सर्वदा भक्तों की (अनुचित) याचना पर भी वे भक्त का अहित नहीं करते। अतः भक्तों का कर्त्तव्य है—वे भक्ति और ज्ञान के बदले भगवान् से कुछ भी न मांगें, क्योंकि याचना करने से साधना अवश्य निष्फल होजाती है। यम भी, भगवान के भक्तों का शासन नहीं कर सकता, वह स्वयं कहता है – देवगण प्रपूजित विधाता ने लोगों के हिताहित मुझको यम पद पर नियुक्त किया है, परन्तु मैं भी स्वतन्त्र नहीं हूँ। सदा भगवान् और गुरुदेव के वशीभूत रहा हूँ क्योंकि—मेरे भी विष्णु भगवान् नियन्ता हैं।

वे० र० मञ्जूषा—किञ्च देहादौ वहुकालावस्थानेच्छा,श्रीभगवतो भागवतानां चाभिजात्याद्यभिमानेन बुद्धिपूर्वकावज्ञाद्यपराधाचरणं ह्यसतां सङ्गतिश्च सद्यः साक्षात् प्रतिबन्धका निरयप्राप्तिहेतवो महता प्रयत्नेन वर्जनीयाः । नाभिनन्देत-मरणं नाभिनन्देत जीवितम् । कालमेव प्रतिक्षेत निर्वेशं भृतको यथा । प्रायशः पापकारित्वान्मृत्योरुद्विजते जनः । कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथि-मिति व्यासोक्तेः । न च मां योऽभ्यसूयति इति गीतायाम् । हरिवंशे श्रीवामनो बलिं प्रति, पुण्यं मद्द्वेषिणां यच्च मद्भक्तद्वेषिणां तथा । कथासु मम दैत्येश ! कथ्यमानासु तत्र वै । अश्रृण्वन् यो नरो गच्छेत् तस्य संवत्सरार्जितम् । यत्नेन

भाषानुवाद :—हे दैतेन्द्र ? जो वेदोक्त धर्म छोंड़ कर विपरीत कार्य—करता है वह सभी प्राणी समूह मेरी कृपा से तेरा अनुयायी होगा । जो शास्त्र विधि छोड़ कर कामादि कृत्यों में रत रहता है, वह किसी भी सिद्धि सुख तथा परागति को प्राप्त नहीं हो सकता । और शास्त्र के कहे हुए विधानों को जान कर ही कर्म करना चाहिये ।

इसी प्रकार-देहादिकों में बहुत समय तक स्थित रहने की इच्छा और भगवान् और भगवद्भक्तों में जाति के उच्चत्व नीचत्व के अभिमान से जान बूझ कर अवज्ञा आदिक अपराध , असाधुओं की संगति , ये दोनों विरोधी भावनायें भगवत्प्राप्ति में साक्षात् एवं तत्काल ही बाधा डालती हैं,अतः इनसे बड़े प्रयत्न पूर्वक बचे रहना चाहिये।

भक्त को चाहिये —सुखमय दीर्घ जीवन का और दुःखावस्था में मरण की प्राप्ति का अभिनन्दन न करे, अपितु जसे सेवक केवल निर्वेश (अपनी मजदूरी वेतन) की ही प्रतिक्षा रखता है वैसे भक्त केवल काल (भगवत्सेवा के समय) की ही प्रतीक्षा करता रहे क्योंकि प्रायः पापी पुरुष ही मृत्यु को आया हुआ जान कर उद्विग्न होता हैं । कृतकृत्य सज्जन तो प्रिय अतिथिके सदृश मृत्युका भी स्वागतही करते हैं । यह व्यास जी का कथन है । गीता में भी भगवान् ने कहा है—हे अर्जुन ! जो मैंने तुझको ज्ञान दिया है. यह मेरी निन्दा करने वाले को कभी नहीं सुनाना ।

हरिवंश पुराण में भी वामन भगवान् ने वलि राजा के प्रति कहा है —

हे दैत्येन्द्र ? जहाँ पर मेरी कथा हो रही हो वहाँ से यदि उस कथा का श्रवण न कर मेरे या मेरे भक्तों के विद्वेषी चले जाँय और किसी पुण्य कार्य का बड़े यत्न से करना आरम्भ करें और उससे उनका एक वर्ष तक जो पुण्य संचित हो वह पुण्य तुम्हें प्राप्त

महता तात तत्पुण्यं ते भविष्यतीति ॥ वनपर्वणि दुर्वासाः शिष्यान् प्रति-वृथा पापेन राजर्षेऽपराधः कृतो महान् । मास्मानधाक्षुर्दृष्ट्वैव पाण्डवाः क्रूरचक्षुषा ॥ स्मृत्वाऽनुभावं राजर्षेरम्बरीषस्य धीमतः । बिभेमि सुतरां विप्रा हरिपादाश्रयाज्जनात् ॥ पाण्डवाश्च महात्मानः सर्वे धर्मपरायणाः । सदाचाररता नित्यं वासुदेव परायणाः ॥ क्रुद्धास्ते निर्दहेयुर्वै तूलराशिमिवानलः । तत एतानदृष्ट्वैव शिष्याः शीघ्रं पलायतेति ॥ वैष्णवे प्रह्लादः—मयि दोषाऽनुबन्धोऽभूत्संस्तुतावुद्यते तव । मत्पितुस्तत्कृतं पापं देव तस्य विनश्यतु ॥ त्वयि भक्तिमतो द्वेषादघं तत्सम्भवं च यत् । त्वत्प्रसादात् प्रभो सर्वं तेन मुच्येत मे पितेति ॥ नेदंविद अनिदंविदान् समुद्दिश्येन्न सह भुञ्जीत नावसथमाविश्यादिति बह्वृचां समाम्नायः ।

कुञ्चिका—अन्यं धर्मं यथेष्टाचार प्राप्तम् ॥ पञ्चमीं विधामवतारयति—किं चेति ॥ निर्वेशं वेतनम ।

मास्मेति । अस्मान् मा धाक्षुः । क्रूरचक्षुदर्णेन चक्षुषा । आवसथम गृहम ।

हो । अर्थात् भगवान् के भक्त तथा भागवत कथा के विद्वेषियों के किये हुए पुण्य कर्मों से भी आसुरी गति प्राप्त होती है ।

भारत के वनपर्व में दुर्वासा ऋषि ने भी अपने शिष्यों के प्रति कहा है : —

हे विप्रो ! मैंने राजर्षि युधिष्ठिर का वृथा ही बड़ा भारी अपराध किया है कहीं पांण्डव अपनी क्रूरदृष्टि से हम सबों को भस्म न कर डालें । बुद्धिमान् राजर्षि अम्बरीष के प्रभाव को स्मरण कर हे विप्रो मैं निरन्तर भगवद्भक्तों से डरता रहता हूँ सदाचार रत धर्म परायण-स्वाभाविक भगवद्भक्त सभी पाण्डव कदाचित क्रुद्ध हो जावें और अग्नि जैसे रुई के ढेर को जला देता है वैसे हम सबों को कहीं भस्म न करदेवें इस लिये पाण्डवों से विनाही मिले चुपचाप सब के सब दौड़ चलिये ।

विष्णु पुराण में प्रह्लाद ने कहा है : — हे देव ! आपकी स्तुति करने के लिये उद्यत होने पर मेरे में जो मेरे पिता की दोष बुद्धि हुई , उससे जो कुछ उसका पाप बना, सब पाप नष्ट हो जावे । एवं आप में प्रीति रखने वाले भक्तों के द्वेष से जो उसका पाप हुआ है अथवा उस पाप के द्वारा जो कुछ पाप हुआ हो उन सभी पापों से मेरा पिता मुक्त हो जावे ।

कात्यायनसंहितायाम्—वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः। न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्। विष्णुरहस्ये—आलिङ्गनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम्। न सङ्गः शल्ययुक्तानां नानादेवोपसेविनाम्। अन्यत्रापि—शवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लौकायतिकनास्तिकान्। अकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा-जलमाविशेत्॥ शाण्डिल्यस्मृतौ च—मूढैः पापरतैः क्रूरैः सदागमपराङ्मुखैः॥ संवन्धं नाचरेद् भक्तो नश्यते तस्तु संगमात्॥ पितृगीते च—मा जनिष्ट स नो वंशे जातो वा द्राग्विनश्यताम्। आजन्ममरणं यस्य वासुदेवो न दैवतमिति॥ विष्णुपुराणे च—पुंसां जरामरणमौढ्यवतां वृथैव मोघाशिनामखिलशौचवहिष्कृतानाम्। तोयप्रदानपितृपिण्डनिराकृतानां संभाषणादपि नरा नरकं प्रयान्ति। पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्। हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्-मात्रेणापि नार्चयेत्। धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदाम्भिकः। वैडाल-

वैशसंवासम। लौकायतिका बौद्धविशेषाः॥ नैष्कृतिकः प्रायश्चित्ती।

ऋग्वेदीय कात्यायन संहितामें कहा है—ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह भगवान् और भगद्भक्तों के महत्त्व को न जाननेवालों अथवा उनमें श्रद्धा न रखने वालों को आत्मज्ञान की शिक्षा न देवे, एवं उनके साथ खान पान तथा एक स्थान में निवास न करे। धधकती हुई ज्वाला के पींजरे में रहना अच्छा है, किन्तु श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण-चन्द्र की भक्ति से विमुख, दुर्जनों के साथ निवास करना अच्छा नहीं।

विष्णु रहस्य में लिखा है— 'सर्प-सिंह-मगर, आदि हिंसक जन्तुओंका आलिंगन भी उतना बुरा नहीं जितना कि श्रीसर्वेश्वर की सेवा से वञ्चित रहने वाले, अनेक राजस तामस, देवों की सेवा करने वाले शल्ययुक्त पुरुषों का संग बुरा है।

और भी कहा है कि—शैव-पाशुपत एवं नास्तिक लौकायतिक, अकर्मीद्विज और शूद्रों का स्पर्श न करे, कदाचित स्पर्श होजाय तो उसे सवस्त्र स्नान करना चाहिये। शाण्डिल्य स्मृति में कहा है— पापकर्म रतमूर्ख, एवं क्रूर तथा सदा शास्त्र से विमुख-रहनेवाले पुरुषों से भक्त कोई सम्बन्ध न जोड़े, क्योंकि उनके साथ सम्बन्ध जोड़ते ही भक्ति भगवती विदा हो जाती है।

पितृ गीता में कहा गया है—जिसकी जन्म से लगा कर मृत्यु तक भी भगवान में

व्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वातिवञ्चकः । अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्साधनतत्परः शठो मिथ्याविनीतश्च वकव्रतिचरो द्विज इति ।
मूर्खाश्च पण्डितम्मन्या अधर्मा धार्मिका इव । धर्मयुक्तान् प्रबाधन्ते साधूनां
लिङ्गमाश्रिता इति शाण्डिल्यवचनादित्याद्यन्यदपि शास्त्रमत्रानुसंधेयम् ॥

भक्ति न हो ऐसा पुत्र वंश में पैदा न होवे , यदि उत्पन्न भी होजाय तो शीघ्र मर जावे ऐ
अच्छा है ।

विष्णु पुराण में कहा है—वृथा ही अन्न को नष्ट करने वाले , जरा मरण आदि
दुःखों से दुःखित होने पर भी अपनी मूढ़ता को न छोड़ने वाले,पितरों को पिण्डोदक
देने वाले और जिनका कोई एक कार्य भी पवित्रता युक्त न हो उन मनुष्यों से सम्भाषण
करने से भी नरक की प्राप्ति होती है ।

एवञ्च पाषण्डी, विपरीत कार्य करने वाले पराये धन को हड़पने वाले शठ वगुले
के सदृश स्वार्थी प्राणियों का वाणी से भी सम्मान नहीं करना चाहिये । सदा धर्म की
ओर में ढोंग फैलाने वाले, लोभी छली, ठग, को "वैडाल व्रतिक" जानना जो कि सब
ठगने वाला हिंसक हो, और हे द्विज ? नीची दृष्टि रखने वाले तथा निष्कर्मी रहते हुए
अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में तत्पर , झूंठ मूठ ही नम्रता रखने वाले शठ को वकव्रति-
चर कहते हैं ।

शाण्डिल्य स्मृति में कहा है कि—जो मूर्ख होते हुए भी अपने को पण्डित समझने वा
एवं अधर्माचरण करते हुये भी अपने को धार्मिकों के समान सूचित करने वाले साधु
की वेशभूषा को धारण करने वाले दुर्जन धार्मिक सज्जनों को वाधा पहुचाते हैं ।

इसी प्रकार भगवत्प्राप्ति के प्रतिवन्धकों का वर्णन करने वाले और भी बहुत
शास्त्रीय वाक्य हैं ।

अब भगवत्प्राप्ति के सामान्य प्रति वन्धक कहते हैं , जिनमें से पहिला तो मय
का उल्लंघन करनो है । श्रुति और स्मृतियाँ भगवान् की ही आज्ञा है , अतः उनकी आ
का पालन न करना भगवत्प्राप्ति का प्रथक वाधक है । दूसरा अपने धर्म का त्याग
तृतीय , दूसरे दूसरे वर्णों के धर्मों का आचरण करना भगवत्प्राप्ति का वाधक है ।
निम्न लिखित गीता आदि धर्म ग्रन्थों के वाक्य, इनके समर्थक हैं । यहाँ उद्धृत किये
हैं । जैसे कि अपने अपने वर्णोचित निर्धारित कर्मों का छोड़ना उचित नहीं यदि

अथ सामन्याभूता उच्यन्ते । तत्र मर्यादोल्लङ्घनं, श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इति। स्वोचितधर्मत्यागो, वर्णान्तरोचितधर्माचारश्च । नियतस्य तु संन्यासः कर्मणा नोपपद्यते । मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ऋग्यजुःसामसंज्ञ यं त्रयी वर्णावृतिर्द्विज । एतामुज्झति यो मोहात् स नग्नः पातकी स्मृतः ॥ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थस्तथाऽऽश्रमी । परिव्राट् च चतुर्थोऽत्रपञ्चमो नोपपद्यते ॥ संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु । यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग् भवेत् । नास्तिक्यपरमाश्चैव केचिद्धर्मविलोपकाः । भविष्यन्ति नरा मूढा मन्दाः पण्डितमानिनः ॥ वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम् ॥ वेदोक्तं ये परित्यज्य धर्ममन्यं प्रकुर्वते । तत्सर्वं तत्र दैत्येन्द्र मत्प्रसादाद् भविष्यतीत्यादिवाक्येभ्योऽन्वयव्यतिरेकगर्भितेभ्यः । कृतघ्नत्वं तथाह मनुः—गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा । निष्कृतिर्विहिता

मोह से उनको त्यागता है तो वह तामस त्याग कहलाता है ।

ऋग्, यजु और साम इन तीनों वेदों में कही हुई वृत्ति ही तीनों वर्णों की वृत्ति है, यदि उस वृत्ति को कोई मूढता के कारण त्याग दे तो वह नग्न एवं पातकी कहाता है । ब्रजचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ संन्यास ये चार ही आश्रम है, इनके अतिरिक्त पांचवाँ और कोई आश्रम नहीं । जो सन्ध्य नहीं करता वह अपवित्र एवं किसी भी वैदिक कार्य के करने योग्य नहीं माना जाता, क्योंकि वह जो कुछ कर्म करता है उसको उस कर्म का फल नहीं मिल सकता । धर्म का लोप (व्यतिक्रम) करने वाले मनुष्य मूर्ख और मन्द मति होनेपर पण्डितपनेका अभिमान रखने वाले ही परम नास्तिक कहावेंगे । वर्ण और आश्रमी मितधर्मा चरण करने वाले पुरुष पर ही परम पुरुष विष्णु भगवान प्रसन्न हो सकते हैं, क्यों कि इसके अतिरिक्त उनको प्रसन्न करने का दूसरा कोई सुन्दर मार्ग नहीं । वेदोक्त धर्म को छोड़ कर जो और और धर्मों का आचरण करतेहैं, हेदैत्येन्द्र ! मेरी कृपा से वह सम्पूर्ण तुम्हें प्राप्त होगा । उपरोक्त अन्वय रूप और व्यतिरेक रूप वाक्यों से मर्यादाउल्लंघन,-स्वधर्म त्याग, और परधर्माचरण इन तीनों की प्रतिबन्धकता कही गई है ।

चौथा प्रतिवन्धक 'कृतघ्नत्व है । मनुस्मृति में कृतघ्नता को बड़ा भारी पाप बतलाया है— कि गौहत्या, मदिरापान, चौरी, व्रतभंगता, आदि पापों का विद्वानों ने

सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः। सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये। तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते ॥ इत्यादि।

मानुष्यं लब्ध्वा तस्य निरर्थकं शूकराधिवत्वाशनम्।

प्रायश्चित बतलाया है परन्तु कृतघ्नता का प्राश्चित नहीं बतलाया कारण जिन हितैषी मित्रों ने सत्कार पूर्ण, आवश्यकीय कार्यों में तन मन से सहयोग प्रदान किया, उनमित्रों के प्रति जो कृतघ्न व्यक्ति प्रत्युपकार की चेष्टा नहीं करते एवं आपत्ति आदि किसी सहायोपयोगी समय में सहाय प्रदान नहीं करते, उन कृतघ्न व्यक्तियों का कहीं पर भी आदर नहीं, न जीवित अवस्था में उन्हें कोई अपनाता और न मृत्युके पश्चात् लोकान्तर में उनका कोई आदर करता - यहाँ तक कि उनके मृत शरीर को मांसाहारी हिंसक जन्तु गिद्ध कौआ आदि भी नहीं अपनाते, अर्थात् उनके मांस को मांसाहारी पशुपक्षी भी त्याज्य समझते हैं। अत एव कृतघ्नता से बचने के लिये सावधान होकर प्रयत्न करते रहना चाहिये।*

---

*सारांश यह है कि कृतघ्नता एक ऐसा प्रति बन्धक है कि जिसके रहने पर अन्याऽन्य कितने ही प्रतिबन्धक उद्भूत हो बैठते हैं। कृतघ्नता का साधारण अर्थ है— 'किये हुए उपकार को भुलादेना।' उसके दो भेद माने जासकते हैं—एक मुख्य कृतघ्नता और दूसरी गौण कृतघ्नता।' जो जड़ चेतनादि के किये हुए उपकारों को भुलादेते हैं. वह गौण अर्थात लौकिक कृतघ्नता है और जो परम पिता परमेश्वर के उपकारों को भुला देते हैं वह मुख्य कृतघ्नता कही जाती है, क्योंकि गर्भावस्था एवं बाल्यावस्था आदि संकटापन्न अवस्थाओं में जिस दयासिन्धु प्रभुने अनुपम दया करके रक्षा की, उस प्रभु के उपकारोंकोभुलादेना कितना बड़ा अपराध है? यदि उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु का साधारण जीव कुछ प्रत्युपकार नहीं कर सकें तो उपकारों की स्मृति के साथ २ उस प्रभु के नाम मात्र का तो स्मरण करते रहें। सम्भव है लौकिक कृतघ्नता का कहीं पर कुछ प्रायश्चित मिलभी जाय परन्तु ईश्वर के उपकारों की विस्मृतिरूप मुख्य कृतघ्नता का प्रायश्चित मिलना असम्भव है।

इसी मुख्य कृतघ्नता का विशद रूप से यहाँ वर्णन किया जाता है—करुणा पूर्वक प्रभु के दिये हुए मनुष्य जन्म को प्राप्त करके भी जो मनुष्य प्रभु का स्मरण नहीं करता उसका जन्म निरर्थक एवं शूकर आदि नीच योनियों के समान आत्मा को अधोगति में ही पहुंचाने वाला है।

मानुष्यं प्राप्य लोकेऽस्मिन् मूको वा बधिरोपि वा। नापक्रामति संसारात् स खलु ब्रह्महा भवेत् । वाराहे च लब्ध्वाऽत्र मानुषं देहं पञ्चभूतसमन्वितम् । मामेव न प्रपद्यन्ते ततो दुःखतरं नु किम् । नारसिंहे च । शुभमिदमुपलभ्य मानुषत्वं सुकृतशतेन वृथेन्द्रियार्थहेतोः । रचयति कुरुते न मोक्षमार्गं स दहति चन्दनमाशु भस्महेतोरिति । स्ववीर्य्याविक्रयणं च । यथा स्ववान्तमश्नाति श्वावै नित्यं स्वभूतये । एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्य्यस्योपसेवनादिति सनत्सुजातवचनात् तच्च द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात् । बाह्यं परस्त्रीगमनादि । कृष्णाजिनपरिग्राही रेतसश्चैव विक्रयी । गजच्छायान् भोक्ता च न भूयः पुरुषो भवेदित्यादि । द्वितीयं विद्यादिगुणविक्रयणम्

मनुष्य जन्म मिलने पर जो भगवन्नामों का उच्चारण नहीं करता , वह मूक है एवं जो भगवत्कथा को श्रवण नहीं करता , उसको बहिरा समझना। जो मनुष्य संसार से मुक्त होने की चेष्टा नहीं करता वह ब्रह्मघाती कहाता है । वाराह पुराण में कहा है कि लोक में पाँच भूतों वाला मानवीय शरीर प्राप्त हो जाने पर भी जो मेरी शरण में नहीं आता उसके अतिरिक्त और दुःख क्या होगा।

नृसिंहपुराण में लिखा है—सैकड़ों सुकृतों से इस सुन्दर मनुष्य शरीर को प्राप्त कर के भी जो मनुष्य इन्द्रियों के उपभोगों के लिये ही प्रयत्न करता है और मुक्ति मार्ग की ओर नहीं झुकता, वह उस मनुष्य के समान है जो कि भस्म की प्राप्ति के लिये चन्दन को जलाता हो।

पाँचवाँ प्रतिबन्धक 'स्ववीर्य विक्रयण' है—जैसे कुत्ता अपनी अभिवृद्धि के लिये अपनी वान्त को चाटता है। वैसे ही अपने वीर्य का उप सेचन करने वाले को भी अपनी वान्त का चाटने वाला ही समझना चाहिये।

वह 'स्ववीर्यविक्रयण' बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है , जिनमें

पंडितैरर्थकार्पण्यात् पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम्। आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपद्म-रणीकृत इत्यादिस्मृतेः। विद्याबलेन जिगीषया ब्राह्मणाद्यपमानम्। वादेन ब्राह्मणं जित्वा हृष्टो भवति योद्विजः। श्मशाने पादपः स स्याद् गृध्रकङ्कनिषेवितः। गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः। अरण्ये निर्जले स्थाने स भवेद् ब्रह्मराक्षस इति। भगवदाराधनात् प्राग्भक्षणपानादि। योमोहादथवाऽऽलस्यादकृत्वा देवतार्चनम्। भुङ्क्ते स याति नरकान् शूकरेष्वभिजायते। संन्यासादिविधि विहाय वैराग्यहीनैः पुरुषैर्द्वेषादिहेतुना मातृपितृपरित्यागः। पितरं मातरं वापि तथा दत्तभयं सुतम्। त्यजेच्च तरुणीं भार्यां तं विद्याद्ब्रह्मघातकम्। किंच, विद्याचौरो गुरुद्रोही वेदेश्वरविदूषकः। तएते बहुपाप्मानः सद्यो

परस्त्री गमनादि बाह्य कहाता है. शास्त्र कहता है कि—कृष्ण मृग छाला धारी यदि कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी वीर्य का विक्रय करे और गज छाया रूप स्त्रियों का उपभोग करे, वह फिर मानव शरीर को प्राप्त नहीं हो सकता। 'विद्या आदि गुणों का विक्रय करना' दूसरा स्ववीर्य विक्रयण है—जैसे अपने शरीर को वेश्या शृंगारित बना पर पुरुषों को देती है वैसे दरिद्र पीडित, अपनी वेदादि विद्या को पैसे लेकर दूसरों को विक्रय करते हैं। इत्यादि स्मृतियों में वर्णन किया गया है।

६—छटा प्रतिबन्धक—विद्यावल के द्वारा विजय की इच्छा से ब्राह्मणादि का अपमान करना है। शास्त्रमें कहाहै कि—जो विजयवाद के द्वारा ब्राह्मण को जीतकर प्रमुदित होता है। वह गृद्ध आदि मांसाहारी जंतुओं के वैठने के लिये श्मशान भूमि में वृक्ष रूप से उत्पन्न होता है। जो हुं तुं आदि कुत्सित शब्द कह कर ब्राह्मण गुरु को वाद से जीतता है, वह निर्जल वनस्थान में जाकर ब्रह्मराक्षस बनता है।

७—सातवाँ 'भगवत्सेवा से पहिले ही खान पान कर लेना' भी भगवत्प्राप्ति का प्रतिबन्धक है। जो मोह से अथवा आलस्य से देव पूजा किये बिना ही भोजन कर लेता है वह नरकों में गिरता है, फिर शूकर योनि को प्राप्त होता है।

८—विराग न होने पर भी किसी द्वेषादि के कारण से संन्यास विधि के विरुद्ध माता पिता का परित्याग करना। शास्त्र में कहा है—जो माता, पिता, पुत्र तथा तरुण स्त्री को त्यागताहै उसको ब्रह्मघाती जानना चाहिये। विद्याकी चौरी एवं गुरुसे द्रोहकरने वाले तथा वेद एवं ईश्वरकी निन्दा करनेवाले महापापी कहातेहैं,उनको शीघ्रही दण्ड देना

दण्ड्या इति श्रुतिः। परद्रोहेष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं मानसं स्मृतम्। पारुष्यमनृतं चैवपैशुन्यं चैव सर्वशः। अनिबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्। अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविध स्मृतम्। इत्यादीन्यन्यान्यप्यूहनीयानि विरोधिरूपाणि। तानि च प्रपत्तिचिन्तामणौ स्मृतानि आसुरी संपच्च। तथा च गीयते, द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च दैवो विस्तरशः प्रोक्त-आसुरं पार्थ मेशृणु। प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते। असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहैतुकम्। एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः। प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः। काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः। मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहान प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः। चिन्तामपरिमेयाँश्चप्रलयान्तामुपाश्रिताः। कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः। आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्। असौमया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी। आढ्योभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया।

चाहिये। इसी प्रकार—दूसरों से द्रोह करने का ध्यान, उनके अनिष्ट होने का मन में विचार करना, तथा झूँट (विनाहं-कारण) क्रोध करना ये तीनों, मानसिक, और कठोर असत्य तथा असम्बन्धित प्रलाप ये वाचिक, तथा मालिक के विना ही दिये किसी की वस्तुका उठालेना और वैदिक विधिके विपरीत हिंसा करना, एवं पर स्त्री गमन, ये तीनों कायिक कर्म इत्यदि इनके अतिरिक्त और भी जो भगवत्प्राप्ति के विरोधी कर्म हैं वे सब प्रपत्तिचिन्तामणि में कहे गये हैं।

उपरोक्त विरोधियों के समान एक आसुरी सम्पत्त भी महान विरोधी है, भगवान् ने गीता में कहा है हे पार्थ! इस लोक में दो प्रकार के भूतों के भाव हैं, एक आसुर और दूसरा दैव। जिन में दैव तो विस्तार पूर्वक हमनें नवमाध्याय में कह दिया है अब आसुर भाव को सुनो। जो प्रवृत्ति और निवृत्ति के रहस्य को नहीं जानते उनमें सत्य पवित्रता और सदाचारता नहीं रहती। जो जगत् को ईश्वर कृत नहीं मानते और वेदादि शास्त्रों को असत्य मानते हैं, एवं धर्माधर्मरूप व्यवस्था को प्रतिष्ठा रहित मानते हैं तथा

यच्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजाल-समावृताः । प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ । आत्मसंभाविताःस्तब्धा धनमानमदान्विताः । यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् । अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः । मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः । तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु । आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् । त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

स्त्री पुरुष रूपी मिथुन के संयोग से ही उत्पत्ति मानकर परमात्मा को कर्त्ता नहीं मानते ऐसे नास्तिक विचार वाले मूढचित, अल्प बुद्धि, उग्र (हिंसारूप) कर्म करने वाले अहित कारी जगत् के क्षय के लिये होते हैं, जोकि अपार अभिलाषा और पाषण्ड मान तथा मद से युक्त जीव मोह से असत् आग्रहों (दुराग्रहों) को ग्रहण कर अपवित्र वस्तुओं को खाते हुए प्रवृत होते हैं। वे प्रलय पर्यन्त की अपरिमित चिन्ता को करते हुए कामों के उपभोगों को ही निश्चित फल मानते हैं, सैकड़ों आशाओं के पाशों से बंधेहुए, काम क्रोध के स्थान रूप वे कामों के भोग के लिये अन्याय से धन को एकत्रित करना चाहते हैं। वे सदा यही जल्पना करते रहते हैं, कि आज मैंने इतना धन प्राप्त कर लिया है, इतने धन को फिर प्राप्त करूंगा, इतना धन हो चुका और इतना फिर हो जायेगा ।

इस शत्रु को आज मैं ने मारदिया, और दूसरे शत्रुओं को भी मारदूंगा । मैं समर्थ-भोगी सिद्ध, बलवान् . एवं सुखी. धनवान्-कुटुम्बवान हूँ। मेरे सदृश और कोई नहीं है। यज्ञ करूंगा, दान दूंगा, जिससे बड़ाई होने पर प्रमुदित होऊंगा । ऐसे अनेक प्रकार की चित्त विभ्रान्तियों वाले मोह रूपी जाल से आवृत्त,कामादि के भोगों में ही रत रहने वाले प्राणी घोर नरक में गिरते हैं। क्यों कि अपने आपकोही बड़ाई करने वाले अतएव काष्ठवत् विनम्रता रहित वे धन और मानके मदमें वे होश रहने वाले मूर्ख, ढोंग से विधिविरुद्ध यज्ञों से मेरा यजन करते हैं। और अहङ्कार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध इनके वशीभूत हो, उनकी और दूसरे सभी प्राणियों की देहों में स्थित मुझ अन्त र्यामी से द्वेष रखते हुए मेरी निन्दा करते हैं। उन क्रूर नराधम,मेरे द्वेषियों को में निरन्तर आसुरी योनियों में ही उनकी वासनानुसार पैदा करता हूं। मेरी शरण में न आने से वे मूर्ख प्रत्येक जन्म में आसुरी योनि को प्राप्त होते हुए अधम गति को प्राप्त होते हैं।

काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् । एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः । आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिमित्यादिना । अत्र च,दैवीसंपद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता इति फलसहितं संपद्द्वयमुपक्रम्य, दैवीं संपदमनूद्यासुरीं सम्पदमभिजातानामासुराणां, प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुरा इत्यादिना लक्षणं निरूप्य, ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयानित्यादिना तेषां प्रवृत्तिं चोक्त्वा, तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमानित्यादिना नित्यसंसृतिरूपाधोगतिं तत्फलं च विधाय तस्मादेतत्त्रयं त्यजेदिति तत्त्रयमूलकत्वादासुरभावस्य तत्त्यागो विधीयते श्रीमुखेनैव । अयश्च एतैर्विमुक्तः कौन्तेय इत्यनेन व्यतिरेकतया तदेव दृढीकृत्य तत्त्यागस्य श्रेयोऽर्थिनोऽधिकारित्वोपयोगिकत्वमुक्तं भवति । तस्मादत्यन्तश्रेयोविरोधित्वा-

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों आत्मा के नाशक, नरक द्वार है, अतः इनतीनों को त्याग देना चाहिये। जो मनुष्य इनतीनों नरक द्वारों से मुक्त हो आत्म कल्याण के लिये प्रयत्न करता है वह परम गति को प्राप्त कर सकता है।

उपरोक्त सन्दर्भ के मूल गीता वाक्यों में "देवी सम्पद्विमोक्षाय०" इस वाक्य से फल सहित दोनों सम्पदाओं का उपक्रम कर दैवी सम्पद् का अनुवाद किया गया है, फिर "प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च० " इत्यादि वाक्यों में आसुरी सम्पद् के अन्तर्गत प्राणियों के लक्षण बतला कर "ईहन्ते काम भोगार्थ० " इत्यादि वाक्यों से उनकी प्रवृत्ति दिखाई गई।

'तानहं द्विषतः ' इन शब्दों से आसुरी सम्पद् वालों की नित्य संसृति रूप अधोगति और उसका फल वर्णन किया गया है। "तस्मादेतन्त्रयं त्यजेत्०" इस कथन से आसुरी भाव को काम,क्रोध, लोभ मूलक कहकर उनतीनों के त्याग करने की भगवान् ने आज्ञा प्रदान की है। फिर 'एतैर्विमुक्त०' इस वाक्य से व्यतिरेकि व्याप्ति के द्वारा उसी कथन को दृढ़ बना काम क्रोधादि के त्याग की, कल्याण कामना वाले पुरुष की अधिकारिता सिद्धि होने के लिये उपयोगिता बतलाई है। इसलिये परम पुरुषार्थ का अत्यन्त विरोधी होने के कारण कल्याणेप्सु मुमुक्षुओं को चाहिये कि—वे काम, क्रोध आदि का प्रयत्न पूर्वक त्याग करें गीताके इससोलहवें अध्याय का यही तात्पर्य्य है। प्रपत्ति के छओं अङ्गों में से एक जो 'प्रतिकूल का त्याग' रूपी अंग है। वह भी उपरोक्त आसुरी सम्पत के वर्णन पर व्याख्यात होजाता है।

च्छ्रेयोर्थिभिर्मुमुक्षुभिः प्रयत्नेन त्याज्येति षोडशाध्यायस्याभिप्रायः ! अनेनैव प्रतिकूलस्य वर्जनमिति प्रपत्तेरङ्गं व्याख्यातं भवति ॥

अथ विरागो निरूप्यते । स च द्विविधः,सहेतुकोनिर्हेतुकश्चेति । तत्र स्वीयरागविषयीभूतानां निरतिशयप्रेष्ठत्वेनाभिमतानां पुत्रकलत्र वित्तैश्वर्यादिपदार्थानां वियोगेन तद्विपरीतत्वेनाभिमतानां दरिद्राणां लाभेन च हेतुना जातः सहेतुकः । स चाविवेकपूर्वकत्वाद् व्यभिचारयुक्तोऽपायशङ्काग्रस्तः । यदि श्रीभगवतो निर्हेतुकाऽपरिमितकरूणासागरस्य रमाकान्तस्य कृपाकटाक्षसहकृत श्चेत् तर्हि भगवत्परिपूर्णकृपापात्राणाम्- चानन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणामित्यादिश्रीमुखोक्तलक्षणसंपन्नानां महाभागवतानां ज्ञानवैराग्य-

अब विराग का निरूप किया जाता है । विराग दो प्रकार का होता है, जिनमें से पहिला सहेतुक और द्वतीय निर्हेतुक । जिस मनुष्य के—अपने परम प्रेमी स्नेहास्पद पुत्र, स्त्री, धन ऐश्वर्य आदि पदार्थों का वियोग होने पर एवं उनसे विरुद्ध दरिद्रता आदि कीप्राप्ति होने पर 'विराग उद्भूत होता है, वह विराग सहेतुक कहाता है । वह वैराग्य अज्ञान पूर्वक होने से व्यभिचार तथा विनष्ट होने की शंकाओं से ग्रसित रहता है । हां कदाचित् निर्हेतुक-अपरिमित करूणा के समुद्र रमानाथ भगवान् की कृपा के कटाक्ष सहित वह विराग उद्भूत हो तो वह भगवत्प्राप्ति का साधक बन सकता है । जोकि भगवान् के पूर्ण कृपा पात्रों के चित्त में होता है । भगवान् कहते हैं कि जो भक्त अनन्य भाव से मेराचिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं उनमें भी एकान्ती भक्त श्रेष्ठ हैं । जोकि कभी भी अन्य देव की आशा नहीं रखते उन निष्काम कर्म करने वालोंकीगति एक, मैं ही हूँ ।'

इत्यादि भगवान के कहे हुए लक्षणों वाले , ज्ञान और वैराग्य से भूषित,भक्ति सिन्धु में मन को डुबाये हुए महाभागवतों का संग होजाने से उनकी कृपा का पात्र बन, वह शास्त्रीय मार्ग में प्रवृत्त होता है और उसी मार्गानुसार भगवान् का भजन करता हुआ भगवद्भक्ति की परिपुष्टता होने के लिये बारम्बार प्रयत्न करता है । और तदनुकूल ही आचरण करताहै । कदाचित तदनुकूल आचरण नहींकरे तो अनिश्चित स्वभाव होनेके कारण यदि थोड़ासा भी कुसंग हो जाय तो फिर उस के गिरने की सम्भावना हो जाती है ।

भूषितानां भक्तिसागरनिमग्नमनस्कानां जातसंगस्तत्कृपाविषयो भूत्वा शास्त्रीयमार्गे प्रवृत्तस्तेन मार्गेणभगवन्तं भजँस्तद्दार्ढ्यार्थं भूयो भूयो यतते, यतते, ह्यनुतिष्ठते च तदानुकूल्यम् । अन्यथानैकान्तस्वभावत्वादसत्सङ्गेन भ्रश्यते मार्गात । द्वितीयस्तुजन्मान्तरसहस्रार्जितपुण्यपुञ्जस्यमनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये इति भगवद्वचनान्मनुष्याणां कोटिष्वपि कस्यचिदेकतमस्य जन्मसमये श्रीपुरुषोत्तमस्य कटाक्षावलोकितस्य पुरुषत्वे चाविस्तरामात्मा स हि विज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं च वदति विज्ञातं पश्यति श्वस्तनं लोकालोकौ मर्त्येनाऽमृतत्वमीप्सत्येव सम्पन्नोऽथेतरेषां पशूनामशनायापिपासा एवाभिज्ञान मिति ता एता देवताः स्रष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतँस्तमशनायापिपासाभ्या-

दूसरा निर्हेतुक विराग यह है जोकि—"हजारों मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है।" इस गीतोक्त भागवद्वाक्य के अनुसार, करोड़ों मनुष्यों में से किसी एक ही पुरुष जिसके कि हजारों जन्मों के पुण्यों का सञ्चय है और जन्म समय भगवान् के कृपा कटाक्षों द्वारा अवलोकित है , ऐसा मानव जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है, कारण ऐसे पुरुषत्व से व्याप्त होकर प्रकट होने वाला आत्मा ही विज्ञान सम्पन्न हो सकता है। और वही पुरुष विज्ञात वस्तु का कथन तथा दर्शन करता है,उपरोक्त पुरुषत्व रहित प्राणी प्रायः पशु कहाते हैं जिनको कि केवल भूख प्यास का ही ज्ञान रहता है। (इस विषय में निम्न लिखित यह एक वैदिक आख्यायिका है) संसार सिन्धु में पशुको प्राप्त हो कर देवताओं ने भूख प्यास निवृत्ति के लिये उसका अर्जन किया और बोले कि तुम हमारे आश्रय को जानो जिसमें स्थित होकर हम अन्नादि का भक्षण करते हैं। तब वह उनके लिये गौ लाया तो देवताओं ने कहा कि इससे हमारी पूर्ति नहीं हो सकती,तब वह घोड़ा लाया फिर भी उनने कहा कि इससे भी हमारी पूर्ति नहीं हो सकती, तब वह एक पुरुष लाया जिसको देख देवता प्रसन्न होकर बोले—'कि हमारा अहोभाग्य है, जोकि पुरुष प्राप्त हुआ,क्यों कि पुरुष ही जगत् में सुकृत (फलरूप) है इस सन्दर्भ का सार यही है—कि देवताओं को भी मनुष्य अत्यन्त प्रिय है। यह तो मनुष्य शरीर की उत्तमता द्योतक, श्रुति प्रमाण, हुआ। स्मृतियों में भी इसी प्रकार मनुष्य शरीर की उत्कृष्टता बतलाई है—हे सत्तम ? हजारों जन्म जन्मान्तरों के पुण्य का संचय होने से संसारमें कभी एकवार मानव शरीर मिलता है। देवता भी उन प्राणियोंके यश का गान करते हैं जो कि स्वर्ग और अपवर्ग स्थान के मार्ग को बताने वाले इस भूलोक में

मन्ववार्जत्ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिताऽन्नमदामेति। ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्नवै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति। ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं वतेति। पुरुषो वा व सुकृतिमिति। अत्र जन्मसहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम। कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्। गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे। स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्। कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते। अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते

बारम्बार मानव शरीर धारण करते हैं। क्योंकि—इस भूमि में जन्म लेकर मनुष्य स्व-कृत कर्म और उनके फलों को परात्पर ब्रह्म अनन्त श्रीविष्णु भगवान के अर्पण कर निष्कल्मष बन विष्णु लोक को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे वेदशास्त्र प्रशंसित मनुष्य शरीर धारी पुरुष के—भगवान की विक्षेपता (दूरी) न सहन होने के कारण बचपन से ही प्रवृत्ति मार्ग (गृहस्थ आदि धर्मों) में ग्लानि बुद्धि हो जाती है, अतः वह सदा भग-वत्कथा का श्रवण तथा सज्जनों का संग करता रहता है जिससे कि उसको कर्म फलों की दुखरूपता का ज्ञान हो जाता है, अर्थात् भगवद्भक्ति रहित कर्म सुख रूपी नहीं अपितु दुःखरूप ही है। और वह पुरुष अपने तथा दूसरे जीवों के विद्यमान शरीर समूह में सम्प्राप्त दुःखों का अनुभव कर एवं कर्म वशीभूत जीवों के दुःख रूप जन्म मरणादि संसृति चक्र की गति को जानने पर उसका शरीर और मन कम्पित हो जाता है। ऐसे लक्षणों वाले पुरुष के चित्त में जो विराग उद्भूत होता है वह विराग निर्हेतुक वैराग्य विवेक जन्य होने के कारण मोक्ष के उपयोगी एवं अव्यभिचरित स्वभाव (आत्मस्थिति पर्यन्त रहने वाला है।

प्राणियों को कष्ट प्रद 'दुःख' दो प्रकार के होते हैं पहिला अवस्था रूप और दूसरा ताप रूप। जिन में से पहिला दुख जिस प्रकार अनुभव किया जाता है उसका प्रकार बताते हैं—प्रथम तो पिता के मूत्र मार्ग से निकल कर माता की योनि में प्रविष्ट होना फिर गर्भ में दिनों के क्रमसे. कलल बुद्बुद, पिण्ड, काठिन्य आदि अवस्थाओं में प्राप्त होना। फिर क्रम से अंग उपअंग इन्द्रिय आदि का योग, और पश्चात् चेतनीभव (चेतनता)। उसके अनन्तर अपने अपने कर्मों के भेदानुसार एवं माता पिता के रज वीर्य को विषमता से होने वाले स्त्री पुरुष नपुंसक, इन भावों की प्राप्ति और शिर नीचे, पैर ऊपर को किये हुए तथा जरायु (जेर) में लिपटे हुए मलमूत्र के स्थान में विष्ठा

तमालयं ते त्वमलाः प्रयान्तीत्यादिश्रुतिस्मृतिश्लाघ्यतमं मानुष्यं प्राप्तस्य पुंसो विद्येपासहिष्णुतयाशैशवादेव प्रवृत्तौ ग्लानिबुद्धेः श्रवणादिपरायणस्य सत्प्रसङ्ग लब्धकथाश्रवणतः कर्मफलानां दुःखात्मनां श्रुत्वा वर्तमानशरीरेऽपि प्राप्तानि-दुःखानि स्वस्य परेषां च भूयो भूयो जगति कर्मवशीभूतानां क्षेत्रज्ञानां जन्म-मरणादिरूपचक्रभ्रमणात्मकं दुःखमनुभूय जातवेपथुशरीरमनस्कस्य मुमुक्षोर्जा-यमानो विरागो निर्हेतुकः। स च विवेकजन्यत्वान्मोक्षौपयिकोऽव्यभिचरित-स्वभावः। तत्र दुखं तावद् द्विविधम्—अवस्थारूपं, तापात्मकं चेति। आद्यं च प्रथमं हि पितृमूत्रद्वारान्निःसृत्य मातृयोनिप्रवेशः। ततो गर्भेऽनुदिनं कलल-बुद्बुदपिण्डकाठिन्यादिव्यवस्थापत्तिः। ततः क्रमेणावयवेन्द्रियादियोगस्तत-

और कृमियों के संग वास करना। फिर जन्म के समय योनि द्वार को प्राप्त हो जैसे किसी यन्त्र विशेष से पीडित फोड़े में से कृमि (कीड़ा) निकल कर गिरता है वैसे ही अत्यन्त दुःखित होने के कारण मूर्च्छित समान हो पृथ्वी पर गिरना। फिर क्रम से बाल कुमार आदि अवस्थाओं को अनुभव करते हुए मरना।

यदि पुण्यकर्मकियेहुए हों तो उसपुण्यके फल सुखको भोगकर धूमादि मार्गसे लौटकर अन्न आदि के रूप से प्रकट होता है, और यदि पाप कर्म किये हों तो मात्सर्य्य, असूया आदि दुःखों को भोग कर उसी धूम मार्ग से अन्न में आमिलता है फिर आटा,-भक्षण, आदि अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाले क्लेशों को भोगता हुआ उसी प्रकार माता पिता के रज वीर्य में मिलकर वारम्बार माता के गर्भ में प्रवेश होता है। बस इसी आने जाने को शास्त्र में संसार चक्र कहा है।

यदि अत्यन्त दुष्कर्मी हो, तो वह नरक भोग, कर श्वान, शूकर, सर्प, वृक्ष आदि योनियों को प्राप्त होता है और उन योनियों में आने वाले अपार दुःखों को भोगता रहता है। यह सब गर्भोपनिषत् में स्पष्ट कहा गया है।

दूसरा तापरूप दुःख–अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, इन भेदों से तीन प्रकार का है। उनमें आध्यत्मिक दुःख भी दो प्रकार का है। पहिला शारीरिक और दूसरा मानसिक। शिर नेत्र आदि इन्द्रियों के रोग तथा ज्वर आदि शरीर के रोग, शारीरिक दुःख कहाते हैं। और काम, क्रोध, भय, द्वेष, मोह, विषाद, शोक, असूया, अपमान, ईर्षा आदि मनो विकारों को मानसिक दुःख कहते हैं।

श्चेतनीभावः । ततः स्वकर्मवैषम्ये मातृपितृरजोरेतोवैषम्यनिरूपितस्त्रीपुरुषषण्ढभावापत्तिरर्वाक्शिरा ऊर्द्ध्वपाज्जरायुवेष्ठितो भूत्वा मलमूत्रागारेविष्ठाक्रिमिभिः सह वासः । प्रसवसमये योनिद्वारं प्राप्य यन्त्रेण पीड्यमान इव मूर्च्छितः पूतिघ्राणात् क्रमिवन्महता दुःखेन महीपतनम् । ततश्च कौमाराद्यवस्थानुभवपूर्वकमरणम् । यदि धार्मिकश्चेत्तर्हि स्वर्गं गत्वा स्वपुण्यार्जितं विषयसुखं, पापार्जितं मात्सर्यासूयादिदुःखं चानुभूय धूममार्गेण पुनरावृत्य व्रीह्यादिभावापत्तिः । ततः पेषणपाकभक्षणाद्यवस्थोद्भवक्लेशानुभवपूर्वकं पुनः पितृरेतोभावापत्तिर्भूयो भूय उक्तप्रकारेण मातृगर्भप्रवेशादि । तदेव संसारचक्रभ्रमणं शास्त्रमुखेनोच्यते । दुष्कर्म चेन्नरकादिप्राप्तिः श्वशूकरसरीसृपस्थावरादियोनिप्राप्तिस्तद्दुःखानुभूतिश्चेति गर्भोपनिषदि निपुणं प्रोक्तम् ॥

शीत, उष्ण, वायु वर्षा, पानी, बिजली आदि से होने वाला दुःख आधिभौतिक कहाता है और मृग, पक्षी, मनुष्य, राक्षस, सर्पादि से होने वाला दुःख आधिभौतिक कहाता है ।

पूर्वोक्त वैराग्य के प्रकारान्तर से दो प्रभेद और भी माने जाते हैं—पहिला जिज्ञासा से होने वाला और दूसरा शीघ्र ही उद्भूत होने वाला इनमें से पहिले (जिज्ञासोद्भवः) का सौभरि ऋषि ने वर्णन किया है कि देखो मैंने विरक्तता छोड़कर पाणिग्रहण किया, पुत्र उत्पन्न हो गये, उन को पैरों से चलते देखा । फिर यौवन अवस्था युक्त देखे और विवाह कर पुत्र-वधूओं से युक्त भी देख लिये, एवं उनकी सन्तति भी देखली, किन्तु इतने होने पर भी उनके पुत्रों के भी पुत्रों को देखने की मेरी अभिलाषा हो रही है । यदि उनके भी सन्तानों को देख लूंगा तो फिर कोई दूसरा मनोरथ उत्पन्न हो बैठेगा । यदि वह भी पूर्ण होगया तो फिर और किसी तीसरे मनोरथ प्रकट होते कौन रोक सकता है । इत्यादि अपने मानसिक भावों के वर्णन का आरम्भ कर, फिर कहा है कि जैसे काम क्रोधादि दोषों से मुक्त होकर भगवान को भजने वाला पुरुष फिर मानवीय दुःखों से दुःखित नहीं होता है । वैसे ही मैं भी सर्व जगत् के पिता, अचिंत्य स्वरूप अणु से भी सूक्ष्म अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अगम्य ईश्वरोंके भी ईश्वर, उज्वल श्यामस्वरूप श्रीविष्णु भगवान को भजूंगा और तपश्चर्या द्वारा उनकी आराधना करूगा । इत्यादि शब्दों में वर्णन किया हुआ यह वैराग्य जिज्ञासोद्भव कहाता है, कारण पुत्र पौत्रादि समस्त के त्यागने की इच्छा से यह वैराग्य प्रकट हुआ है, अतः "जिज्ञासोद्भव" यह

अथ द्वितीयं त्रिधा—आध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं चेति। तत्राद्यं द्विविधं शारीरकमानसभेदात्। तत्र शिरोऽक्षिरोगज्वरादिकम्। शारीरकं कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादशोकाऽसूयावमानेर्ष्यादिजन्यं च मानसम्। शीतोष्णवातवर्षाजलविद्युदादिसमुद्भवमाधिदैविकम्। मृगपक्षिमनुष्य-राक्षससर्पादिजन्यमाधिभौतिकमिति विवेकः। एनश्च प्रकारान्तरेण विरागो द्विधा, जिहासोद्भवः सद्योजातश्च। आद्यः सौभरिणा प्रोक्तः। पञ्चाशं गता यौवनिनश्च जाता दारैश्च संयोगगताः प्रसूता। दृष्टाः सुतास्तत्तनयप्रसूतिं द्रष्टुं पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरात्मा। द्रक्ष्यामि तेषामपि चेत् प्रसूतिं मनोरथो मे भविता ततोऽन्यः। पूर्णोऽपितत्राप्यपरस्य जन्म निवार्यते केन मनोरथस्येत्या-

इसकी संज्ञा हुई। दूसरा—जैसे राजा ययाति के चित्त में शीघ्र वैराग्य उद्भूत हुआ था। वैसे प्रकट होने वाला विराग सद्यो जात कहाता है। जैसे राजा ययाति ने कहा है कि—विषयों के उपभोगों से विषय कामना शान्त नहीं होती, अपितु जैसे घृत की आहुति देते ही अग्नि प्रज्वलित होता है। वैसे ही यह विषयों की अभिलाषा भी उनके उपभोगों से अधिकतर बढ़ती है। जिस तृष्णा का मूर्खों से त्याग नहीं हो सकता, और शरीरों के जीर्ण होने पर भी जो जीर्ण नहीं होती, उस तृष्णा को त्यागने वाला बुद्धिमान् ही सुखी हो सकता। शरीरों के जीर्ण होने पर भी धन और जीने की आशा जीर्ण नहीं होती। यद्यपि विषयों में आसक्त चित्त हो मैंने बराबर एक हजार वर्ष विषयों के उपभोग में ही व्यतीत कर दिये, किन्तु फिर भी इन विषयों में मेरी तृष्णा प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है। इस लिये अब इस तृष्णा को छोड़कर परब्रह्म में चित्त को लगाऊँगा और सुख दुःखादिक द्वन्द्वों से रहित बनूं तथा अहंता ममता छोड़कर वन उपवनों में मृगों के साथ फिरता हुआ भगवान् का स्मरण करूँगा। इत्यादि।

प्रश्न—यहाँ यह सन्देह होता है कि—उपरोक्त निर्हेतुक सहेतुक आदि साधन उपयोगी वैराग्य और साधन के अङ्ग स्वरूप भगवद्भागवतों के प्रतिकूल आचरणों का करना इत्यादि का कलियुग प्रभाव से दूषित आज कल के मनुष्यों से बनना दुष्कर है, ऐसी परिस्थिति में जब कि भगवत्प्राप्ति के कोई साधन नहीं बन सकें तो फिर कलि-युगीय प्राणियों का कल्याण कैसे हो सकेगा।

उत्तर—ये भगवत्प्राप्ति के साधन, मलीन अन्तः करणों वाले पुरुषों के लिये अवश्य ही दुष्कर हैं तथापि यथा शक्ति श्रद्धादि भावों के साथ जो कोई भगवान् का

रुस्य। यथा हि भूयः परिहीनदोषो जनस्य दुःखैर्भविता न दुःखी । सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः। सितासितं चेश्वरमीश्वराणामाराधयिष्ये तपसैव विष्णुमित्यन्तेन। द्वितीयो ययातिवत् सद्योजायमानः। तथा तेनैव गीतम्। न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते। या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। तां तृष्णां संत्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते। जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः। धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति। पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः। तथाऽप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वनुजायते। तस्मादेतामहं त्यक्त्वाब्रह्मण्याधाय मानसम्। निर्द्वन्द्वो निर्ममो भूत्वा चरिष्यामि मृगैः सहेत्यादिना। ननु वैराग्यादीनां साधनौपयिकानां प्रतिकूलवर्जनादीनां साधनाङ्गरूपाणां च दुष्करत्वात् कलिदूषितानामद्यतनानां सर्वसाधनयोगाभावेन कथं श्रेय इति चेत्। सत्यम्। साधनानामत्यन्तदुष्करत्वेऽपि तद्व्याजेन यथाशक्तिश्रद्धादिमत्तया भजतां निजाऽसाधारणस्वाभाविकाचिन्त्यकारुण्याद् दुराचारिणामप्यात्मानन्यसाधनानां स्वयमेवोक्तगुणपारवश्येनानुगृह्णात्येव श्रीपुरुषोत्तमोदीनानुकम्पिस्वभावादेव। अयं भावः। न तावत् साधनानां स्वस्वफलदाने स्वातंत्र्यम्, अपि तु भगवदायत्तप्रवृत्तिकत्वेनैव सर्वेषामपि साधनानां भगवदनुग्रहसापेक्षत्वश्रवणात्। शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष

भजन करते हैं, वे चाहें दुराचारी एवं साधन रहित भी क्यों न हों, भगवान अपनी असाधारण स्वाभाविक अचिन्त्य करुणामयी वृत्ति से उन साधना रहित पुरुषों को भी अनुग्रहीत कर ही लेते हैं जो कि प्रभु की शरण में हो जाते है। कारण श्रीपुरुषोत्तम भगवान् का शरणागतों को अपनाने का स्वभाव ही है।

तात्पर्य वह है कि—वैराग्यदिक जितने भी साधन हैं वे अपने अपने फलों को प्रदान करने के लिये स्वतन्त्र नहीं,अपितु—भगवान् की कृपाकेअनुसार फलदेतेहैं क्योंकि शास्त्र में सुना जाता है कि समस्त साधन भगवान् के अनुग्रह की अपेक्षा रखते हैं। जैसे कठोपनिषत् आदि में कहा गया है कि—श्रवण मनन करने वालों में भी बहुत से

वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैषआत्मा वृणुते तनुं स्वामित्यन्वयव्यतिरेकश्रुतिभ्यः।

किञ्च। न हि भगवतो ह्यनन्यभक्तानां पापादिकर्मनिराकरणस्य भारत्वे नाशक्यत्वम्। अनन्ताविचिन्त्यस्वाभाविकयावदात्मवृत्तिसर्वशक्तियोगात्। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेति श्रुतेः। ब्रह्मा स्वयम्भूश्चतुराननो वा रुद्रस्त्रिनेत्रस्त्रिपुरान्तको वा। इन्द्रो महेन्द्रः सुरनायको वा त्रातुं न शक्ता युधि रामवध्यम्। पृथिव्यां राक्षसान् सर्वान् पिशाचांश्च स दानवान्। अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर इत्यन्वयव्यतिरेक

साधक उस श्रीसर्वेश्वर प्रभु का साक्षात्कार नहीं कर पाते। यह आत्मा प्रवचन (कथा-भाषण आदि) से अथवा मेधा (प्रशंसनीय धारणा शक्ति) तथा अधिकाधिक श्रवणादिकों से भी प्राप्य नहीं। किन्तु जिस प्राणी पर भगवान स्वयं कृपा करते हैं उसीको अपनी दिव्य अलौकिक सर्व सद्गुणमयी मनोहर मूर्ति की झांकी कराते हैं। इत्यादि।

भगवान् अनन्त, अविचिन्त्य, स्वाभाविक सर्वदा रहने वाली सम्पूर्ण शक्तियों से सम्पन्न है, श्रुति कहती हैं कि—इस परमात्मा की अनेक प्रकार की पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं। जैसे ज्ञानरूप, बलरूप एवं क्रियारूप इत्यादि सभी शक्तियां स्वाभाविकी हैं। अतएव सर्वविध समर्थ होने के कारण श्रीसर्वेश्वर प्रभु अपने अनन्य भक्तों के भारी से भारी पाप कर्मों का भी सहज ही में निराकरण कर सकते हैं। उनके लिये कोई भी कार्य अशक्य नहीं है। वे जिसको नष्ट करना चाहें, उसको कोई भी नही बचा सकता।

बाल्मीकीय रामायण में लिखा है कि—स्वयभू चतुरानन ब्रह्मा और त्रिनयन-त्रिपुर हर रुद्र (शंकर) एवं देवताओं का स्वामी महेश इन्द्र, ये सब भी उस प्राणी को नहीं बचा सकते जिसको कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र नष्ट करना चाहते हों। पृथ्वीपर जितने भी राक्षस एवं दानवों के सहित पिशाच आदि हैं उन सबको यदि मैं मारना चाहूँ तो एक अंगुली के अग्रभाग मात्र से मार सकता हूं। इत्यादिक अन्वय रूपी और व्यतिरेक रूपी वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि भगवान समस्त असुरों को क्षणमात्र में मार सकते हैं, एवं वे जिसको मारना चाहे उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। जैसे प्रतापी असुरों को नष्ट करने में भी भगवान को कोई प्रयत्न विशेष की आवश्यकता नहीं पड़ती वैसे ही असुर रूपी काम क्रोधादिक मानसिक भावों को भी

वचनात् । कामक्रोधादीनामप्यासुरत्वाविशेषात् तद्धनने को वा प्रयास इति भावः । तस्मादनन्यशरणानां स्वीयानां केनापि बलिष्ठेन कर्मणा दुराचारित्वेऽपि निरतिशयकारुण्यक्षमावात्सल्यादिगुणवशीभूतो गोविन्दस्तद्गुणानां पोषणार्थं मातृपितृमित्रपत्यादिवत् सर्वापराधकदम्बं सोढ्वा तान् वृणोत्येव । सर्वं सम्बन्धयोगात् । त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव । त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव । पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देवसोढुमित्यादिवचनात् । दुराचारानुग्राह्यत्वं स्वयमेव गीतम् । अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः । क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति

विनष्ट करने में उन्हें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है । अतः अपने अनन्य शरणागत भक्तों में यदि किसी बलिष्ठ पाप कर्म से दुराचारता आ भी जाय तो भी निरतिशय करुणा, क्षमा, वात्सल्य आदि गुणों के वश भगवान् श्री सर्वेश्वर अपने उन गुणों की पुष्टी के लिये, माता, पिता मित्र, पति आदि के समान स्वभक्तों के सम्पूर्ण अपराधों के समूहों को सहन कर उनको अपना ही लेते हैं । क्यों कि हे प्रभो ! मेरे तो तुम हो माता पिता और बन्धु, सखा, एवं द्रव्य तथा विद्या हो । हे देव ! मेरे तो आप ही सबकुछ हो । हे प्रभो जैसे पिता पुत्र के, मित्र, अपने मित्र के तथा प्रिय अपनी प्रिया के अपराधों को सहन करलेते हैं वैसे ही मेरे भी अपराध आपको सहन करना चाहिये । इन वाक्यों में भगवान को सर्व सम्बन्धी कहा है । दुराचारियों पर भी अनुग्रह करने की स्वयं भगवान् ने प्रतिज्ञा की है—कि यदि दुराचारीभी अनन्यभावसे मेरा भजनकरता हो तो उसको साधु ही मानना चाहिये, कारण उसने यह शुभ निश्चय करलिया है कि प्रभु भजन से ही मेरा कल्याण है । हे कौन्तेय मेरा भक्त कभी विनष्टता (अधोगति) को प्राप्त नहीं होता वह शीघ्र ही धर्मात्मा बनकर वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर लेता है, यह तुम निश्चय जानो । यहाँ उपरोक्त भाव वाले गीता के श्लोकों में आये हुए 'अपिचेत्' शब्द का अर्थ सम्भावना है । अर्थात् अनन्य भक्तों में दुराचारता का होना ही असम्भव है ।

दुराचार शब्द के दो अर्थ हैं एक तो यह कि—वैदिकाचार विरोधी. किसी जन्मान्तर के बलीय पाप कर्म से अन्त्यज आदि योनियों में उद्भूत होने वाले शरीर को

निगच्छति । कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति । आस्यार्थः । अपि-चेदिति । अपि, अनन्यभक्तानां दुराचारत्वासम्भव एवेति सम्भावनापरोऽयम्—अपिचेच्छब्दः । चेद्यदि केन चिज्जन्मान्तरीयेण बलीयसा कर्मणा वैदिकाचार विरोधिनाऽन्त्यजादिसमुद्भवं शरीरं प्रापित उत्तमाधिकारार्हकुलजन्माऽपि दुःस-ङ्गादिबलिष्ठकर्मणा भगवदीयापचारात्मकपापेन सत्संप्रदायोक्ताचारप्रतिबन्धन-केन वर्णाश्रमादिधर्मात्पातितो वा दुराचारशब्दवाच्यः । उभयथापि संप्राप्त-वैदिकाचारानर्ह इति यावत् । न तु उत्तमाधिकारार्होऽपि यथेष्टाचारेण वर्तमा-नोऽत्र विवक्षितः । तस्यासुरकोटिसन्निविष्टत्वात् । यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिमिति निषेधस्मरणात् । तथाप्यनन्यभाग् मां भजते इति । अन्यसाधनान्यप्रयोजनान्यसम्बन्धशून्यः ।

प्राप्त होना । दूसरा यह है कि—उत्तम अधिकारों के योग्य कुल में जन्म धारण कर फिर भी भगवान के अपचार रूपी पाप, जो कि सत्सम्प्रदायोचित आचार में प्रतिबन्धकता है एसे किसी बलिष्ठ दु संगादि–कर्म से वर्ण और आश्रम आदि धर्म से पतित होजाना ।

उक्त दोनों ही प्रकार के अर्थों का तात्पर्य—'सम्प्राप्त वैदिक आचारा की अयोग्यता के द्योतन करने में है । किन्तु उत्तम अधिकारोंके योग्य पुरुष को यथेष्ट आच-रण करने में दुराचार शब्द का तात्पर्य नहीं माना जासकता, कारण जो शास्त्र विधि को त्याग कर यथेष्ट आचरण करता है वह सिद्ध, सुख, एवं परम गति को प्राप्त नहीं हो सकता ।' इत्यादि वाक्यों में उत्तम अधिकारों के योग्य व्यक्ति का यथेष्ट आचरण करना निषेध किया गया है । यदि वह यथेष्ट आचरण करे तो उसे असुर ही समझना चाहिये ।

भगवान् कहते हैं कि– उपरोक्त नीचकुलीन शरीर प्राप्त, अथवा वर्णाश्रमादि धर्मों से च्युत, इन दोनों लक्षणों वाली दुराचरता युक्त होते हुए भी वह अनन्य भाव से अर्थात् मेरे से अतिरिक्त दूसरा कोई साधन एवं प्रयोजन, तथा सम्बन्ध न मान कर मेरे को भजता है इस कारण से वह साधु ही है ।

क्योंकि वह मेरी आज्ञाओं के अनुसार मेरे को भजता है । वे आज्ञायें तथा प्रतिज्ञायें, निम्नलिखित प्रकार से विभिन्न-विभिन्न गीता आदि शास्त्रों में व्यक्त हुई हैं । जैसे कि मेरे ही में मनलगाओ, मेरी ही भक्ति तथा मेरा ही भजन और मेरे को ही

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेकं शरणं व्रज । तेषामहं समुद्धर्त्तामृत्युसंसारसागरात् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता। अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते। यो मद्भक्तः स मे प्रियः।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता इति मदुक्तप्रकारेण सर्व साधनं सर्वयोगक्षेमकर्त्तार मुक्तप्राप्यं तद्भोग्यं सर्वसंबन्धाश्रयं मुमुक्षुध्येयं मां निश्चित्य सर्वात्मना भजते सेवते स साधुरेव मन्तव्यः। एकान्तभक्त एव व्यवसितव्यः। तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः। अहमेव गतिस्तेषा-मिति भगवदुक्तयैकान्तिलक्षणसंपन्नत्वात्। तत्र हेतुमाह। सम्यग्व्यसितो हि

नमस्कार करो। एक मेरी ही शरण में आकर मेरा भजन करो। उन भक्तों का मैं मृत्यु रूपी संसार सागर से उद्धार करता हूँ। उन भक्तों को मैं बुद्धि योग प्रदान करता हूँ। जिससे कि वे मेरे को प्राप्त हो जाते हैं। अन्तर्यामी रूप से सबके भीतर रहने वाला मैं, प्रकाशरूपी ज्ञान दीपक से उन भक्तों पर अनुकम्पा करने के लिये उनके अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अन्धकार को विनष्ट कर देता हूँ। जो जन अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, एवं निन्तर, मेरे में लगे हुए रहते हैं उन भक्तों के योग और क्षेम का मैं ही निर्वाह करता हूँ। तू मेरा प्रिय है अतः मेरे को प्राप्त होगा, यह तू सत्य जान। हे कौन्तय! मेरे को प्राप्त हो कर फिर जन्म मरण के दुःख का अनुभव नहीं करता। जीव लोक में यह सब जीव समूह मेरा ही सनातन अंश है। मेरा भक्त इस प्रकार जानकर मेरे भाव(साम्य)के लिये उद्यत होता है। जो मेरा भक्त है वही मुझको प्रिय है। ज्ञानी भक्त इस प्रकार से जान कर श्रद्धाभाव पूर्वक मेरा भजन करते हैं।

भगवान् कहते हैं कि—ऐसे मेरे कथनानुसार मेरे को ही सभीप्रकार के साधन तथा सम्पूर्ण योगक्षेमों के कर्त्ता, मुक्त प्राप्य तथा मुक्तों द्वारा भोग्य रूप, सम्पूर्ण सम्बन्ध का आश्रय, और मुमुक्षुओं का ध्येय जान कर सब प्रकार से मेरा भजन पूजन जो

स इति । यतः स सम्यग्व्यवसाययुक्तः । एतदुक्तं भवति । सर्वमुमुक्षुध्येयो जगज्जन्मादिहेतुर्वेदैकप्रमाणगम्यो वेदप्रतिपाद्यो मुक्तप्राप्यो भगवाञ्छ्रीपुरुषोत्तमो रमानिवासो मदुपायोपेयसंबन्धरूपो,नान्यः कश्चित् साध्यसाधनसंबन्धवत्त्वेन मया समाश्रयणीयोऽस्ति । यद्यपि मम पापरूपकर्मणा वैदिकाधिकारयोग्यता नाभूत् , प्रत्युताधःपाताऽर्हो ह्यभवं, तथापि तेन निरतिशयदयाकारुण्यतितिक्षा वात्सल्यादिगुणवरुणालयेन भगवता स्वाऽसाधारणगुणपारवश्यान्निर्हेतुककारुण्येनैव स्वानन्यभजनार्हमानुषभावं प्रापयित्वा स्वनियम्यभूतैर्मदीयात्मशरीरेन्द्रियादिभिरात्मानं भाजयित्वा स्वदीनानुकम्पितस्वभावप्रसिद्धये मां स्वानन्य भक्ततया ख्यापयति । तस्मात्तदुपकृतिं शिरसि निधाय स एवापारकारुण्यसिन्धुः सर्वात्मना मया भजनीय इति । किञ्च सर्वेषां साधनानां देवादीनां च

करता है, उसको साधु कहना ही चाहिये । एवञ्च ऐसे भक्तों में भी, जो मेरे अतिरिक्त किसी को भी अपना पूजनीय देव नहीं समझते वे एकान्ती भक्त ही श्रेष्ठ हैं , जिनके कि सब ओर से एक मैं ही अवलम्ब हूँ ।

भगवान के इस कथन के अनुसार लक्षण होने से ऐकान्ती भक्त ही भगवान् में अनन्यता का निश्चित धारणा रख सकताहै । भगवानको भजने वाला दुराचारी भी साधु ही है—इस कथन में भक्त के अन्यन्य भाव को प्रदर्शित करने वाली भगवद्विषयिणी निश्चित धारणा ही कारण है । यहाँ ' सम्यग्व्यवसितो हि सः " इस वाक्य का तात्पर्य यह है—इस भक्त की ऐसी धारणा होजाती है कि, सभी मुमुक्षुओं द्वारा ध्यान करने योग्य , जगत की उत्पत्ति एवं स्थिति, तथा प्रलय करने वाला, वेद के द्वारा प्रतिपादित होने वाला . मुक्तों द्वारा संप्राप्य, भगवान श्री पुरुषोत्तम , रमानाथ ही मेरा उपाय तथा उपेय सम्बन्ध रूपी वस्तु है, अतः साध्य साधन सम्बन्धवत्ता रूप से और दूसरा कोई मेरा अवलम्ब नहीं है । यद्यपि मेरे किसी पापरूपी कर्म से वैदिक कर्मों का अधिकारी मैं नहीं हो सका अपितु अधः पतन के योग्य बन गया हूँ , तथापि , निरतिशय दया कारूण्य, तितक्षा, वात्सल्य आदि गुणों के सागर उसी श्रीसर्वेश्वर ने अपने असाधारण गुणों के स्वभावानुसार निर्हेतुका करुणादृष्टि से अपनी अनन्यभक्ति करने के योग्य मेरे को मनुष्य जन्म प्रदान कर, स्वनियम्य रूपी शरीर इन्द्रिय आदिकों से आत्मा को भिन्न रूपेण प्रदर्शित किया है, एवं दीनों पर अनुग्रह करने वाले अपने स्वभाव की प्रसिद्धि के

लोके विघ्नकर्तृतया प्रसिद्धानां मदुपेक्षितत्वात् ते कोपिताःसंतो यदि भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकीभूतान् विघ्नान् करिष्यन्ति,कामं कुर्वन्तु सर्वाचिन्त्यशक्त्याश्रयेण विश्वात्मना सर्वान्तर्यामिणैव सर्वविघ्ननिवृत्तिपूर्वकं स्वप्राप्तिः कारयिष्यत एव । मदीयप्रबलपापकर्मवशाद् यदि कञ्चित्कालमुपेक्षते चेत् , का क्षतिः । कालान्तरे मेरुतुल्यं मत्कर्म स्वप्राप्तिप्रतिबन्धकीभूतं परमाणुवत् कृत्वाऽवश्यमनुग्रहीष्यत्येवेति व्यवसाययुक्त इत्यर्थः। अनेन विश्वासात्मकेन दृढनिश्चयेन क्षिप्रमेव धर्मात्मा भवति। महाभागवतलक्षणसंपन्नो भवति । ततःशश्वच्छान्ति

लिये मेरे को अपना अनन्य भक्त बना लिया है। अतः उसी इष्टदेव के इस उपकार को मस्तक पर रखकर सब प्रकार से उसी प्रभु का भजन करना मेरा परम कर्तव्य है। एक तो इस प्रकार का निश्चय 'सम्यग्व्यवसाय है ।' और दूसरा यह भी है कि—भगवद्भक्ति के अतिरिक्त ससार में जितने भी साधन हैं एवं भगवान् के अतिरिक्त जितनी भी देवतायें हैं , वे सब विनाशीफल देने वाले हैं और उनमें अनेकों प्रकार की अड़चनें हैं। इसलिये हरि-भक्त उनकी उपेक्षा कर देते हैं , जिससे वे देवता भगवद्भक्त पर रुष्ट रहता है . अतः भक्तों की साधना में बाधा डाल कर भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक विघ्नों का उत्पादन कर देती हैं , उस समय अनन्य भक्त ऐसी दृढ़ता रखता है कि, ये देव चाहे जितने विघ्नडालें, मेरे इष्ट देव श्रीसर्वेश्वर अनन्त अचिन्त्य शक्तिवान् , विश्वरूप , सर्वभूतों के अन्तर्यामी हैं, अतः वेही सम्पूर्ण विघ्नों का निराकरण कर अपने चरणोंमें अवश्य ही आश्रय देंगे।

यदि मेरे किसी प्रबल पाप कर्म के कारण इष्ट देव कदाचित् कुछ काल तक मेरी उपेक्षा भी कर दें तो भी कोई हानि नहीं , कारण, कुछ समय के अनन्तर, भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक रूप मेरे उस मेरु तुल्य कर्म को भी वे ही प्रभु परमाणु के समान अदृश्य बना देंगे और अवश्य ही मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे। बस इसी विश्वास रूपी दृढ़ निश्चय से वह (वैदिक कर्मों के अयोग्य कहाने वाला) भक्त शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है, अर्थात् महा भागवतों के लक्षण उसमें आ जाते हैं। फिर तो वह वास्तविक शान्ति अर्थात् भगवद्भावापत्ति रूप मुक्ति को प्राप्त हो ही जाता है।

इस कथन को "मेरा भक्त मेरे भाव को प्राप्त होने योग्य है । बहुत से मेरे भक्त मेरे साधर्म्य को प्राप्त होगये है ।"

भगवान् कहते हैं कि हे कौन्तेय ! मेरे अनन्य भक्त के नाश (अधःपात होने)

मद्भावापत्तिलक्षणां मुक्तिं प्राप्नोति । मद्भावायोपपद्यते । मम साधर्म्यमागता इति भगवद्वचनात् । न तस्य कदापि नाशशङ्का कार्येत्याह । हे कौन्तेय त्वं प्रतिजानीहि । किं प्रतिजानीयामित्यपेक्षायामाह । न मे भक्तः प्रणश्यतीति । मम कारुण्यवात्सल्यसौहार्दक्षमादीनानुकम्पासौशील्यसर्वशरण्यत्वाद्यनन्तकल्याणगुणगणसागरस्य सत्यसंकल्पस्य निरतिशयसौन्दर्यमाधुर्यादिमूर्त्तेर्ज्ञानैश्वर्यादिषाड्गुण्यनिधेः श्रीपुरुषोत्तमस्य श्रीदामविप्रमित्रस्य गोपजननयनोत्सवस्य पार्थसारथेर्भगवतो माधवस्य भक्तोदुराचारसक्तोऽनन्यशरणः सर्वसाधनहीनोऽपि न प्रणश्यति । आत्मनोऽनन्यत्वान्न भ्रश्यते । अपि तु क्रमेण मुच्यते एवेति । तथैवोक्त श्रीसात्वते । दुराचारोऽपि सर्वाशो कृतघ्नो नास्तिकः पुरा । समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः । निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात् परमात्मनः । वैष्णवधर्मे च । अपि पापेष्वभिरता मद्भक्ताः

की कभी भी शंका नहीं करनी चाहिये । कारण तुम यह निश्चय मानलो कि—मेरे अनन्य भक्त का कदापि नाश (अधः-पतन) नहीं होता ।

(मञ्जूषाकार यहाँ भगवान के इसी उपरोक्त भाव वाले वाक्य का सोपपत्तिक विस्तृत अर्थ दिखाते हैं ।)

अर्थात्—हे अर्जुन ! कारुण्य, वात्सल्य, सौहार्द, क्षमा, दीनों पर अनुकम्पा, सौशील्य सर्व शरण्यत्व, इत्यादिक अनन्त कल्याण कारी गुणगणों के समुद्र, सत्य संकल्प निरतिशय सौंदर्य, माधूर्य गुणमयी मूर्ति, ज्ञान—ऐश्वर्य आदि छहों गुणों की निधि, श्रीदामा, सुदामा आदिका परममित्र, गापीजनों के नयनों का उत्सव बढ़ाने वाले पार्थ (तुम्हारे) सारथी मुझ श्रीपुरुषोत्तम, माधवका भक्त पूर्वोक्त दुराचारता युक्त तथा साधन रहित होने पर भी नष्ट नहीं होता , क्यों कि मेरा भक्त मेरे से अनन्य (अभिन्न) है , अतः वह कभी भी नष्ट नहीं होता , अपितु क्रमानुसार सांसारिक दुःखों से मुक्त ही होता है ।

सात्वततन्त्र में कहा है कि—यदि पहिले कोई दुराचारी , कृतघ्न , शुद्धाशुद्ध सभी पदार्थों का भक्षण करने वाला एवं नास्तिक भी हो, और पश्चात किसी सुकृत के उदय से आदि देव श्रीसर्वेश्वर के आश्रय होजाय तो उनके प्रभाव से उस प्राणी को सब प्रकार के दोषों रहित समझना चाहिये ।

पाण्डुनन्दन । मुच्यन्ते पातकैः सर्वैः पद्मपत्रमिवाम्भसा । मेरुमन्दरमात्रोऽपि राशिः पापस्य कर्मणः । केशवं वैद्यमासाद्य दुर्व्याधिरिव नश्यति । नारसिंहे च । भगवति हरावनन्यचेताः भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः । न हि शशकलुषच्छविः कदाचित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः । पुण्डरीकाख्याने च । अश्वमेधशतैरिष्ट्वा वाजपेयशतैरपि । न प्राप्नुवन्ति सुगतिं नारायणपराङ्मुखाः । ये नृशंसा दुरात्मानः पापाचाररतास्तथा । तेऽपि यान्ति परं धाम नारायणपदाश्रया इत्यन्वयव्यतिरेकवचनात् । या वै साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय इत्याद्यन्योऽपि वाक्यकदम्बोऽत्रानुसन्धेयः ॥

वैष्णव धर्म में भी यही कहा गया है कि— हे पाण्डु नन्दन ! पापों में रत रहने वाले जन भी यदि मेरी भक्ति करने लगें तो वे सम्पूर्ण पापोंसे निर्लिप्त बनजाते हैं। जैसे कि जल में रहते हुए भी कमल-जल से लिप्त नहीं होता । क्यों कि मेरु पर्वत के समान भी पापों का ढेर , केशव भगवान की ओर झुकते ही विनष्ट हो जाता है जैसे कि अच्छे वैद्य को प्राप्त होने पर दुर्व्याधि (भयंकर रोग) शान्त हो जाती है।

नृसिंहपुराण में भी यही आशय अभिव्यक्त किया गया है—जैसे शशांक चन्द्रमा कभी भी अन्धकार से पराजित नहीं होता वैसे ही मलीन वृत्तिवाला पुरुष भी यदि भगवान् में चित्त लगादे तो वह उस मलीनता से लिप्त नहीं हो सकता अपितु स्वच्छ ही बन जाता है।

पुण्डरीक आख्यान में कहा है कि—भगवान् से विमुख रहने वाले जीव यदि सैंकड़ों अश्वमेध और वाजपेय यज्ञों से भी यजन करें तो भी उस गति को प्राप्त नहीं हो सकते । किन्तु जो नृशंस (क्रूर) दुष्ट आत्मा एवं अहर्निशि पाप कर्मों में रत रहने वाले भी यदि परम पुरुष नारायण के चरण कमलों के आश्रित बनजायें तो वे अवश्य परम धाम को प्राप्त हो सकते हैं। इन अन्वय और व्यतिरेकि व्याप्ति रूपी दोनों वाक्यों में भगवान् की शरणागति ग्रहण करने से ही पुरुषार्थ प्राप्ति होना निश्चित कहागया है।

यदि नारायण के आश्रित हो जाय तो वह प्राणी उस साधन सम्पत्ति के विना भी भगवान् को प्राप्त हो सकता है,जोकि चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये आवश्यक मानी गई है , इत्यादि भावों वाले और भी बहुत से शास्त्रीय वाक्यों का यहाँ अनुसन्धान करलेना चाहिये ।

मन्दानामुपकाराय तुष्टये तत्त्वदर्शिनाम् ।
श्रीकृष्णप्रीतयेऽयं मे कृतो वेदान्त संग्रहः ॥ १ ॥

प्रसीदतु रमाकान्तो गोपी जनमनोहरः ।
करोतु जगतां श्रेयो मङ्गलायतनो हरिः ॥ २ ॥

यः श्रीनिवासोऽखिलवेदज्ञेयो न यत्स्वरूपं प्रविशन्ति तर्काः ।
यो ध्यानयोगेन विशुद्धसत्त्वैर्दृष्टो मुकुन्दोऽस्मि प्रयामि तं गुरुम् ॥ ३ ॥

हरिः ॐ तत्सदिति श्रीभगवत्पुरुषोत्तमाचार्य विरचितायां
वेदान्तरत्नमञ्जूषायां सिद्धान्तरत्नविवृत्तौ फलादि
रत्न संग्रहोनाम तुरीयः कोष्ठ ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं वेदान्तरत्न मञ्जूषाख्यो ग्रन्थः ।

वेदान्त शास्त्र में प्रवेश करने के इच्छुकवाले साधारण बुद्धिवाले जीवों के उपकारार्थ एवं तत्त्वदर्शि महानुभावों के सन्तोषार्थ भगवान सर्वेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र की प्रसन्नता के लिये यह वेदान्त संग्रह किया गया है ।

इस संग्रह से मंगलमूर्ति रमाकान्त श्रीगोपीजनवल्लभ भगवान् प्रसन्न हो और लोकों को कल्याण प्रदान करें ।

जो सम्पूर्ण वेदों के द्वारा ही जानने योग्य है, अतएव केवल तर्कों से जिसका स्वरूप नहीं जाना जा सकता, एवं जिसका विशुद्ध चित्तवाले महात्माओं ने ध्यान योग के द्वारा साक्षात्कार किया है, उस मुकुन्दरूप श्री श्रीनिवास का जिन श्रीगुरुदेव ने— साक्षात्कार किया है मैं उन गुरु चरणों (श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीविश्वाचार्यचरणों) के आश्रित हूँ ।

ॐ तत्सदिति श्री विद्याभूषण सांख्यतीर्थ श्री व्रजवल्लभ शरण वेदान्ताचार्य
विरचिता द्वितीय तृतीय चतुर्थ कोष्ठिकायां श्रीवेदान्तरत्न मञ्जूषायां-
दीपिका प्रकाश, नामक भाषाटीका समाप्ता ।